॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१११

महाकविकालिदासविरचितं

मेघदूतम्

'चन्द्रकला'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः—

आचार्य शेषराजशर्मा 'रेग्मीः'

भूतपूर्व-प्राध्यापकः
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयस्य, नेपालस्थत्रिभुवनविश्वविद्यालयस्य,
वाल्मीकिसंस्कृतमहाविद्यालयस्य च

चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला
१११

महाकविश्रीकालिदासविरचितं

मेघदूतम्

'चन्द्रकला'-संस्कृत-हिन्दी-व्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः—

आचार्य श्रीशेषराजशर्मा रेग्मीः

भूतपूर्व-प्राध्यापकः
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयस्य, नेपालस्थत्रिभुवनविश्वविद्यालयस्य,
वाल्मीकिसंस्कृतमहाविद्यालयस्य च

wan's Sri Sankaracharya Sansk
ahavidyalaya
Bharatiya ★
60 611

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२२१००१

प्रकाशक—

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे),
पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१
दूरभाष : ३२०४०४

सर्वाधिकार सुरक्षित

संस्करण २000

मूल्य { सम्पूर्ण : ६०-००
पूर्वमेघ : ३५-००
उत्तरमेघ : २५-०० }

Bhawan's Sri Sankaracharya Vidyalaya · Bharatiya Vidya
611

अन्य प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन
पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
३८ यू. ए., जवाहरनगर, बंगलो रोड
पो० बा० नं० २११३
दिल्ली ११०००७
दूरभाष : २३६३९१

*

मुद्रक
फूल प्रिण्टर्स
वाराणसी

THE

VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA

111

MEGHADŪTA

OF

KĀLIDĀSA

Edited with

'CANDRAKALA' SANSKRIT-HINDI COMMENTARIES

By

Acharya Sesharaj Sharma 'Regmi'

Former Professor

Banaras Hindu University, Tribhuvan University
and Valmiki Sanskrit Mahavidyalaya, Nepal

प्रकाशक व पुस्तक विक्रेता
खण्डेलवाल एण्ड संस
☎ (S) 443101 (R) 442100
अठखम्भा बाजार, वृन्दावन - 281121

CHOWKHA AN

© CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
(Oriental Booksellers & Publishers)
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001
Telephone : 320404

Also can be had of
CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117 Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
VARANASI 221001

*

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Jawaharnagar, Bungalow Road
DELHI 110007

उपोद्घात

महाकवि कालिदास

कविकुलगुरु कालिदास भारतके ही नहीं अपितु विश्वके स्वनामधन्य श्रेष्ठ महाकवि और उत्तम नाटककारोंमें परिगणित हैं। खण्डकाव्य, महाकाव्य और नाटक सर्वत्र ही उनकी कवित्वशक्ति पूर्णरूपसे परिपक्व दृष्टिगोचर हो रही है। इस प्रकार काव्यके इन तीनों विभागोंमें किसी देशका कोई भी कवि उनकी बराबरी नहीं कर सका, यह बात निर्विवाद है। प्रकृतिकी मनोरम मूर्तिको प्रतिफलित करनेमें और अपने प्रबन्धोंके पात्रोंके चरित्रोंका असाधारण चित्रण करनेमें महाकवि अद्वितीय हैं; इस विषयमें कोई भी उनका मुकाबला नहीं कर सकता है। उनकी लेखनीसे, उनकी कृतियोंसे भारतवर्ष और आर्यजाति गौरवान्वित है, समस्त विश्वमें आर्यसंस्कृति परम श्रद्धा और भक्तिकी आश्रय बन गई है। आर्यसंस्कृतिकी उदात्तताके प्रदर्शनमें महाकविका सर्वश्रेष्ठ स्थान है। उन्होंने सत्य, शिव और सौन्दर्यकी जो पूर्णता दरसाई है वह वर्णनातीत है। बहिर्जगत् और अन्तर्जगत्का चरम प्रदर्शन करना ही महाकविका लक्ष्य रहा था इसलिए उनपर न्यूनताका आरोपण हो ही नहीं सकता है। सहस्ररश्मिकी किरणोंसे जैसे तिमिरका आविर्भाव नहीं होता है उसी तरह कालिदासकी रचनाओंसे अशिव तत्त्वका उद्भासन नहीं हो सकता है। 'उपमा कालिदासस्य' यह कथन उपलक्षणमात्र है, वैदर्भी रीति, प्रसाद गुण और उपमा अलङ्कार इनमें महाकवि अप्रतिद्वन्द्वी हैं; इस विषयमें कुछ भी मतभेद नहीं। इनके सिवाय अर्थान्तरन्यास, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, और रूपक आदि अलङ्कारोंका प्रदर्शन करनेमें भी कालिदास अपनी सानी नहीं रखते हैं।

इनकी रचनाओंमें पर्याप्त रूपसे व्यङ्ग्य अर्थकी प्रधानता होनेसे ध्वनि आविर्भूत होकर सहृदय जनोंको मुग्ध कर देती है। साहित्यके भाव और कला ये दोनों ही पक्ष कालिदासकी लेखनीसे समुज्ज्वल रूपमें निखर उठे हैं। इनकी फडकती हुई सूक्तियाँ हृदयके अभ्यन्तर-प्रदेशमें प्रवेश कर जाती हैं, जिनसे अनिर्वचनीय आनन्दकी उपलब्धि होती है। महाकविकी सम्पूर्ण विशेषताओंपर प्रकाश डालनेके लिए एक स्वतन्त्र बृहद्ग्रन्थकी आवश्यकता है, इस कारण हम अभी सविस्तर वर्णन नहीं करेंगे। हमें बहुत ही दुःखके साथ कहना पड़ता है कि ऐसे महान् विश्वकविके विषयमें हमें जो जानकारी है वह अतिशय परिमित है।

भारतवर्ष अध्यात्मवादी राष्ट्र है, इसलिए यहाँके विद्वानोंमें लोकैषणाका भाव बहुत ही न्यून रहा इसीसे यहाँके बहुतसे महानुभावोंका परिचय उनके ग्रन्थोंसे नहीं पाया जाता है। बाणभट्ट, कल्हण और माधवाचार्य आदि कतिपय विद्वानोंको छोड़कर अनेकों भारतीय विद्वानोंका परिचय जनश्रुतिपर अवलम्बित है, जो कि पूर्णरूपमें प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती है। महाकवि कालिदासमें आत्मश्लाघाका लेशमात्र भी नहीं था, इस

बातका परिचय तथा उनकी नम्रताकी परकाष्ठा रघुवंशके अधःस्थित श्लोकोंसे जानी जाती हैं—

'क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाऽल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनाऽस्मि सागरम्॥ (१–२)
मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
पांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः॥ (१–३)
रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्।
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः॥' (१–६)

ऐसी किंवदन्ती है कि कालिदास पहले बहुत ही मूर्ख थे। राजा शारदानन्दकी विद्योत्तमा नामकी एक कुमारी, विदुषी तथा परम सुन्दरी थी। उसे अपनी विद्याका बड़ा अभिमान था, इस कारण 'जो मुझे शास्त्रार्थमें परास्त करेगा उसीके साथ मैं विवाह करूँगी' ऐसी शर्त उसने की थी। बहुतेरे विद्वान् उससे शास्त्रार्थ करने आये परन्तु विद्योत्तमाकी विद्वतासे सबके सब परास्त हो गये थे। ईर्ष्याके कारण उन लोगोंने राजकुमारीका एक महामूर्खके साथ विवाह करनेके लिए षड्यन्त्र रचनेका विचार किया वैसे मूर्खके अन्वेषणके प्रसङ्गमें उनलोगोंने किसी पेड़की डालपर बैठकर उसीको काटनेके लिए तत्पर एक मूर्खको देखा। राजकुमारीका गर्वभङ्ग करानेके लिए उसे उपयुक्त पात्र समझ कर उनलोगोंने नीचे उतरनेके लिए प्रार्थना कर उस मूर्खसे कहा—'हमलोग एक परमसुन्दरी राजकुमारीके साथ तुम्हारा विवाह करा देंगे, और अपने गुरुके तौरपर तुम्हारा परिचय देंगे, परन्तु तुम कुछ मत बोलना।' आखिर विद्वान् लोग उस मूर्खको साथमें लेकर राजकुमारीके पास गये और कहा कि—'ये हमारे गुरुदेव सकल शास्त्रोंके पारदर्शी विद्वान् हैं, परन्तु आपने अभी मौनव्रत लिया है।' तब राजकुमारी विद्योत्तमाने 'ईश्वर एक है' इस अभिप्रायसे एक अङ्गुली ऊपर उठा ली। उस मूर्खने 'यह हमारी एक आँख फोड़ने का संकेत कर रही है' ऐसा समझ कर 'हम तुम्हारी दोनों आँखें फोड़ देंगे' इस अभिप्रायसे दो अङ्गुलियाँ ऊपर उठा लीं। इसपर उन पण्डितोंने समष्टि रूपसे ऐसे तर्क वितर्क किये कि जिनसे राजकुमारीको हार माननी पड़ी। ऐसे ही प्रसङ्गको लक्ष्य कर महाकवि माघने शिशुपालवध महाकाव्यमें बलरामजीके मुखसे यह श्लोक कहलाया है—

'विरोधिवचसो मूकान्वागीशानपि कुर्वते।
जडानप्यनुलोमाऽर्थान्प्रवाचः कृतिनां गिरः॥' (२–२५)

अर्थात् विद्वान्लोग अपने विरोधी वागीशोंको भी मूक और अनुकूल मूर्खोंको भी महान् वक्ता बनाते हैं।

फलतः पण्डितोंके सामूहिक तर्कसे हार मानकर राजकुमारी विद्योत्तमाको उस मूर्खसे विवाह करना पड़ा। सुहागरातके समय एक ऊँटकी चिल्लाहट सुनाई पड़ी। राजकुमारीने अपने पतिसे 'किमिदम्?' ऐसा पूछा। तब उस मूर्खने शुद्ध उच्चारणकी असमर्थतासे

'उट्र' ऐसा उच्चारण किया। राजकुमारी पण्डितोंका षड्यन्त्रपूर्ण शाठ्य जानकर अपने दुर्भाग्यपर फूट-फूट कर रोने लगी और उसने अपने पतिको अपमानके साथ भवनसे बाहर निकाल दिया। उस मूर्खको अपनी पत्नीके व्यवहारसे इतना दुःख हुआ कि वह कालीमन्दिरमें जाकर आत्महत्या करनेके लिए उतारू हो गया। उसके जन्मान्तरके अदृष्टकी प्रबलतासे भगवती कालीने प्रसन्न होकर 'वरं ब्रूहि' ऐसा कहा। उस मूर्खने कवित्वपूर्ण विद्याकी सिद्धिके लिए प्रार्थना की। भगवतीके 'एवमस्तु' कहने पर वह तत्क्षण निखिलशास्त्रनिष्णात होकर फिर अपनी पत्नीके पास गया। भवनका द्वार बन्द था, तब उसने 'अनावृतकपाटं द्वारं देहि' (द्वार खोलो) ऐसा कहा। राजकुमारीको आश्चर्य हुआ और उसने पूछा—'**अस्ति कश्चिद्वाग्विशेषः ?**' (क्या कुछ वचनकी विशेषता है ?) पतिने अपनी पत्नीके प्रश्नात्मक वाक्यके तीन पदोंको लेकर तीन काव्योंका निर्माण किया; जैसे कि '**अस्ति**' इस क्रियापदको लेकर '**अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा**' इस प्रारम्भ चरणसे युक्त कुमारसंभव महाकाव्य, '**कश्चित्**' इन दो पदोंको लेकर '**कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारप्रमत्तः**' ऐसे प्रारम्भिक चरणसे सम्पन्न '**मेघदूत**' नामक खण्डकाव्य और **वाग्** इस पदको लेकर '**वागर्थाविव संपृक्तौ**' ऐसे आद्य चरणसे भूषित रघुवंश महाकाव्य बना डाला। कहना नहीं पड़ेगा कि राजकुमारी विद्योत्तमाके पूर्वाल्लिखित मूर्ख पति ही भगनती कालीके अनुग्रहसे 'कालिदास' नामवाले जगद्विख्यात महाकनि हो गये। यह किंवदन्ती बहुत ही प्रसिद्ध है.

कोई यह भी कहते हैं कालिदास ५०० ई० में वर्तमान सिंहल (लङ्का) के महाराज कुमारदास आश्रित थे और वे किसी वेश्याके घरमें मारे गये कालिदासकी रचनाओंका अध्ययन करनेपर इस किंवदन्तीकी निःसारता प्रतीत होती है। सत्य, शिव और सौन्दर्यका अद्वितीय प्रतिष्ठापक, आदर्शवादी तथा सरस्वतीके वरदपुत्र महाकवि कालिदासपर दुश्चरित्रताका द्योतन करनेवाली ऐसी किंवदन्ती आश्रयाऽसिद्धिसे स्वयं खण्डित हो जाती है।

कालिदासका कालनिर्णय

कालिदासके समयके विषयमें सामान्यतः चार मत प्रचलित हैं।

(१) धारा नगरीके अधीश्वर भोजका समय १००५–१०५४ (खृष्टकी ग्यारहवीं शताब्दी)।

(२) चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और समुद्रगुप्तका राज्यकाल।
(चौथी शताब्दीके शेष भागसे पाँचवीं शताब्दीके पूर्वार्धतक)।

(३) प्रख्यात ज्यौतिषी वराहमिहिरका समय (छठी शताब्दी)।

(४) नव संवत्सरके प्रवर्तक विक्रमादित्यका समय (खृष्टसे ५७ वर्ष पूर्व)।

अब हम क्रमपूर्वक पूर्वोक्त चारों मतोंकी आलोचना करते हैं।

(१) 'वल्लालसेन' नामक विद्वान्ने महाकवि कालिदासको धाराऽधीश्वर भोजराजका सभापण्डित माना है।

ऐतिहासिक दृष्टिसे इस ग्रन्थका कुछ भी मूल्य नहीं है । वल्लाल पण्डित स्वयंभू महाराज भोजके समकालिक नहीं थे, उन्होंने सुनी-सुनाई वार्तोका सङ्कलन कर इस ग्रन्थकी रचनाकी थी ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि इस ग्रन्थमें भिन्न-भिन्न समयके भारवि, दण्डी, माघ आदि कवियोंको भी भोजका सभासद् बना डाला है जो कि सर्वथा असंगत है । हम अन्य विवादोंमें न पड़कर प्रकृत विषयमें प्रकाश डालकर आगे बढ़ते हैं । ग्यारहवीं शताब्दीके भोजराजके सभासद् कालिदास होते तो छठी शताब्दीके उत्तरार्धमें विद्यमान महाराज हर्षवर्द्धनके आश्रित कविवर बाणभट्ट अपनी कृति हर्षचरितमें—

'निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु ।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ॥'

इस श्लोकसे कालिदासकी सूक्तियोंकी कैसे प्रशसा करते ? बल्लालसेन भोजके समकालिक नहीं थे, वे सोलहवीं शताब्दीके थे उन्होंने स्वयम् अन्वेषणात्मक कार्यमें व्यापृत न होकर अप्रामाणिक बात लिखी है । भोजके समयमें 'कालिदास' उपाधिवाले 'परिमल' वा 'पद्मगुप्त' नामके कवि ही भ्रमवश महाकवि कालिदास मान लिये गये हैं । इस प्रकार भोजके समयमें अभिज्ञानशाकुन्तल आदि नाटकोंके कर्ता महाकवि कालिदासकी स्थिति निर्मूल प्रतीत होती है ।

(२) कुछ विद्वानोंका कहना है कि कालिदास गुप्त वंशके राजाके आश्रित थे । यूरोपके बहुतसे प्रवीण विद्वान् इस मतका प्रतिपादन करते हैं । प्रो० लासेन, कर्नल विलफोर्ड, जेम्स प्रिन्सेप, प्रो० मैक्डोनल, प्रो० कीथ और विन्सेण्ट स्मिथ आदि विद्वानोंका कहना है कि गुप्त वंशके राजाओंके समय भारतका साहित्यसूर्य मध्याह्नके आकाशको उद्भासित कर रहा था । इसी सुख और समृद्धिके समयमें महाकवि कालिदास आविर्भूत हुए थे । उनकी रचनामें जो शान्तिमय तृप्ति और आनन्दकी धारा प्रवाहित हुई थी वह भारतके उसी सौभाग्यसमयमें संभव हो सकती है । प्रो० विन्सेण्ट स्मिथ कहते हैं कि जिस बौद्ध धर्मके प्रभावसे भारतके साथ चीनकी घनिष्ठता होकर दोनों महादेशोंकी सभ्यताओंके संमिश्रणसे जो एक नवीन सभ्यता और नवीन युगका उन्मेष हो गया था उसका पूर्ण विकास गुप्तवंशके राज्यकालसे ही हुआ है । उसी गुप्तवंशके राज्यकालमें कालिदास आविर्भूत हुए हैं । कालिदास चीनकी दानसम्पत्तिको भूल नहीं सके हैं, उन्होंने अभिज्ञानशाकुन्तलमें 'चीनांऽशुकसिव केतोः' (१-३६) इस उक्तिके द्वारा उस दानसम्पत्तिको ध्वनित किया है ।

इसी प्रकार कीथ आदि विद्वानोंने कहा है कि महाकवि कालिदासने अपने काव्यमें कई जगह प्रच्छन्न भावसे आश्रयदाता गुप्तवंशके राजाकी प्रशंसा और सङ्केतका प्रदर्शन किया है । उदाहरणके तौरपर रघुवंशमें इन्दुमतीके स्वयंवर प्रसङ्गमें सुनन्दा सबसे पहले मगधेश्वरकी प्रशंसा करती है:—

'कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम् ।
नक्षत्रताराग्रहसंकुलाऽपि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः ॥

रघुवंश (६-२२)

कहना नहीं पड़ेगा कि गुप्तवंशके राजा मगधपर शासन करते थे। इसी तरह रघुवंशके 'आसमुद्रक्षितीशानाम्' इस श्लोकमें महाकविने समुद्रगुप्तके राज्यविस्तारका संकेत किया है, **'ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः (६—२२)'** इस श्लोकांशमें महाकविने अपने आश्रयदाता चन्द्रगुप्तका, **कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम्** (५-३६)- रघुवंशके इस श्लोकांशमें महाकवि चन्द्रगुप्तके पुत्र 'कुमारगुप्त' का संकेत किया है। इस प्रकार रघुके दिग्विजयमें और मालविकाऽग्निमित्र नाटकमें अश्वमेध यज्ञमें समुद्रगुप्तके कार्यकलापकी प्रतिच्छाया दिखाई पड़ती है। उनका यह भी कहना है कि 'कुमारसम्भव' कुमारगुप्तके जन्मके उपलक्ष्यमें रचा गया है।

ऐतिहासिक प्रमाणोंकी विवेचना करते हुए उन्होंने निम्नलिखित प्रमाणोंका उल्लेख किया है—

(क) अश्वघोष कनिष्कके राज्यकालमें विद्यमान थे। कनिष्क संभवतः खृष्टकी प्रथम वा द्वितीय शताब्दीके प्रारम्भमें पञ्जाबमें राज्य करते थे। अश्वघोष और कालिदासकी रचनाओंमें कतिपय स्थलोंमें बहुत सादृश्य देखा जाता है। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

'वातायनेभ्यस्तु विनिःसृतानि परस्परायासितकुण्डलानि ।
स्त्रीणां विरेजुर्मुखपङ्कजानि सक्तानि हर्म्येष्विव पङ्कजानि ॥'

बुद्धचरित (३-१९)

राजकुमार सिद्धार्थने वनविहारके लिए राजपथमें गमन किया था उस समय उनको देखनेके लिए उत्कण्ठित स्त्रियोंके मुखका वर्णन बुद्धचरितमें इस प्रकार अश्वघोषने किया है।

इसी प्रकार महाकवि कालिदासने रघुवंशके स्वयंवर के लिए आये हुए अजको देखनेके लिए स्त्रियोंका वर्णन किया है:—

तासां मुखै रासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तरा सान्द्रकुतूहलानाम् ।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षा सहस्रपत्त्राभरणा इवाऽऽसन् ॥'

रघुवंश (७-११)

अब बुद्धचरितमें सिद्धार्थके जन्मका वर्णन देखिए–

'वाता ववुः स्पर्शसुखा मनोज्ञा दिव्यानि वासास्यवपातयन्तः ।
सूर्यः स एवाऽभ्यधिकं चकासे जज्वाल सौम्यार्चिरनीरितोऽग्निः ॥'

बुद्धचरित (१-२२)

इसी प्रकार कालिदासने कुमारसंभवमें कुमारके जन्मका वर्णन किया है—

'वाता ववुः सौख्यकराः प्रसेदुः आशाविधूम्रो हुतभुग् दिदीपे ।
जलान्यभूवन् विमलानि तत्रोत्सवेऽन्तरिक्षं प्रससाद सद्यः ॥'

(११-३७)

बुद्धचरितमें बुद्धको तपश्चर्यासे विरत करनेके लिए तत्पर मारको आकाशाऽवस्थित विशिष्ट भूत कहता है—

> ‘मोघं श्रमं नाऽर्हसि मार ! कर्तुं हिंस्रात्मतामुत्सृज गच्छ शर्म ।
> नैष त्वया कम्पयितुं हि शक्यो महागिरिर्मेरुरिवाऽनलेन ॥’
> बुद्धचरित (१६-५७)

इसी प्रकार रघुवंश में नन्दिनीको बचानेके लिए उद्यत महाराज दिलीपको मायाने उद्भावित सिंह कहता है—

> ‘अलं महीपाल ! त श्रमेण, प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् ।
> न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥’
> (२-३४)

सौन्दरनन्दमें नन्दको बुद्धके गौरव और प्रिया सुन्दरीके अनुरागसे जो दुविधा हुई थी उसे—

> “तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष, भार्याऽनुरागः पुनराचकर्ष ।
> सोऽनिश्चयान्नाऽपि ययौ न तस्थौ तरंस्तरङ्गेष्विव राजहंसः ॥’ (४-४२)

ऐसे ही कालिदासके कुमारसंभवमें ब्रह्मचारीके वेशवाले शिवजीने जब अपना स्वरूपप्रदर्शन कर गमनोन्मुख पार्वतीका ग्रहण किया, उस समय उनकी दुविधा—

> ‘तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाऽङ्गयष्टि-
> निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती ।
> मार्गाऽचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
> शैलाऽधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥’ (५-८५)

इस प्रकार प्रदर्शित की गयी है ।

ऐसे बहुतसे स्थलोंमें दोनों कवियोंकी रचनाओंमें कुछ सादृश्य पाया जाता है जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि एकने दूसरेका अनुकरण किया है। अब हमें यह विचार करना है कि किसने किसका अनुकरण किया है। नाटककार भास अश्वघोषसे अर्वाचीन हैं क्योंकि भासके नाटकोंकी प्राकृत भाषा अश्वघोषके व्यवहृत प्राकृतसे अर्वाचीन है। महाकवि कालिदास भाससे अर्वाचीन हैं, क्योंकि उन्होंने अपने मालविकाग्निमित्र नाटकमें **‘प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य कृतौ कथं बहुमानः ।’** ऐसा लिखकर भासको अपनेसे पूर्ववर्ती कवि मान लिया है। अतः कालिदासने अश्वघोषकी रचनाका अनुकरण किया यह बात स्पष्ट हो जाती है। इस स्थितिमें भासको तृतीय शताब्दीमें रक्खें तो कालिदास उनसे परवर्ती कवि माने जायेंगे। कालिदासके समयकी यही प्राचीन सीमा है।

(ख) बाणभट्टने कालिदासको सूक्तियोंकी **‘निर्गतासु न वा कस्य०’** इस पूर्वोल्लिखित पद्यसे प्रशंसाकी है। बाणभट्ट हर्षवर्धनके सभापण्डित और सातवीं शताब्दीके मध्य भागमें

थे। इस प्रकार कालिदास सातवीं शताब्दीसे पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं। द्वितीय पुलकेशीकी प्रस्तरलिपिमें कालिदास और भारवि दोनोंका इस प्रकार उल्लेख है—

‘स विजयतां रविकीर्तिः कविताऽऽश्रितकालिदासभारविकीर्तिः।’

द्वितीय पुलकेशीका समय ६३४ खृष्टाब्द मान जाता है। इस प्रकार महाकवि कालिदास ६२४ खृष्टाब्दसे पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं।

सुप्रसिद्ध मीमांसकचूडामणि कुमारिल भट्टने अपने तन्त्रवार्तिकमें कालिदासके अभिज्ञानशाकुन्तलमें वर्तमान—

‘सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।’

शाकुन्तल (१—२३)

इस श्लोकार्द्धका उद्धरण दिया है। कुमारिल भट्ट सातवीं शताब्दीके माने जाते हैं, इस कारण कालिदास सातवीं शताब्दीसे पूर्ववर्ती होते हैं। आलङ्कारिक कविवर दण्डीने अपने अलङ्कारशास्त्र काव्यादर्शके प्रथम अध्यायकी—

‘प्रसादवत्प्रसिद्धाऽर्थमिन्दोरिन्दीवरद्युति ।
लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीतिसुभगं वचः॥’

इस पैतालिसवीं कारिकामें महाकवि कालिदासके अभिज्ञानशाकुन्तलमें स्थित **‘लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति (१-२०)’** इस पद्यांऽशका उद्धरण देकर कालिदासको अपनेसे पूर्ववर्ती कवि मान लिया है। दण्डीका समय सातवीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध माना गया है। इस प्रकार महाकवि कमसे कम छठी शताब्दीके माने जा सकते हैं।

वत्सभट्टि नामके कविने प्राचीन दशपुर और आधुनिक मन्दसोर नामके स्थानके सूर्यमन्दिरकी प्रशस्तिकी रचना की है। जिसपर मालव संवत् ५२९ का उल्लेख है। इस प्रशस्तिकी भाषा और रीतिके साथ कालिदासकी रचनाका सादृश्य पाया जाता है। वत्सभट्टिने मेघदूत और ऋतुसंहारके बहुतसे विषयोंका अनुकरण किया है, अतः वत्सभट्टिसे कालिदास पहलेके हैं यह निश्चित है।

पूर्वस्थित इन प्रमाणोंसे यह प्रतीत होता है कि खृष्ट तृतीय शताब्दीसे पीछे और पांचवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धके पहले महाकवि कालिदास आविर्भूत हुए थे। फलतः गुप्तवंशके राज्यकालमें भारतकी पूर्ण समृद्धिके समयमें ही कालिदासके कवित्वकी शान्तिपूर्ण आनन्दधारा प्रवाहित हुई थी। गुप्तवंशके प्रसिद्ध महाराज द्वितीय चन्द्रगुप्तकी ‘विक्रमादित्य’ उपाधि थी। उनका राज्यकाल ४१४ खृष्टाब्द तक रहा। इस प्रकारसे द्वितीय चन्द्रगुप्तके राज्यकालको ही कालिदासका प्रादुर्भावकाल माना जा सकता है। यह हुआ गुप्तकालमें कालिदासका स्थितिपक्ष। विचारपूर्वक निरीक्षण करनेपर यह पक्ष भी निःसार प्रतीत होता है।

गुप्तकालको संस्कृत विद्याका पुनरुत्थानकाल कहना ही सर्वसम्मत नहीं है। वास्तवमें भारतमें संस्कृतविद्याके लिए स्वर्णयुग विक्रमादित्य और भोजका समय ही माना जाता है। अत एव इस मतमें केवल काल्पनिकता है सत्यता नहीं। ‘चीनांऽशुकमिव केतोः’ शाकुन्तल-

की इस उक्तिसे गुप्तराजाऽऽश्रित महाकवि कालिदास चीनकी दानसम्पत्ति नहीं भूल सके हैं इस कथनमें भी कुछ वजन नहीं है। यहाँपर 'चीनांऽशुक' पदसे चीन देशका वस्त्र यह अर्थ उद्दिष्ट नहीं है। चीनका अर्थ है रेशमी, इस प्रकार चीनांऽशुकका अर्थ हुआ रेशमी वस्त्र। देखिए मेदिनीकोशमें चीन पदका अर्थ—

'चीनो देशांऽशुकव्रीहिभेदे तन्तौ मृगान्तरे।'

अर्थात् चीनपद देशभेद, वस्त्रभेद, धान्यभेद, तन्तु और मृगभेद इनका वाचक है। इसलिए 'चीनस्य अंशुकम्' ऐसे विग्रहसे षष्ठीतत्पुरुष समास कर 'चीन देशका वस्त्र' ऐसा अर्थ करना अनिवार्य नहीं, बल्कि 'चीनं च तदंशुकम्' ऐसे विग्रहसे कर्मधारय समास कर रेशमी वस्त्र ऐसा अर्थ करना चाहिए। अथवा 'चीन' पदका अर्थ है मृगविशेष, एक विशिष्ट मृग; उसके रोमसे बने हुए वस्त्रको भी चीनांऽशुक कह सकते हैं। इन्दुमतीके स्वयंवरमें सुनन्दाके **'कामं नृपाः सन्तु'** (रघु० ६-२२) इस पद्यसे सर्वप्रथम मगधेश्वरकी प्रशंसा की है इसलिए कालिदास मगधेश्वर चन्द्रगुप्तके आश्रित थे यह बात प्रमाणित होती है तो महाकविने मेघदूतमें अलकापुरीकी पर्याप्त प्रशंसा की है तो वे अलकाके निवासी कोई यक्ष क्यों नहीं माने जायँ ? इसी तरह कुमारसंभवमें उन्होंने हिमालय पर्वतकी अत्यधिक प्रशंसा की है, इसलिए वे हिमालयवासी कोई किन्नर क्यों नहीं माने जायँ ? और रघुवंशमें सबके पीछे राजवर्णनप्रसङ्गमें महाकविने अयोध्याधीश्वर महाराज रघु और उनके पुत्र युवराज अजकी सबसे बढ़कर सुनन्दासे प्रशंसा कराई है तो महाकवि अयोध्याके निवासी और वहाँके किसी राजाके ही आश्रित क्यों नहीं माने जायँ ? इसी तरहकी आशङ्का उज्जयिनीके विषयमें भी की जा सकती है।

इसी प्रकार **'गुप्तमूलप्रत्यन्तः'** इत्यादि कई स्थलोंमें 'गुप्त' पदका उल्लेख करनेसे कालिदासने अपने आश्रयदाता 'गुप्त' राजाका संकेत किया है यह तर्क भी वास्तवमें सन्तोषजनक नहीं है। 'नाचना तो घूँघट क्या ?' इस उक्तिके अनुसार कालिदास ऐसे महाकविने अपने आश्रयदाता राजाके नामका उल्लेख प्रत्यक्ष रूपसे न कर छद्म रीतिका आश्रय लिया यह बात भी सुसङ्गत प्रतीत नहीं होती है।

इसी प्रकार महाकवि कालिदासने रघुवंशके **'आसमुद्रक्षितीशानाम्'** इस पदसे समुद्रगुप्तके राज्यविस्तारका संकेत किया है और 'रघुके दिग्विजयमें तथा मालविकाग्निमित्रमें अग्निमित्रके अश्वमेध यज्ञमें समुद्रगुप्तके कार्यकलापकी प्रतिच्छाया दिखाई पड़ती है' ऐसा कहना भी कल्पनामात्र है। इसमें कुछ बलवत्तर आधार नहीं। कविको अपने चरितनायकको आदर्श और प्रबल बनानेकी काफी छूट है इस विषयमें इसके सिवाय और कुछ नहीं कह सकते हैं। अश्वमेध यज्ञका सर्वप्रथम अनुष्ठान समुद्रगुप्तने नहीं किया था। इतिहास और पुराणके अनुसार जैसे सगरने और रामने अश्वमेध यज्ञ किया था उसी तरह महाकवि अपने ग्रन्थमें अग्निमित्रको अश्वमेधके अनुष्ठाताके रूपमें प्रदर्शित किया ऐसी सीधी कल्पना क्यों नहीं की जाती है ?

चन्द्रगुप्तके पुत्र कुमारगुप्तके जन्मके उपलक्ष्यमें 'कुमारसंभव' रचा गया यह कहना भी महज कल्पनाके अतिरिक्त कुछ जबर्दस्त प्रमाण उपस्थित नहीं कर रहा है।

महाकवि कालिदास बौद्ध आचार्य अश्वघोषके परवर्ती हैं, इसलिए दोनों महाकवियोंकी रचनामें कुछ समताके देखेजानेसे अश्वघोषसे कालिदासने प्रेरणा पाई है यह कथन भी प्रमाणसे परिपुष्ट नहीं है। दोनोंके अवस्थितिकालके विषयमें पूर्वाऽपर भाव पीछे कहेंगे अभी उनकी रचनाके विषयमें कुछ लिखते हैं। अश्वघोष ईसाकी प्रथम शताब्दीके कुषाण-राजा कनिष्कके समकालिक एक बौद्ध दार्शनिक विद्वान् थे। इनका काव्य, गौण विषय था और बौद्ध धर्मका प्रचार प्रधान विषय। इसलिए सामान्य जनताको बौद्धधर्ममें आकृष्ट करनेके लिए इन्होंने काव्यरचना की है। इसे इन्होंने साफ-साफ लिख दिया है। देखिये—

इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षाऽर्थगर्भा कृतिः
श्रोतॄणां ग्रहणाऽर्थमन्यमनसां काव्योपचारात्कृता ।
यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत्काव्यधर्मात्कृतं
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति ॥'
'प्रायेणालोक्य लोकं विषयरतिपरं मोक्षात्प्रहितं
काव्यव्याजेन तत्त्वं कथितमिह मया मोक्षः परमिति ।
तद्बुद्ध्वा शामिकं यत्तदवहितमितो ग्राह्यं न ललितं
पांसुभ्यो धातुजेभ्यो नियतमुपकरं चामीकरमिति ॥'
सौन्दरनन्द (१८-६३, ६४)

अश्वघोषकी काव्यकृतियाँ प्रामाणिक रूपसे चार ही मानी गई हैं—

(१) बुद्धचरित, (२) सौन्दरनन्द, (३) गण्डीस्तोत्र गाथा और (४) शारिपुत्र प्रकरण। इनमें पहलेके दो प्रबन्ध महाकाव्य हैं, तीसरी रचना गीतिकाव्य और चौथा रूपक है।

महाकवि कालिदासका मुख्य विषय था कवित्वप्रदर्शन। किसी वादके प्रचारकी दृष्टिसे उन्होंने काव्यका मार्ग नहीं पकड़ा था। 'कला कलाके लिए' के समान इनका कवित्व अपनी प्रतिभाके प्रदर्शनके लिए था न कि किसी धर्मके वा दार्शनिक तथ्यके प्रचारके लिए। इसका तात्पर्य यह नहीं है कालिदासकी कृतिमें धर्मका तथा दार्शनिक तथ्यका वर्णन नहीं है; पर्याप्त मात्रासे है पर आनुषङ्गिक रूपमें; वह भी प्राकरणिक मर्यादाका अवलम्बन करनेके साथ।

अब दो महाकवियोंकी रचनासमताके कारण किसीकी कृति मौलिक और किसकी अनुकृतिमूलक है इसपर विचार करना है। वनविहारके लिए सिद्धार्थके बाहर निकलनेपर कपिलवस्तुकी स्त्रियोंकी श्रृङ्गारचेष्टाओंका अश्वघोषने बुद्धचरितमें जो वर्णन किया है उसकी महाकवि कालिदासने कुमारसंभवमें ओषधिप्रस्थमें वरयात्राके प्रसङ्गमें शिवजीकी और रघुवंशमें इन्दुमतीके वरणके अनन्तर अजकी यात्रामें स्त्रियोंकी श्रृङ्गारचेष्टाओंके वर्णनमें समताके विषयमें हमें यह कहना है कि अपने नगरमें अपने पितासे निरुद्धप्राय होनेपर भी

सिद्धार्थका दर्शन कपिलवस्तुकी स्त्रियोंके लिए उतना अपूर्व नहीं जितना कि ओषधिप्रस्थमें शिवजीका और विदर्भमें राजकुमार अजका दर्शन अपूर्व है; इस कारण महाकवि कालिदासने स्त्रियोंकी औत्सुक्यनिबन्धन शृङ्गारचेष्टाओंका जो वर्णन किया है वह स्वाभाविक और मौलिक तथा अधिक मनोहर है अतः अश्वघोषने ही कालिदासका अनुकरण किया है ऐसा प्रतीत होता है।

साथ-साथ एक बात यह भी है कि महाकवि कालिदासने उपर्युक्त वर्णनमें अश्वघोषका अनुकरण किया होता तो अपनी दो-दो कृतियोंमें (कुमारसंभव और रघुवंशमें) उनका समावेश करनेका साहस नहीं कर सकते थे।

इस विषयमें यह कहना भी अप्रासङ्गिक नहीं होगा कि कालिदासकी शैली परिमार्जित और आकर्षक है इसके विपरीत अश्वघोषकी अपरिमार्जित है और उतनी आकर्षक नहीं, साथ-साथ कई जगहोंमें च्युतसंस्कृति आदि दोषोंसे भ्रष्ट भी है। अनुकरण आदर्शका होता है उससे भिन्नका नहीं, इस कारणसे भी बौद्ध दार्शनिक अश्वघोषने ही अपनी रचनामें सर्वसाधारणको आकृष्ट करनेके लिए महाकवि कालिदासका यत्र-तत्र भावाऽपहरण कर लिया है यह बात हृदयङ्गम हो जाती है।

महाकवि कालिदास अत्यन्त निरभिमान थे अतः उनमें आत्मश्लाघा लेशमात्र भी नहीं थी यह बात उनके “मन्दः कवियशः प्रार्थी (रघु० १—३)’ इस श्लोकसे जानी जाती है। इसी प्रकार वे अपनेसे बड़ोंकी चर्चा करनेमें भी तत्पर होते थे यह बात उन्होंने मालविकाऽग्निमित्रमें—

‘प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य कृतौ कथं बहुमानः’ इस वाक्यमें दरसाई है। कालिदासने अश्वघोषकी रचनाका अनुकरण किया होता तो वे भास, सौमिल्लक और कविपुत्र महाकवियोंके साथ दार्शनिक अश्वघोषका भी उल्लेख करते; इस प्रकार उनके ग्रन्थोंमें अश्वघोषकी चर्चा न होनेसे कालिदास अश्वघोषके न अनुकारी हैं और न पश्चाद्वर्ती ही है यह बात सिद्ध हो जाती है।

इसके सिवाय कालिदासके परवर्ती बाणभट्ट आदि अन्य कवियोंने भी उपजीव्य कविके रूपमें अश्वघोष कहीं भी चर्चा नहीं की है इस कारणसे भी अश्वघोष कालिदासके न उपजीव्य हैं और न पूर्ववर्ती ही यह बात सिद्ध हो जाती है।

अश्वघोषके काव्योंका निरीक्षण करनेपर उनमें रामायण, महाभारत, भगवद्गीता आदि बहुतसे ग्रन्थोंका अनुकरण देखा जाता है पर कालिदासके काव्योंमें ऐसे अनुकरण कम दिखाई देते हैं इस कारणसे अश्वघोषने ही कालिदासका अनुकरण किया है यह बात समझमें आ जाती है।

इस प्रकार अश्वघोषका समय प्रथम शताब्दी ई० है तो कालिदासका समय उससे पूर्व मानना चाहिए।

(३) छठी शताब्दी—डा० भाऊदाजी, प्रो० कर्न, प्रो० मैक्समूलर और डा० भाण्डारकर आदि पुरातत्त्ववेत्ता विद्वानोंने ‘कालिदास छठी शताब्दीमें हुए थे’ ऐसा निर्णय किया है। इन लोगोंका मत भारतीय जनश्रुतिके आधारपर अवलम्बित है। कालिदासके सुप्रसिद्ध

टीकाकर महोपाध्याय मल्लिनाथकी मेघदूत-टीकाके ऊपर निर्भर होकर इन लोगोंने 'महाराज विक्रमादित्यकी सभामें नवरत्न थे' इस बातको स्वीकार कर लिया हैं। प्रख्यात ज्यौतिषी वराहमिहिर विक्रमके नवरत्नोंमें एक रत्न थे। ज्यौतिषाचार्य ब्रह्मगुप्तके खण्डखाद्यके टीकाकार अमरराज लिखते हैं—

'नवाऽधिकपञ्चशतसंख्यशाके (५०९) वराहमिहिराचार्यो दिवं गतः "

इस उक्तिपर विश्वास करनेसे ५८७ खृष्टाब्दमें वराहमिहिरकी मृत्यु माननी पड़ती है। महाकवि कालिदास भी वराहमिहिरके समान विक्रमके नवरत्नोंमें एक रत्न थे इस कारण कालिदास भी ईसाकी छठीं शताब्दीमें थे यह बात सिद्ध हो जाती है।

आचार्य दिङ्नाग और धर्मकीर्ति आचार्य असङ्गके छात्र थे। तिब्बतके रत्नधर्मराजका कहना है कि बुद्धदेवके निर्वाणके ९०० वर्षोंके बाद आचार्य असङ्ग उत्पन्न हुए थे। अशोक बुद्धनिर्वाणके तीन सौ वर्षोंके अनन्तर हुए थे। अशोकका राज्यकाल खृष्ट-पूर्व २५९—२१२ तकका माना जाता है। असङ्ग ५४१ खृष्टाब्दमें विद्यमान थे यह बात प्रमाणित होती है। आचार्य दिङ्नाग और निचुल असङ्गसे संभवतः २५ साल छोटे थे। महोपाध्याय मल्लिनाथने कालिदासके मेघदूतके पूर्वमेघस्थित—

'स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं
दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूलहस्ताऽवलेपान् ॥' (१–१४)

इस श्लोकार्द्धकी टीकामें 'निचुल' और 'दिङ्नाग' पदमें श्लेष बतलाया है। उनका कहना है कि इसमें कालिदासके प्रतिद्वन्द्वी दिङ्नागका और बन्धु निचुलका नाम ध्वनित है। दिङ्नाग वसुबन्धुके भी छात्र थे। आचार्य वसुबन्धु समुद्रगुप्तके समयमें थे। न्यायाचार्य उद्योतकरने दिङ्नागके मतका खण्डन करके न्यायभाष्यपर न्यायवार्तिककी रचना की है। महाकवि सुबन्धुने अपनी वासवदत्तामें **'न्यायस्थितिमिवोद्योतकरस्वरूपाम्'** इन पदोंमें उद्योतकरका नाम और **'बौद्धसङ्गतिमिवालङ्कारभूषिताम्'** इन पदोंसे धर्मकीर्तिके 'बौद्धसङ्गति' नामक ग्रन्थका उल्लेख किया है। उस समय उज्जयिनीमें 'विक्रमादित्य' उपाधिको धारण करनेवाले राजा थे। इस प्रकार कालिदास उन्हीं विक्रमादित्यके राज्यकालमें एक रत्नके रूपमें विद्यमान थे यह बात प्रमाणित होती है।

विचार-पूर्वक निरीक्षण करनेपर यह सिद्धान्त भी केवल कल्पनाकी भित्तिपर आश्रित प्रतीत होता है, इस विषयको हम सिद्धान्तपक्षमें उपस्थित करेंगे।

विक्रमकी प्रथम शताब्दी—भारतकी अत्यन्त प्रचलित जनश्रुतिके अनुसार महाकवि कालिदास संवत्सरके प्रवर्तक मालवाऽधीश विक्रमादित्यके नवरत्नोंमें एक रत्न थे। **'न ह्यमूला जनश्रुतिः'** इस उक्तिके अनुसार और निम्नलिखित तर्कोंके आधारपर हम इस मतको अमूलक नहीं कह सकते हैं।

यूरोपके विद्वानोंमें सर विलियम जोन्सने सर्वप्रथम इस मतको स्वीकार किया था, परन्तु उनके परवर्ती फर्गुसन आदि विद्वानोंने इसे भ्रान्तिग्रस्त प्रतिपादित किया है। सबसे पहले फर्गुसनने ही इस मतका प्रचार किया कि उज्जयिनीके महाराज विक्रमादित्यने

शकोंको भारतसे ५४४ ई० सन्‌में खदेड़कर उक्त विजयके ६०० साल पूर्व संवत्सरका स्थापन किया। उनके मतमें खृष्टके ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य नामके कोई राजा थे ही नहीं, इसलिए खृष्टपूर्व विक्रमसंवत्सरकी प्रवृत्तिको बात ही नहीं उठती। मैक्समूलरने फर्गुसनके पूर्वोल्लिखित मतका ही अवलम्बन कर इस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया कि खृष्टकी छठी शताब्दीसे ही संस्कृतके काव्योंका परम उत्कर्ष हुआ और महाकवि कालिदास उसी समय प्रादुर्भूत हुए हैं।

प्रोफेसर फ्लीट और हर्नलने गवेषणा कर फर्गुसनके पूर्वोक्त मतका खण्डन किया है। उन्होंने महाकवि कालिदासके 'ज्योतिर्विदाभरण नामक ज्यौतिष ग्रन्थके एक श्लोकसे प्रतिपादित किया है कि खृष्टसे ५७ वर्ष पूर्ववर्ती विक्रमादित्यके नवरत्नोंमें कालिदास भी एक रत्न थे। वह श्लोक यह है—

'धन्वन्तरिक्षपणकाऽमरसिंहशङ्कु-वेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥'

अर्थात् धन्वन्तरि (आयुर्वेदशास्त्रके विद्वान्), क्षपणक, अमरसिंह (सुप्रसिद्ध कोशकार), शङ्कु, वेतालभट्ट, घटखर्पर, कालिदास (संस्कृत साहित्यके विश्वविख्यात महाकवि), वराह मिहिर (ज्यौतिषशास्त्रके उद्भट विद्वान्) और वररुचि ये विद्वान् महाराज विक्रमकी सभाके नवरत्न हैं, परन्तु यूरोपके कतिपय विद्वान् ज्योतिर्विदाभरणको कालिदासकी कृति नहीं मानते हैं, उन लोगोंका कथन है कि किसी अर्वाचनीय विद्वान्‌ने उसकी रचना कर कालिदास नामका प्रचार कर दिया है; क्योंकि ज्योतिर्विदाभरण ज्यौतिषका ग्रन्थ है उसके ग्रह आदिकी जो अवस्था सूचित होती है उससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि वह ग्रन्थ पन्द्रहवीं शताब्दीके बाद रचित हुआ है। परन्तु उक्त ग्रन्थके अर्वाचीन होनेपर भी विक्रमकी सभामें नवरत्न थे और उनमें अन्यतम रत्न कालिदास थे यह बात ग्यारहवीं शताब्दीके धाराऽधिपति भोजके समयमें भी प्रचलित थी। प्राध्यापक स्वर्गीय शारदारञ्जन राय और वाणीविलास-ग्रन्थमालासे प्रकाशित अभिज्ञानशाकुन्तलम्‌के मुखबन्धमें जे० के० सुब्रह्मण्य नामके विद्वान्‌ने भी इस मतका समर्थन किया है।

प्राध्यापक रायका कथन है कि मार्शलको इलाहाबादके निकट भिटामें जो मेडालियन प्राप्त हुआ है उसमें दुष्यन्तका तपोवनप्रवेश, मृगवध न करनेके लिए ऋषिशिष्योंकी प्रार्थना और ऋषिकन्याओंका आलवाल (क्यारी) पूर्ण करना इत्यादि अभिज्ञानशाकुन्तलके प्रथम अङ्कमें अवस्थित दृश्योंका चित्र विद्यमान है। इससे विदित होता है कि शुङ्गवंशके समयमें कालिदासका अभिज्ञानशाकुन्तल प्रसिद्ध था।

अध्यापक जे० के० सुब्रह्मण्यने कालिदासके मालविकाग्निमित्र नाटकसे जो सूक्ष्म प्रमाण उपस्थित किया है वह भी खण्डनीय नहीं है। उनका कहना है कि **'नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्'** नाटकके इस नियमका अनुसरण करते हुए प्राचीन नाटककारोंने पुरातन ख्यातवृत्तोंका अवलम्बन कर अपनी रचनाओंकी उद्भावना की है; परन्तु कालिदासने इस नियमका उलङ्घन

कर जीवित राजाके ख्यात वृत्तका अवलम्बन कर मालविकाग्निमित्र नाटककी रचना की है। महाकविने अपनी नवीन कृतिकी ओर संकेत करते हुए लिखा है कि—

'पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चाऽपि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्याऽन्यतरद्भजन्ते, मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥'

अर्थात् काव्य प्राचीन कहकर ही सभी उत्तम नहीं होता है और न नवीन कहकर ही सभी निन्दित होता है। विद्वान्‌लोग परीक्षा करके प्राचीन वा नवीन काव्यमें एकका अनुशीलन करते हैं परन्तु जो मूर्ख हैं वे दूसरेके पिछलग्गू बन जाते हैं। यहांपर 'पुराण' कहकर पुराणख्यात वृत्तका श्लेष है ऐसा भी कुछ विद्वानोंका मत है।

इसी प्रकार नाटकके अन्तमें 'भरतवाक्य' कहकर महाकविने लिखा है—

'आशास्यमीतिविगमप्रभृति प्रजानां
संपत्स्यते न खलु गोप्तरि नाऽग्निमित्रे ॥'

अर्थात् राजा अग्निमित्रके संरक्षकत्वमें प्रजाओंका ईति (अतिवृष्टि और अनावृष्टि) आदि भय नहीं होगा ऐसी आशा की जाती है। यहाँपर 'अग्निमित्रे गोप्तरि' इस भावलक्ष्य सप्तमीके प्रयोगसे जाना जाता है कि कालिदासके समयमें राजा अग्निमित्र जीवित थे। ये अग्निमित्र शुङ्गवंशके पुष्यमित्रके पुत्र थे और इनका काल खृष्टसे पूर्व प्रथम शताब्दी मानी जाती है।

यह बात इस प्रमाणसे भी सिद्ध हो जाती है कि शाकुन्तलमें अंगूठी चुरानेके अपराधमें धीवरपर प्राणदण्ड की व्यवस्था दी जानेवाली थी वह मनु, वशिष्ठ और आपस्तम्बकी स्मृतियोंके अनुसार है। पूर्वोक्त धर्मशास्त्रोंकी व्यवस्था शुङ्गकालमें मानी जाती थी इसके विपरीत गुप्तकालमें बृहस्पति और याज्ञवल्क्य-स्मृतिके मान्यता थी, जिसके अनुसार चोरी करनेपर वैसे कठोर दण्डका विधान नहीं था। इसी तरह कालिदासके नाटकमें उस समय सम्मत मनु वसिष्ठ, बौधायन और आपस्तम्ब आदिके स्मृतिग्रन्थोंके अनुसार विधवाको पतिका दायभाग नहीं मिलता इसके विपरीत गुप्तकालमें याज्ञवल्क्यकी स्मृतिकी मान्यता थी जिसके अनुसार विधवा पतिके दायकी अधिकारिणी हो जाती थी। इन दो प्रमाणोंसे भी कालिदास सत्ता गुप्तकालमें न होकर खृष्टपूर्व ही थी ऐसा निश्चय हो जाता है। इस प्रकार कालिदास खृष्टपूर्व प्रथम शताब्दीमें हुए थे यह बात भी प्रमाणित हो जाती है। अब 'खृष्ट ५७ वर्ष पूर्व 'विक्रमादित्य' नामके कोई राजा थे ही नहीं' इस बातपर विचार करना है। यूरोपके विद्वानोंने विक्रमकी पांचवीं शताब्दीके द्वितीय चन्द्रगुप्तको ही विक्रमादित्य मानकर 'उन्होंने छः सौ साल पहलेका अपना संवत्सर 'विक्रम संवत्' के रूपमें चलाया' ऐसी निराधार कल्पना की है। चन्द्रगुप्तने अपने समयका संवत्सर न चलाकर छः सौ साल पहलेका संवत्सर क्यों चलाया? इसपर कुछ भी प्रमाण नहीं दिया। प्रथम शताब्दीके सातवाहनने अपनी गाथासप्तमीमें—

'संवाहणसुहऽसतोसिएण देन्तेन तुह करे लक्खम् ।
चळणेण विक्कमाइत्तचरिणं अणुसिक्खिअं तिस्सा ॥' (५।६४)

[संवाहनसुखरसतोषितेन ददता तव करे लाक्षाम् ।
चरणेन विक्रमादित्यचरितमनुशिक्षितं तस्याः ॥]

इस प्रकारसे विक्रमादित्यकी चर्चा की है। वास्तवमें सातवाहनसे उद्दिष्ट विक्रमादित्य ही कालिदासके आश्रयदाता प्रतीत होते हैं। इसी प्रमाणसे छठी शताब्दीमें विद्यमान वराहमिहिरसे कालिदासकी समकालिकताकी बात भी कट जाती है।

इसी तरह **'तिथौ च जामित्रगुणाऽन्वितायाम्'** (कुमार० ७।१) इस पद्यमें 'जामित्र' पदका प्रयोग करनेसे कुछलोग कालिदासको द्वितीय चन्द्रगुप्तके समयवर्ती सिद्ध करते हैं। उनका कहना है कि 'जामित्र' पद यूनानी 'डायमेट्रन' पदका ही परिवर्तित रूप है। परन्तु ईसासे ५०० वर्ष पूर्व बोधायनने भी अपने गृह्यसूत्रमें इस पदका प्रयोग किया है इस कारणसे यह मत भी भ्रान्तिग्रस्त है।

डाक्टर राजबली पाण्डेयने अपने 'विक्रमादित्य' नामक ग्रन्थमें अनेकाऽनेक प्रमाणोंके आधार पर यह सिद्ध किया है कि खृष्टपूर्व ५७ वर्षमें विक्रमादित्य' नामके राजा थे और उनकी उपाधियाँ 'विषमशील' 'साहसाङ्क' और 'शकारि' थीं तथा उन्हींकी सभामें महाकवि कालिदास थे।

इस प्रकार हम देख रहे हैं कि कालिदासकी अनुपम कवित्वशक्तिके कारण उनके नामका कालान्तरमें उपाधिके तौरपर ग्रहण होने लगा था, जैसे कि नवम शताब्दीके महाकवि राजशेखरने कहा है—

'एकोऽपि जीयते हन्त ! कालिदासो न केनचित् ।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु ॥'

राजशेखरके समयतक ही 'कालिदास' नामसे तीन कवि प्रख्यात हो चुके थे। ग्यारहवीं शताब्दीके राजा भोजके समय 'परिमल' वा 'पद्मगुप्त' नामके किसी कविने भी 'कालिदास' नाम की उपाधिको धारण कर लिया था।

जैसे विक्रमादित्य के आश्रित 'कालिदास' नाम वा उपाधिसे युक्त चार कवि प्रख्यात हुए वैसे ही कालिदासके आश्रयदाता 'विक्रमादित्य' के नाम वा उपाधिसे चार महाराज इतिहासमें प्रसिद्ध हुए हैं।

(१) उज्जयिनीके राजा विक्रमादित्य, जिन्होंने खृष्टसे ५७ वर्ष पूर्व विक्रम-संवत् की स्थापना की है। (२) चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५-४१४ ई०)। (३) कुमारगुप्त प्रथम (४१४-४२५ ई०), ये चन्द्रगुप्त द्वितीयके पुत्र थे। (४) कश्मीरके विक्रमादित्य (५०० ई०)। इन चार विक्रमोंमें पूर्वोक्त प्रमाणोंसे और भारतीय परम्परासे 'विक्रमादित्य' नामवाले पहले राजाके आश्रित महाकवि कालिदास थे यह बात सिद्ध होती है। पिछले तीन नरेश 'विक्रमादित्य' उपाधिवाले थे, इस बातमें भी भारतीय प्रचलित जनश्रुति प्रसिद्ध है—

कालिदासके 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटककी प्रस्तावनामें सूत्रधार नटीसे कहता है—

आर्ये ! रसभावदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्याऽभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम् । अस्यां

द्य कालिदासग्रथितवस्तुना नवेनाऽभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नाटके—नोपस्थातव्यमस्माभिः ।'

इस प्रसङ्गमें महाकविने अपने आश्रयदाताका नाम स्पष्ट रूपसे दिखलाया है। पूर्वकालमें आजकलकी तरह उपाधिका नामके तौरपर प्रयोग नहीं होता था, कारण यहाँपर विक्रमादित्य पदसे संवत्सरप्रवर्तक खृष्टपूर्वकालमें विद्यमान 'विक्रमादित्य' नामक राजाका ग्रहण करना चाहिए। इन्हीं विक्रमादित्यने भारतसे शक वा सीथियनोंको खदेड़ा था। अत एव 'विक्रमादित्य' उपाधिवाले 'चन्द्रगुप्त' नामक राजाकी कल्पना यहाँ अनुपपन्न है।

इसी तरह महाकविने 'विक्रमोर्वशी' त्रोटकके भी नामकरणमें प्रतीकके रूपमें अपने आश्रयदाता 'विक्रम' का सङ्केत किया है।

कालिदासने इसी प्रकार विक्रमोर्वशी त्रोटकमें इन्द्रके स्थानपर 'महेन्द्र' शब्दका प्रयोग कर अपने आश्रयदाता विक्रमादित्यके पिता महेन्द्रादित्यका संकेत किया है। ऐसे ही अनुत्सेकः खलु विक्रमाऽलङ्कारः' कविने ऐसा भी लिखा है। इसी प्रकार अभिनन्द कविने रामचरितमें 'ख्यातिं कामपि कालिदासकृतयो नीताः शाकाऽरातिना ।' लिखकर शाकाऽराति विक्रमादित्य को कालिदासके आश्रयदाताके रूपमें प्रतिपादन किया है। इन सब प्रमाणोंसे कालिदास विक्रमादित्यके समकालिक थे यह बात पूर्ण रूपसे प्रमाणित हो जाती है।

कालिदासका समय प्रथम शताब्दी ई० पू० माननेमें उनके किये हुए कुछ प्रयोग भी सहायक सिद्ध होते हैं।

महाकवि कालिदासके कुछ ऐसे पदोंके प्रयोग मिलते हैं जो कि केवल वेदमें देखे जाते है, लोकमें नही। जैसे कि—

'त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श' (कुमारसंभव ३-४४)

यहाँपर लोकप्रयोगके अनुसार 'त्र्यम्बक' होना चाहिए था, 'त्रियम्बक' नहीं। इसीतरह 'आस' आदि प्रयोग भी कालिदाससे मिलते हैं, पाणिनीके 'अस्तेर्भूः २।४।५२' इस सूत्रके अनुसार अस धातुके लिट्में भू आदेश होकर 'बभूव' होना इष्ट था। इसी प्रकार महाकविने—

'तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात् ।' (रघुवंश ९-६१)
'प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार।' (रघुवंश १२-३६)

ऐसे प्रयोग किये। इन दोनों चरणोंमें क्रमसे पाणिनिव्याकरणके अनुसार 'पातयामास' और 'प्रभ्रंशयाञ्चकार' इस प्रकार अव्यवहित रूपसे ऐसे प्रयोग इष्ट हैं। कालिदासके ऐसे प्रयोग भी खृष्टपूर्व प्रथम शताब्दीमें उनकी सत्ताका द्योतन करते हैं, जबकि पाणिनिव्याकरणके प्रयोग पूर्ण रूपसे प्रचलित नहीं हुए थे।

इसी प्रकार कालिदासने अपने नाटकोंमें मागधी प्राकृतका व्यवहार किया है, जिसका ईसाके पूर्वकालमें ही प्रयोग मिलता है। इन सब प्रमाणोंकी पर्यायलोचनासे गुप्तकालमें कालिदासकी सत्ता नहीं थी बल्कि खृष्टपूर्व विक्रमके समयमें थी यह बात व्यक्त रूपसे विदित हो जाती है।

कालिदासकी जन्मभूमि

कोई कहते हैं कालिदास बङ्गालमें हुए तो कोई काश्मीरमें, कोई हिमवत्प्रदेशमें तो कोई पाटलिपुत्रमें और किसी का कहना है कि वे मालवमें पैदा हुए। परन्तु कालिदासने अपने ग्रन्थोंमें उज्जयिनीकी बहुत अधिक चर्चा की है। रामगिरीसे अलकायात्राके लिए मार्गकी वक्रता(१) होनेपर भी यक्षका उज्जयिनी जानेके लिए आग्रह और वहाँकी छोटी-छोटी नदियोंके नामनिर्देशनसे भी कविकी जन्मभूमि मालवकी राजधानी उज्जयिनी ही मालूम होती है। इसी तरह नवमशताब्दीके राजशेखरने—'श्रूयते चोज्जयिन्यां साहसाङ्को नाम राजा·······

इह कालिदासमेण्ठावत्राऽमररूपसूरभारवयः।
हरिश्चन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्॥'

ऐसा लिखकर साहसाऽङ्क (विक्रमादित्य) राजाकी उज्जयिनीमें कालिदासकी काव्यपरीक्षाकी बात लिखी है। वर्तमान सिन्धिया राज्यके अन्तर्गत प्राचीन मालवप्रदेश स्थित मन्दसोर (प्राचीन नाम—दशपुर) नामके प्रसिद्ध नगर वा उसके निकटवर्ती स्थानसे कालिदास उत्पन्न हुए थे। इस विषयमें विश्वसनीय प्रमाण है। म० म० हरप्रसादशास्त्रीने इस विषयमें गवेषणा की है और प्रसिद्ध इतिहासकार विन्सेण्ट स्मिथने भी इस मतको स्वीकार कर लिया है।

कालिदासका सम्प्रदाय

महाकवि कालिदास किस सम्प्रदायको माननेवाले थे इस बातका परिचय उनके ग्रन्थोंके मङ्गलाचरणोंसे मिल जाता है। उन्होंने रघुवंशके आरम्भमें—

'वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥ (१-१)

इस श्लोकसे पार्वती और परमेश्वरका वन्दन किया है। उन्होंने इसी प्रकार मालविकाग्निमित्र।

'एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयं कृत्तिवासाः
कान्तासंमिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्ताद्यतीनाम्।
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाऽभिमानः
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः॥' (१-१)

इस श्लोकमें अष्टमूर्ति शङ्करकी प्रार्थना की है।

इसी प्रकार विक्रमोर्वशीः त्रोटकमें—

'वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाऽक्षरः।

---

१ 'वक्रः पन्था यदपि' इत्यादि।

'अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते ।
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायाऽस्तु वः ।।' (१-१)

इस मङ्गलाचरणसे और अभिज्ञानशाकुन्तलस्थित—

'या सृष्टिः स्रष्टुराद्या, वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री,
ये द्वे कालं विधत्तः, श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति, यया प्राणिनः प्राणवन्तः,
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ।।'

इस मङ्गलाचरणसे भी महाकवि कालिदास शैव थे यह बात पूर्ण रूपसे प्रमाणित हो जाती है; परन्तु कुमारसंभवके द्वियीयसर्गमें ब्रह्मांजीकी और रघुवंशके दशमसर्गमें विष्णुकी स्तुतिको देखनेसे ब्रह्मा और विष्णुपर भी उनकी आस्था थी यह बात ज्ञात होती है । कुमारसंभवके—

'एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिया सा, सामान्यमेषां प्रथमाऽवरत्वम् ।
विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद्वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ ।।' (७-४४)

इस श्लोकसे भी यही बात स्पष्ट रूपमें प्रतिपादित हो जाती है । इस प्रकार विश्वके अनुपम महाकवि कालिदास साम्प्रदायिक सङ्कीर्णतासे दूर थे यह बात उन्हींकी लोकोत्तर कमनीय कृतियोंके निरीक्षणसे हृदयङ्गम हो जाती है ।

कालिदासकी कवित्वशक्ति और शास्त्रीय पाण्डित्य

महाकवि कालिदासकी रचनाओंमें वाच्य अर्थकी अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थकी प्रधानता है, अतः उनमें ध्वनिकी प्रचुरता है ।

'इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः'
(काव्यप्रकाश १-४)

उद्भट आलङ्कारिक मम्मटभट्टकी इस उक्तिके अनुसार ध्वनि ही उत्तम काव्य माना गया है ।

महाकवि कालिदास मानवहृदयके साथ जड प्रकृतिका जो सूक्ष्म सम्बन्ध दिखा सके हैं यह उनकी लोकोत्तर विशेषता है । मूक और जड पदार्थ भी उनके समीप अनुभूतिपूर्ण हो जाते हैं । उनकी रचनामें स्थावर और जङ्गम सभी पदार्थ परस्परमें सुख-दुःखका अनुभव कर लेते हैं । यों तो कालिदास रससिद्ध महाकवि हैं परन्तु वे विशेषतः शृङ्गार, करुण, शान्त और अद्भुत रसका प्रतिपादन करनेमें सिद्धहस्त हैं ।

आर्यसंस्कृति और कालिदास इन दोनोंमें भूषणभूष्यभाव सामान्य हो गया है । आर्यसंस्कृतिको वर्णनीय विषय बनाकर अपनी असाधारण कलाका प्रदर्शन कर कालिदास लोकाऽतिशायी कवि बन गये हैं । कालिदास जैसे कविकी लेखनीसे उद्भासित होकर आर्यसंस्कृति जगद्वन्द्य और धन्य हो गई है ।

महाकवि कालिदासने विद्या और कलाओंका पूर्ण स्वरूपसे अवगाहनके साथ अनेक देश-देशान्तरोंका परिभ्रमण किया था । प्रकृतिका कमनीय सौन्दर्य उनकी दृष्टिमें उद्भासित हुआ

था जिसका प्रमाण उनकी प्रकृतियोंके निरीक्षणसे मिल जाता है। बहिर्जगत्‌के सूक्ष्म निरीक्षणके साथ अन्तर्जगत्‌का भी उन्होंने सूक्ष्मरूपसे आकलन किया है, जिसके कारण मनोवैज्ञानिक मनोहरता उनके काव्योंमें यत्र-तत्र प्रतिफलित देखी जाती है।

हम यहाँपर कतिपय पङ्क्तियोंमें कालिदासकी बहुश्रुतताका कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं। उनकी विशेषताको प्रदर्शित करनेके लिए तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थकी आवश्यकता है।

इतिहास और पुराणमें कालिदासका पर्याप्त ज्ञान था इनका प्रमाण इतिहास और पुराणके ही कथानकपर आश्रित उनके काव्यों और नाटकोंके निरीक्षणसे मिल जाता है।

'यदमोघमपामन्तरुप्तं वीजमज! त्वया।
अतश्चराऽचरं विश्वं, प्रभवस्तस्य गीयसे॥ (कुमारसंभव २·५)

इस श्लोकमें महाकविने 'अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् (१-८) मनुस्मृतिकी इस उक्तिको कैसे रमणीयतापूर्वक अपनी रचनामें सन्निवेशित किया है।

'त्वामाममनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम्।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः॥ (कुमार० २-१३)

इस श्लोकमें कविने सांख्यदर्शनके 'प्रकृति' और 'पुरुष' का स्वरूप प्रदर्शित किया है।

'लब्धप्रतिष्ठाः प्रथमं यूयं किं बलवत्तरैः।
अपवादैरिवोत्सर्गाः कृतव्यावृत्तयः परैः॥' (कुमार० २-२७)

महाकविने इस श्लोकमें उपमा अलङ्कारके द्वारा व्याकरणके उत्सर्ग और अपवादका कैसी निपुणतासे प्रदर्शन किया है।

'तस्मिन्नुपायाः सर्वे नः क्रूरे प्रतिहतक्रियाः।
वीर्यवन्त्यौषधानीव विकारे सांनिपातिके॥' (कुमार० २-४८)

इस श्लोकमें महाकविने उपमा अलङ्कारके द्वारा आयुर्वेदशास्त्रके सन्निपात ज्वरका स्वरूप किस प्रकार विशद भावसे प्रदर्शित किया है। इसीप्रकार मालविकाग्निमित्रमें—

'छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतुस्यारक्तमोक्षणम्।
एतानि दष्टमात्राणामायुष्याः प्रतिपत्तयः॥

इस श्लोकमें सर्पदंशनकी चिकित्साका वर्णन किया है।

'अयस्कान्तेन लोहवत्' (कुमार० २-५९)

इस उक्तिमें महाकविने चुम्बकका गुण दिखलाया है।

इसप्रकार महाकविने निम्नलिखित श्लोकोंमें फलित ज्यौतिषमें अपना परिचय दिखलाया है।

'दृष्टिप्रपातं परिहृत्य तस्य कामः पुरःशुक्रमिव प्रयाणे॥' (कुमार०३·४३)
'तिथौ च जामित्रगुणाऽन्वितायाम्॥' (कुमार० ७-१)
'मैत्रे मुहूर्ते शशलाञ्छनेन योगं गतासूत्तरफल्गुनीषु।' (कुमार० ७-६)

इसी प्रकार महाकविने रघुवंशके निम्न श्लोकमें उपमा अलङ्कारका प्रयोग कर किस प्रकार ज्यौतिष और राजनीतिके ज्ञानका प्रदर्शन किया है—

'ग्रहैस्ततः पञ्चभिरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैः सूचितभाग्यसंपदम् ।
असूत पुत्रं समये शचीसमा त्रिसाधना शक्तिरिवाऽर्थमक्षयम् ॥'
(रघुवंश ३–१३)

इसी प्रकार—

'अवैमि चैनामनघेति किन्तु लोकाऽपवादो बलवान्मतो मे ।
छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः ॥'
(रघुवंश १४–४०)

इस श्लोकमें महाकविने "चन्द्रपर भूमिकी छाया पड़नेपर 'चन्द्रग्रहण' कहा जाता है," ज्यौतिषसिद्धान्तकी इस उक्तिका कितनी मनोहरतासे प्रदर्शन कर दिया है ।

'पर्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं सन्नमितोभयांसम् ।
उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशात्प्रफुल्लराजीवमिवाङ्कमध्ये ॥' (कुमार०३–४५)

इस श्लोकमें महाकविने योगशास्त्रके आसनको दिखलाया है ।

'तौ सन्धिषु व्यञ्जितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम् ।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्तं प्रयोगमाद्यं ललिताऽङ्गहारम् ॥'
(कुमार० ७–९१)

इस श्लोकमें महाकविने नाट्यशास्त्रका परिचय दिया है ।

'षड्जसंवादिनीः केका द्विधा भिन्नाः शिखण्डिभिः ॥' (रघुवंश १–१९)

महाकविने इसमें गान्धर्ववेद (संगीतशास्त्र) का परिचय दिया है ।

रघुवंशके चतुर्थ सर्गमें और मेघदूतमें महाकविने जो अपना भौगोलिक ज्ञानको दिखलाया है वह प्रसिद्ध है ही जिसे अच्छी तरह वर्णन करने लिए एक विशिष्ट निबन्धकी आवश्यकता है ।

इस प्रकार हमने महाकवि कालिदासकी बहुश्रुतताका द्योतन करनेके लिए उनके कुछ शास्त्रीय पाण्डित्यका निदर्शन किया है । उनकी रचनाको आलङ्कारिक विशेषताके प्रदर्शनके लिए बहुत समय और विशेष ग्रन्थकी अपेक्षा है इसलिए हम इस विषयको यहाँपर समाप्त करते हैं ।

कालिदासकी रचनाएं

निम्नलिखित काव्य कालिदासकी रचनाके तौरपर निर्विवादरूपमें प्रसिद्ध हैं । ऋतुसंहार (खण्डकाव्य), और साहित्य-जगत्में विख्यात लघुत्रयी—मेघदूत (खण्डकाव्य) और दो महाकाव्य-कुमारसंभव तथा रघुवंश । इनमें मेघदूत विश्वविश्रुत काव्य है ।

कालिदासके दो नाटक और एक त्रोटक इस प्रकार कुल तीन रूपक प्रसिद्ध हैं। इनमें मालविकाऽग्निमित्र और अभिज्ञानशाकुन्तल ये दो नाटक हैं और विक्रमोर्वशी नामका एक त्रोटक है। इन तीनोंमें अभिज्ञानशाकुन्तल महाकवि कालिदासकी विश्ववन्द्य तथा सर्वोत्तम रचना है।

इनके सिवाय श्रुतवोध (छन्दोग्रन्थ), शृङ्गारतिलक, नलोदय (श्लेषमय खण्डकाव्य), पुष्पवाणविलास, चिद्गगनचन्द्रिका (देवीस्तुति), नवरत्नमाला (देवीस्तुति) घटकर्पर काव्य और ज्योतिर्विदाभरण (ज्यौतिष ग्रन्थ) कुन्तेश्वरदौत्य, अम्वास्तव, कल्याणस्तव, कालीस्तोत्र, काव्यनाटकालङ्कार, गङ्गाऽष्टक, चण्डिकादण्डकस्तोत्र, चर्चास्तव, दुर्घटकाव्य, मकरन्दस्तव, मङ्गलाऽष्टक महापद्मषटक, रत्नकोश, राक्षसकाव्य, लक्ष्मीस्तव, लघुस्तव, विद्वद्विनोद काव्य, वृन्दावन काव्य, वैद्यमनोरमा, शुद्धचन्द्रिका, शृङ्गाररसाऽष्टक, शृङ्गारसार काव्य, श्यामलादण्डक और सेतुबन्ध ये भी कालिदासके ग्रन्थ वतलाये जाते हैं इनमें कुछ अप्राप्य भी हैं, परन्तु रचनाशैलीकी विभिन्नताके कारण सवलोग इनको कालिदासकृत नहीं मानते हैं।

अव ऋतुसंहार आदि ग्रन्थोंका संक्षेपमें परिचय देते हैं।

(१) ऋतुसंहार—रचनाशैलीमें कालिदासकी अन्य रचनाकी समान प्रौढि न होनेसे यह उनकी प्राथमिक कृति मानी जाती है। इसपर मल्लिनाथकी टीका नहीं है और इसके पद्य कहीं भी उद्धरणके तौरपर नहीं मिले हैं, इस कारण इसे पहले कुछ विद्वान् कालिदासकी रचना नहीं मानते थे। इसमें छः सर्ग हैं। इसमें ग्रीष्ममें आरम्भ कर वसन्ततक कुल छः ऋतुओंका अनेकाऽनेक छन्दोंमें मनोरम रीतिसे वर्णन किया गया है। इसमें १४४ पद्य हैं।

(२) कुमारसंभव—ऋतुसंहारके अनन्तर यह कविकी दूसरी रचना है। यह महाकाव्य है। इसमें कुल १७ सर्ग हैं। इसमें कार्त्तिकेयका जन्म और उनके चरित्रका वर्णन मुख्य विषय है। हिमालय पर्वतके वर्णनसे आरम्भ कर पार्वतीका जन्म, तारकासुरका उपद्रव, उसके वधके लिए शङ्करके वीर्यजात पुत्रके लिए शिबतपोभङ्ग करनेके निमित्त देवताओंका कामदेवको शिवजीके पास भेजना, उनके नेत्रवह्निसे कामदाह, रतिविलाप, रतिको सान्त्वना देना, पार्वतीका तपश्चरण और उनका शिवजीसे विवाह इतने विषय एकसे लेकर सप्तम सर्गतक वर्णित हैं। अष्टम सर्गतक मल्लिनाथकी टीका उपलब्ध होती है, इस कारणसे और नवम सर्गसे लेकर अन्ततक इसकी रचनामें कालिदासकी शैलीसे भिन्नताके कारण भी अर्वाचीन विद्वान् लोग इसके एकसे लेकर अष्टम सर्गतकके भागको ही कालिदासकी कृति मानते हैं। जब कि यह महाकाव्य माना गया है तब यह कैसे आठ सर्गतक होगा? क्योंकि 'सर्गा अष्टाऽधिका इह' इस महाकाव्यके लक्षणके अनुसार आठ सर्गोंसे अधिक होना महाकाव्यके लिए वाञ्छनीय है। इसी प्रकार आठ ही सर्गतकका भाग इसका स्वरूप माना जाय तो 'कुमारसंभव' यह नाम ही अनुपपन्न होगा। क्योंकि सप्तम सर्गमें शिव-पार्वतीका विवाह है और अष्टम सर्गमें उनकी कामकेलिका वर्णन है। कुमारकी उत्पत्ति नहीं हुई तो कैसे कुमारसंभव नाम उचित होगा? इस कारण अष्टम सर्गके वाद कालिदास किसी विघ्नके कारण इसको समाप्त नहीं कर पाये और परवर्ती किसी कविने उनके नामसे अन्य सर्गोंकी रचना की, ऐसा मानना होगा।

(३) रघुवंश—महाकाव्योंमें यह श्रेष्ठ माना गया है । इसमे दिलीपसे लेकर अग्निवर्ण तकके इक्ष्वाकुवंशके राजाओंका चरित्रवर्णन बहुत ही प्रौढिके साथ किया गया है । इसमें कुल १९ सर्ग हैं । दिलीप, रघु, अज, दशरथ तथा मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका तथा अन्यान्य राजाओंका बहुत मनोरञ्जक ढंगसे वर्णन किया गया है । आर्यसंस्कृतिका लोकाऽतिशायी उत्कृष्ट चित्र इसमें अङ्कित किया है । कहते हैं कि इसके पञ्चम सर्गमें सरस्वतीका बीजमन्त्र विद्यमान है । कान्तासम्मित शब्दोंमें आर्यसंस्कृतिका चित्राङ्कन करनेके कारण रामायण, महाभारत और पुराणोंके समान इसका उत्कर्ष निर्विवाद है ।

(४) मालविकाऽग्निमित्र—महाकवि कालिदासकी रूपकरचनामें यह प्राथमिक कृति है । इसमें पांच अङ्क हैं । महाकविने इसमें अपने समयके विदिशाके राजा अग्निमित्र और मालविकाके प्रेमका उत्कृष्ट वर्णन किया है । कालिदासका कालनिरूपण करनेमें इस नाटकने मार्गदर्शनका कार्य किया है ।

(५) विक्रमोर्वशी—यह पाँच अङ्कोंका त्रोटक है । उपरूपकके नाटिका आदि १८ भेदोंमें त्रोटक द्वितीय है । इसमें महाभारतके कथानकके आधारपर उर्वशी और पुरूरवाके प्रेमका वर्णन किया है । इसमें महाकविने विप्रलम्भशृङ्गारको मनोहर रीतिसे प्रदर्शित किया है । इसको देखनेसे महाकविकी भारतीय नाट्यशास्त्रपर अधिकारिता प्रदर्शित होती है इसके नामकरणमें भी महाकविने अपने आश्रयदाताका परिचय ध्वनित किया है ।

(६) अभिज्ञानशाकुन्तल—यह संस्कृतसाहित्यमें ही नहीं प्रत्युत विश्वके उत्कृष्ट नाटकोंमें सर्वश्रेष्ठ है । इसमें महाभारतमें वर्णित चन्द्रवंशमें प्रसूत महाराज दुष्यन्त और शकुन्तलाकी कथा सात अङ्कों में अतिशय मनोरञ्जक शैलीसे प्रस्तुत की गई है । इसका भारतके बाहर भी पर्याप्त मात्रामें सम्मान हुआ है । इसका अनुवाद बहुत-सी भाषाओंमें हुआ है । जर्मनीके महान् दार्शनिक कवि (गेटे) (Goethe) ने आनन्दविह्वल होकर अभिज्ञानशाकुन्तलकी जो प्रशंसा की है उसीका यह संस्कृत प्रतिरूप है—

‘वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद्ग्रीष्मस्य सर्वं च यद्
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम् ।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो-
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे ! शाकुन्तलं सेव्यताम् ॥

महाकवि कालिदासने आर्यनारीके पतिव्रत्यकी महत्ताका चूडान्त निदर्शन इसमें प्रस्तुत किया है ।

मेघदूत

प्रस्तुत होनेसे अब मेघदूतके विषयमें कुछ बातें लिखी जाती हैं । जिस विषयको लेकर महाकवि कालिदासने मेघदूतकी अवतारणा की वह अतिशय मर्मस्पर्शी है । इसमें दो प्रकरण हैं पूर्वमेघ और उत्तरमेघ । कोई यक्ष कार्यमें प्रमाद करनेके कारण अपने प्रभु कुबेरके शापसे कैलास पर्वतमें अवस्थित अलकापुरीसे एक सालके लिए निर्वासित हुआ । इस प्रकार अपने

स्थानसे निर्वासित होकर अपनी प्राणेश्वरी प्रियतमासे बिछुड़नेसे शोकसे कृश होकर वह कामुक यक्ष रामगिरिके निर्जन श्रृङ्गके आश्रमोंमें रहा करता था। वह आषाढ़ मासके प्रथम दिवसमें नवीन मेघको देखनेसे अपनी प्रियतमाकी स्मृतिसे शोकाकुल होकर बहुत ही अधीर हो गया। कामार्त होनेसे उसे चेतन और अचेतनकी कुछ सुध न रही। मेघको 'पुष्करावर्तकोंके वंशमें उत्पन्न' कहकर यक्षने उसे अपनी प्रियतमाके पास सन्देश कहनेके लिए प्रार्थना की, क्योंकि मेघ उसके दूतकर्मको स्वीकार न भी करे तो भी उसमें 'याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाऽधमे लब्धकामा' (१-६) इसी उक्तिके अनुसार विशेष दुःख नहीं होगा।

"मेघको किस-किस मार्गका अवलम्बन करना होगा और क्या-क्या दृश्य देखना पड़ेगा उन सबको यक्ष एक-एक करके पूर्वमेघमें सविस्तार वर्णन करता है। रामगिरिसे उत्तराऽभिमुख होकर जाते-जाते अमरकूट पर्वत, नर्मदा नदी, विदिशा नगरी, वेत्रवती नदी, मालवकी राजधानी उज्जयिनी और धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र इन सबको अतिक्रमण कर मेघको अपने वासस्थल अलकामें पहुँचानेके लिए यक्ष निर्देशन करता है।"

उत्तरमेघमें यक्ष अलकापुरी और वहाँपर विद्यमान अपने प्रासादका अतिशय मनोहर वर्णन करता है। वह उद्वेल हृदयसे अपनी प्रियतमाकी सौन्दर्यसम्पत्तिका कथन करते-करते कल्पनाके बलपर उसकी विरहाऽवस्थाका निरतिशय करुणाभावसे वर्णन करने लग जाता है। यक्ष अपनी प्राणेश्वरीको पहचानेके लिए उसके लक्षणोंको बतलाकर 'मैं एक सालके अन्तमें (शापकी निवृत्ति होनेपर) प्रियतमाके पुनर्मिलनकी प्रत्याशासे प्राणधारण कर रहा हूँ' इस वार्ताको प्रियतमासे कहनेके लिए और उसे धीरज बँधानेके लिए मेघसे सविनय अनुरोध करता है।

मेघका गर्जन जैसे मनोहर ध्वनिवाला है उसी तरह काव्यध्वनि भी अत्यन्त गम्भीर और मर्मस्पर्शी है। ध्वनि ही काव्यका प्राण है। यक्ष कैसे अपने कर्तव्यसे च्युत हुआ और उसका कनकवलय कैसे भ्रष्ट हुआ इसे सहृदय पाठक ही समझ सकेंगे। दुःसह ग्रीष्मके अवसानमें मेघका आलोक होनेपर मनुष्यके हृदयमें उसमें भी विशेषतः प्रणयी और प्रणयिनी के हृदयमें कैसी भावधारा प्रवाहित होने लगती है यह विषय सहृदय व्यक्तिके हृदयसे ही संवेद्य हो सकता है। महाकविने पूर्वमेघमें केवल उद्दीपक पदार्थोंका वर्णन किया है और उत्तरमेघमें उनका वर्णनीय विषय है अलकापुरी, यक्षका आवासगृह और उसकी प्राणाऽधिका प्रियतमा। इस प्रकार महाकविने संभोगश्रृङ्गारकी पुष्टिके लिए शापप्रवासमूलक विप्रलम्भ श्रृङ्गारका अतिमनोहर प्रदर्शन किया है, कहा भी गया है :—

'न विना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमश्नुते।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्द्धते ॥'

महाकवि कालिदास यद्यपि अनेक छन्दोंके प्रयोगमें सिद्धहस्त हैं तथाऽपि उन्होंने इसमें अत्यन्त श्रुतिमधुर मन्दाक्रान्ता छन्दका अवलम्बन किया है। कालान्तरमें प्रायः समस्त दूतकाव्योंमें उसका अनुकरण किया जाने लगा। प्रकृत प्रबन्धका नायक यक्ष विरहसे कातर है। शोक और दुःखके कारण उसकी क्रियाशक्ति नितान्त मन्द पड़ गई है। इसीसे वह

विहगके समान करुण और मर्मस्पर्शी स्वरमें मन्दाक्रान्ता छन्दमें रुक-रुककर कान्ताके पास भेजनेके लिए सन्देश बता रहा है। यहाँपर हृदयके भावके साथ छन्दका अपूर्व साहचर्य हो गया है। काव्यकी ध्वनि, छन्द और रीति यक्षके करुणकण्ठमें मिश्रित होकर एक अपूर्व काव्यकी सृष्टि हो गई है। भारतवर्षके मानचित्रमें जिन-जिन स्थानोंका नामनिर्देश देखा जाता है, महाकवि कालिदासके इस काव्यरूप मानचित्रमें उन-उन स्थानोंकी मनोरम झांकी हमें मिल जाती है। कहीं मयूर कण्ठ उन्नत करता हुआ दिखाई पड़ता है तो कहींपर नदीके विमल सलिलमें उद्वर्तन करती हुई शफरी दृष्टिगोचर हो जाती है, कहींपर राजपथमें युवतियोंकी कवरीसे गिरा हुआ पुष्प देखा जाता है तो कहींपर कोई अङ्गना करतालिकासे मयूरको नचा रही है और उसका बाहुभूषण काञ्चनकङ्कणकी रणरण ध्वनि हो रहो है। इस प्रकार महाकविने प्रकृतिके मनोरम और भव्य चित्रोंसे अपनी इस कृतिको सजाया है। परन्तु इस लोकोत्तर रचनामें केवल प्रकृतिका मनोरम चित्र नहीं है विचारपूर्वक निरीक्षण करनेवालोंको इसमें चरित्रका अनुकरणीय आदर्श भी मिल जाता है।

इसका नायक यक्ष देवयोनिविशेष है, अलकापुरीका वह नागरिक है। स्वर्गके समान अलकापुरी भी केवल भोगभूमि है कर्मभूमि नहीं और यक्षयोनि केवल भोगयोनि है कर्मयोनि नहीं। इस स्थितिमें वह शापप्राप्त मर्त्यलोकमें भी नरलोककी रमणीसे परिणयकर उसके सहवासद्वारा शापकालको बिता सकता था, पर नहीं, एकपत्नीव्रतका व्रती होकर उसने विक्षिप्तप्रायतासे शापकालका अतियापन किया है। इसी प्रकार उसकी पत्नीने भी सहधर्मचारिणीके धर्मका उत्कृष्ट आचारण कर सतीव्रतको अक्षत रक्खा है।

इस प्रकार इस काव्यरत्नमें उत्कृष्ट आदर्शका भी दर्शनीय दर्शन मिल जाता है। प्रो० मैकडोनलने इसे गीतिकाव्य (Lyric) कहा है यह समुचित ही प्रतीत होता है।

मेघदूतमें सञ्जीवनी नामकी टीकाके रचयिता महोपाध्याय मल्लिनाथजीके मताऽनुसार पूर्वमेघमें ६३ और उत्तरमेघमें ५२ इस प्रकार इस काव्यमें कुल ११५ श्लोक हैं।

अन्य टीकाकारोंके मतमें इनके सिवाय कुछ अधिक श्लोक माने गये हैं, परन्तु मल्लिनाथजी उन्हें प्रक्षिप्त मानते हैं।

चौदहवीं शताब्दीके दक्षिणावर्तनाथने कुल ११० श्लोकोंकी व्याख्याकी है। टीकाकारोंमें मल्लिनाथसे सम्मत पाठ ही सबसे उत्कृष्ट और प्रामाणिक है।

८३७ खृष्टाब्दमें अमोघवर्षके राज्यकालमें जिनसेन नामके जैनविद्वान्‌ने 'पार्श्वाऽभ्युदय'-नामके अपने काव्यग्रन्थमें ३६४ मन्दाक्रान्तावृत्तोंमें मेघदूतके श्लोकोंके चरणोंको समस्यापूर्ति करनेके लिए अवलम्बन किया है। इस प्रकार पार्श्वाऽभ्युदयमें स्थित मेघदूतके श्लोकोंका परिगणन करनेपर नवमशताब्दीमें मेघदूतका पाठ किस प्रकारका था इसका स्वरूप जाना जा सकता है। परन्तु पार्श्वाऽभ्युदयस्थित पाठके साथ मल्लिनाथसम्मत मेघदूतके पाठका पार्थक्य है। इसी प्रकार 'नेमिदूत' नामक काव्यके कर्ता विक्रम कविने मेघसन्देशके पद्योंके चतुर्थ चरणोंको अपने काव्यमें चतुर्थ चरणोंमें रक्खा है। ये विक्रमकी १५ वीं शताब्दीमें प्रादुर्भूत हुए थे। नेमिदूतमें कुल १२६ श्लोक हैं। संस्कृत साहित्यमें मेघदूतकी जो नवीनता और मनोहरता है उसका विश्वके साहित्यसंसारमें अनुकरण भी पर्याप्त मात्रामें हो गया है।

संस्कृत साहित्यमें ही अबतक कुल ५१ दूतकाव्योंकी रचना जानी गई है। इनमें बारहवीं शताब्दीके धोयी कविका पवनदूत, तेरहवीं शताब्दीके वेदान्तदेशिकका हंससन्देश, पन्द्रहवीं शताब्दीके रूपगोस्वामीका हंसदूत और सत्रहवीं शताब्दीके कृष्णानन्द सार्वभौमका पदाङ्कदूत इतने दूतकाव्य अधिक प्रसिद्ध हैं।

इनके सिवाय पन्द्रहवीं शताब्दीके उद्दण्डशास्त्री और जैन विद्वान् मेरुतुङ्गके यथाक्रम कोकिलसन्देश और जैन मेघदूत, सत्रहवीं शताब्दीके वेदिचन्द्र सूरिका पवनदूत और अठारहवीं शताब्दीके वैद्यनाथका तुलसीदूत ये भी प्रसिद्ध हैं। किन्तु कविकुलगुरु और वाग्देवताके विलासरूप कालिदासके मेघदूतमें जो कमनीयता, श्रुतिमनोहरता और प्रतिक्षण-नूतनता आदि विशेषता पाई जाती है वह अन्यत्र कहाँ मिल सकती है ?

संस्कृत साहित्यके महान् नाटककार भवभूतिने भी मालतीमाधव नामके अपने प्रकरणमें मेघके प्रति माधवसे—

'कच्चित्सौम्य ! प्रियसहचरी विद्युदालिङ्गति त्वा-
माविर्भूतप्रणयसुमुखाश्चातका वा भजन्ते ?
पौरस्त्यो वा सुखयति मरुत्साधु संवाहनाभि-
र्विष्वग्विभ्रत्सुरपतिधनुर्लक्ष्म लक्ष्मीवदेतत् ।।'

(मालतीमाधव ९-२५)

'दैवात्पश्येर्जगति विचरन्मत्प्रियां मालतीं चे-
दाश्वास्यादौ तदनु कथयेर्माधवीयामवस्थाम् ।
आशातन्तुर्न च कथयताऽत्यन्तमुच्छेदनीयः
प्राणत्राणं कथमपि करोत्यायताक्ष्याः स एकः ।।'

(मालतीमाधव ९-२६)

ऐसा सन्देश कहलाया है। इन दो श्लोकोंमें स्पष्टरूपसे मेघदूतका अनुकरण दृष्टिगोचर हो रहा है।

इस प्रकार भारतवर्षमें ही नहीं यूरोपमें भी मेघदूतको पर्याप्त प्रतिष्ठा और अनुकरणीयता देखी गई है। जर्मनीके दार्शनिक तथा कविश्रेष्ठ गेटे (Goethe) और उनके मित्र शीलरने इसकी बहुत प्रशंसा की है शीलर (Schiller) तो मेघदूत से प्रभावित होकर उसके अनुकरणपर 'मेरिया ष्टुअर्ट' (Maria stuart) लिखकर चिरस्मरणीय हो गये हैं।

मेघदूतकी टीकाएँ

मेघदूतपर लगभग ३२ टीकाएँ हैं, ऐसा विदित होता है। उनमें दक्षिणावर्तनाथकी टीका, चरित्रवर्धनी, मल्लिनाथकी सञ्जीविनी और पूर्णसरस्वतीकी विद्युल्लता ये टीकाएँ बहुत प्रसिद्ध है।

मेघदूतका उपजीव्य

महोपाध्याय मल्लिनाथजीका कहना है कि भगवान् रामचन्द्रने सीताजीके लिए हनूमान्को जो सन्देश दिया था उसीको मनमें रखकर महाकवि कालिदासने मेघदूतकी रचना की है। सूक्ष्म विचार करनेपर यह बात समीचीन प्रतीत होती है। 'जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु (पू० मे० १२)' 'रघुपतिदैरङ्कितं मेखलासु (पू० मे० १२)' 'दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः (पू० मे० ५८)' और 'इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा (उ० मे० ३७)' इन श्लोकोंको देखनेसे भी यह उक्ति सबल हो जाती है। इसी प्रकार रामायणमें ही कहा गया हनूमानजीका हाथी और पर्वतकी चोटीसे सादृश्य तथा कामरूपत्व (इच्छाके अनुसार रूप लेना) महाकविने मेघमें भी दिखलाया है। इसी प्रकार सुवेल पर्वतपर स्थित लङ्काके समान कैलास पर्वतमें स्थित अलकाका वर्णन करनेसे, लङ्कामें हनूमानके समान अलकामें मेघका सायङ्कालमें प्रवेश करानेसे, हनूमान्जीने लङ्कामें प्रवेश करनेके लिए जैसे रातको शरीर छोटा किया था उसी प्रकार यक्षसन्देश कहनेमें मेघका छोटा शरीर करानेसे, अशोकवाटिकामें रामचन्द्रके विरहशोकसे सीताजीकी तरह यक्षपत्नीकी करुण अवस्थाके वर्णन करनेसे तथा सन्देश कहनेके समय रामायणके समान अभिज्ञान देनेसे तथा अन्य अनेक उपपत्तियोंसे भी महाकवि कालिदासने अपनी कृति मेघदूतमें रामायणका ही भली भाँतिसे अनुकरण किया है यह बात अच्छी तरह हृदयङ्गम हो जाती है। इन सब बातोंको महाकविने कहीं समासोक्तिसे और कहीं अप्रस्तुतप्रशंसासे तो कहीं व्यञ्जनासे दिखलाया है। सूक्ष्मदृष्टिसे निरीक्षण करनेवाले सहृदयोंको इसका पता चल जाता है।

इस प्रकार किसीको दूत बनाकर किसी आत्मीयके पास सन्देश भेजनेकी बात क्या वेद क्या लोक में भी बहुत स्थलोंपर मिलती है।

श्रीमद्भागवतमें शिशुपालसे अपने विवाहकी बात निश्चित होनेपर रुक्मिणीने एक ब्राह्मणको दूत बनाकर भगवान् श्रीकृष्णके पास सन्देश भेजा है।

दूतकाव्यका सर्वप्रथम प्रणयन महाकवि कालिदासने किया है। बहुभाषावेत्ता बङ्गीय विद्वान हरिनाथ देने 'कालिदासके पूर्व चीनके कवि स्यूकाङ् (Hsiukan) ने मेघको दूत बनाया है' ऐसा लिखा है। 'परन्तु स्यूकाङ्का समय खृष्टको द्वितीय शताब्दी है, इसलिए विक्रमकी प्रथमशताब्दीमें विद्यमान महाकवि कालिदास दूत-काव्यके सर्वप्रथम स्रष्टा है इसमें किसी प्रकारकी अनुपपत्ति नहीं।

मेघदूतके कथानकका उपजीव्य

इस प्रकार हम देख रहे हैं कि मेघदूतमें सन्देशप्रेषणके विषयमें उपजीव्य 'रामायण' है। अब मेघदूतमें जो कथानक है, उसका उपजीव्य क्या है? इसका विचार प्रस्तुत स्थलमें अभीष्ट है। यक्षको उसके स्वामी अलकाऽधीश्वर कुबेरने जो शाप दिया है उसका आधार ब्रह्मवैवर्तपुराण है। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें विद्यमान 'योगिनी'नामकी आषाढकृष्ण एकादशीके माहात्म्यमें एक कथा है। वह कथा भगवान् श्रीकृष्णने युधिष्ठिरको बतलाई है। वह इस

प्रकारकी है—अलकाके अधिपति यक्षराज कुबेर शिवजीके भक्त थे। वे प्रतिदिन शिवजीकी पूजा करते थे। कुबेरकी शिवपूजामें प्रतिदिन फूलोंको तोड़कर लानेवाला "हेममाली"नामका एक अनुचर था। उसकी पत्नी "विशालाक्षी" नामकी बहुत सुन्दरी थी। एक दिनकी बात है कि हेममाली मानसरोवरसे बहुतसे फूलोंको तोड़कर भी कामवश होकर अपने स्वामी कुबेरके पास न जाकर पत्नीके समीप रहा। उधर कुबेरजी मध्याह्नमें शिवजीकी पूजा करनेके लिए फूलोंकी प्रतीक्षामें बैठे थे। जब नियत कालका अतिक्रमण हुआ तब उन्होंने शिवजीका तिरस्कार करनेके कारण उस यक्षको कुष्ठरोगी होकर सालभर कान्तासे बिछुड़कर मर्त्यलोकमें रहनेके लिए शाप दिया। इसी प्रकार महाकविने भी अलकापुरीमें रहने वाले किसी यक्षको शापवश चित्रकूटमें रहनेवाला बताया है। आषाढ कृष्णपक्षकी "योगिनी" नामक एकादशीका व्रत करनेसे यक्ष शापनिर्मुक्त हो गया इस पौराणिक अंशको काव्यके अनुगुण न होनेसे महाकविने छोड़ दिया है।

इस प्रकार महाकविने काव्यके उपयुक्त पुराणका अंश लेकर कथानककी रचनाकी और अनुपयुक्त अंश छोड़कर यक्षसे मेघके द्वारा प्रियाको सन्देशप्रेषणके प्रसङ्गमें अपनी अनुपम कल्पनाशक्तिका प्रदर्शन किया है। ऐसे ही विषयको लेकर कहा भी गया है कि "न हि कवेरितिवृत्तमात्रेणाऽऽत्मलाभः, इतिहासादेरेव तत्सिद्धेः" (ध्वन्यालोक)। अर्थात् कोरा वृत्त तो इतिहास और पुराणसे ही सिद्ध हो जाता है, तात्पर्य यह है कि कविको कवित्वसिद्धिके लिए रस आदि विषयोंकी प्रधानतया अवतारणा करनी चाहिए।

इस प्रकार महाकवि कालिदासने सन्देशप्रेषणकी प्रणालीमें रामायणका और कथानकमें अंशतः ब्रह्मवैवर्तपुराणका अनुसरण कर इन्हीं दो भित्तियोंपर अपने अनुपम वाग्विलासका प्रकाश किया है। इस विषयका मैंने आजसे नौ वर्ष पूर्व नेपालसे निकले हुए 'संस्कृत-सन्देश' नामके मासिक पत्रके प्रथम वर्षके चतुर्थ अङ्कमें प्रकाशन किया था। मूलग्रन्थके विशेष प्रमाण लिए पाठक महोदय इसीमें अन्यत्र प्रकाशित संस्कृत भूमिकाके रूपमें उसका निरीक्षण करनेका अनुग्रह करें।

मेघदूतके अनुवाद

विश्वकी अनेक भाषाओंमें मेघदूतका अनुवाद हो चुका है। इसका सबसे प्राचीन अनुवाद खृष्टकी १२ वीं शताब्दीने तिब्बती भाषामें हुआ था जिसकी एक प्रति तञ्जौरके ग्रन्थसंग्रहमें सुरक्षित है। इसीके आधारपर सन् १९०६ में जर्मन विद्वान् डॉ० बेख (Beckeh) ने जर्मन भाषामें मेघदूतका अनुवाद किया। सन् १८१३ में एच० एच० विल्सनने अंग्रेजीमें अनुवाद किया। सन् १८४७ में बोनमे गिल्डमीस्टर (Gildemeister) ने लैटिनमें और सन् १८४७ में मैक्समूलरने जर्मनीमें मेघदूतका अनुवाद किया। लङ्कावासी टी० बी० पानबोरोने सन् १८८३ में कोलम्बोसे सिंहल भाषामें अनुवाद किया। अमेरिकाके विद्वान् आर्थर राइडर (Arthur Ryder) ने मेघदूतका पद्यानुवाद किया है।

स्वर्गीय राजा लक्ष्मणसिंहने ब्रजभाषामें अतिमधुर अनुवाद किया हैं। इसी प्रकार आचार्य केशवप्रसाद मिश्रने हिन्दीमें समश्लोकी अनुवाद किया है। सेठ कन्हैयालाल पोद्दारजीने भी समश्लोकी अनुवादके साथ हिन्दी मेघदूत-विमर्श लिखा है।

हिन्दू विश्वविद्यालयके भारतीय महाविद्यालयके भूतपूर्व प्रधानाचार्य डॉ० वासुदेवशरण अग्रवालने भी 'मेघदूत : एक अध्ययन' नामक ग्रन्थमें मेघदूतके विशद अनुवादके साथ अतिशय महत्वपूर्ण आध्यात्मिक विश्लेषण किया है। पंजाब विश्वविद्यालयके हिन्दीविभागाध्यक्ष आचार्य श्रीहजारीप्रसाद द्विवेदीने भी एक पुरानी कहानीके रूपमें मेघदूतका मनोहर शैलीमें सविस्तार वर्णन किया है।

इसी तरह स्वर्गीय शारदारञ्जन राय और मोरेश्वर रामचन्द्र काले आदि विद्वानोंने मेघदूतके संस्कृत और अंग्रेजीमें व्याख्या, अनुवाद और टिप्पणी आदि गवेषणापूर्ण कार्य किये हैं।

बङ्गला, मराठी, गुजराती, तैलगु, नेपाली और कन्नड़ आदि बहुत-सी भाषाओंमें मेघदूतके अनेक अनुवाद प्रकाशित हुए हैं।

मेघदूतका महत्व

इस प्रकार हम देख रहे हैं कि न केवल दूतकाव्योंमें प्रत्युत विश्वके समस्त काव्योंमें मेघदूतका अप्रतिम स्थान है। अब हम कुछ पङ्क्तियोंमें उसका महत्व दरसानेका प्रयत्न करते हैं।

सन्देश पहुंचानेवालेको 'दूत' कहते हैं। दूतके तीन भेद होते हैं निसृष्टार्थ, मिताऽर्थ और सन्देशहारक। (१) जो दोनोंका (जिसने भेजा और जिसके पास भेजा गया है) भाव जानकर सन्देश कहता है और कार्यको सफल करता है उसे 'निसृष्टाऽर्थ' कहते हैं, जैसे हनूमान् आदि। वह सबमें उत्तम होता है। (२) परिमित बात कर कार्यको सिद्ध करनेवालेको मिताऽर्थ" कहते हैं। वह मध्यम होता है। अभिज्ञानशाकुन्तलमें मिश्र-केशी मेनकाकी "मितार्थ" दूती है।[3]

भेजनेवालेने जितना कहा है उतना ही कहनेवालेको "सन्देशहारक" कहते हैं। कल्पनाशक्तिके अभावसे यह सबसे निकृष्ट है। मालतीमाधवमें चतुर्थ अङ्कमें नन्दनसे भेजा गया पुरुष सन्देशहारक दूत है।[4]

रामायण महाकाव्यके रचयिताने हनुमान्‌जीको निसृष्टाऽर्थके रूपमें प्रदर्शित किया है, उसी तरह महाभारतमें व्यासजीने युधिष्ठिरके दूत भगवान् श्रीकृष्णको कौरवोंकी राजसभामें निसृष्टाऽर्थके रूपमें चित्रित किया है। श्रीमद्भागवतमें भी रुक्मिणीसे भगवान् श्रीकृष्णके पास भेजे गये ब्राह्मण निसृष्टाऽर्थ दूतके ही रूपमें दृष्टिगोचर होते हैं। इस स्थितिमें प्रकृत प्रबन्ध मेघदूतमें महाकवि कालिदासने जो अचेतन मेघको दूत बनाया है उसका इन तीन भेदोंमें किसमें

---

१. निसृष्टार्थो मितार्थश्च तथा सन्देशहारकः ।
कार्यप्रेष्यस्त्रिधा दूतो दूत्यश्चापि तथाविधा ॥ (साहित्यदपण ३-५८)

२. उभयोर्भावमुन्नीय स्वयं वदति चोत्तरम् ।
सुश्लिष्टं कुरुते कार्यं निष्टार्थस्तु स स्मृतः ॥ (साहित्य० ३-५९)

३. मितार्थभाषी कार्यस्य सिद्धिकारी मितार्थकः । (साहित्य० ३-६०)

४. यावद्भाषितसन्देशहारः सन्देशहारकः । (साहित्य० ३-६०)

समावेश हो सकता है ? किसीमें भी नहीं । क्योंकि अचेतन पदाऽर्थ न वक्ताका वाक्य आत्मसात् कर पाता है न बोद्धव्यके पास ही उसका संक्रमण कर सकता है, कार्यकी सिद्धिकी बात तो दूरकी रही । इसी अनुपपत्तिको लक्ष्य करके महाकविने सफाई दी है—

"धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः ?
सन्देशाऽर्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः ?
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाऽचेतनेषु ॥"

(मेघदूत, पूर्वमेघ-५)

पर भले हो महाकवि इसमें मेघको धूम, ज्योति, जल और वायुका समूह कहकर अपनी वैज्ञानिक अभिज्ञता दिखावें पाठकके हृदयमें कुछ सन्देह बना ही रहता है कि महाकविने ऐसा क्यों किया ? सूक्ष्म दृष्टिसे निरीक्षण करनेपर ज्ञात होता है कि इस विषयमें कविने अपनी असाधारण प्रतिभा दिखलाई है ।

जहाँ साधारण व्यक्ति अधिकतर अभिधावृत्तिसे अपने अभिप्रायका प्रदर्शन करते हैं वहाँ मध्यम प्रतिभावाले लक्षणावृत्तिके द्वारा अपने भावको लक्षित करते हैं । परन्तु परिपक्व विचारवाले व्यक्ति लक्षणाकी भी सतहसे ऊपर उठकर व्यञ्जनाके द्वारा अपने आशयको सूक्ष्म रूपसे अभिव्यक्त करते हैं । महाकवि कालिदास ध्वनिकवि हैं, अपनी रचनामें इसी वृत्तिके द्वारा उन्होंने अपनी कल्पनाका अनल्प चमत्कार दिखलाया है ।

अचेतन होते हुए भी मेघका इस रहस्यपूर्ण संसारमें महत्त्वपूर्ण स्थान है; सृष्टिप्रक्रियामें—**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी ।**"[1] उपनिषत्की इस उक्तिके अनुसार ब्रह्मरूप आत्मासे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथिवी उत्पन्न होती है । सो इस पार्थिव जगत्की उत्पत्तिका कारण जल है, वही जल अग्निसे उत्पन्न होता है । अग्नि तेजका उपलक्षण है । समुद्र आदि जितने जलाशय हैं उनके रसको सूर्यनारायण अपने रश्मिसमूहसे विकर्षण करते हैं और वह सब अन्तरिक्षमण्डलमें अवस्थित मेघमें वाष्परूपसे एकत्र हो जाता है । वर्षा ऋतुमें मेघद्वारा वही जल भूमिपर गिरता है और उसीसे ओषधि, अन्न आदि उत्पन्न होते हैं इस प्रकार भूमण्डलके जीवमात्रका पोषण होता है ।

ग्रीष्मसन्तप्त चराचर जगत्को इस प्रकारसे मेघ जलकी वृष्टिसे संतापका अपनयन और औषध-अन्न आदिसे आप्यायन करता है, अतः भौतिक जगत्में मेघका अतिशय महत्त्व है ।

जलपूर्ण नील मेघमें ही वितरणकी शक्ति निहित है और वही चराऽचरका योग और क्षेमका निर्वाहक है । अतः जैसे शक्तिहीन शिव शवसमान है इसी तरह जलहीन मेघका शुक्लवर्णवाला होनेपर भी कुछ मूल्य नहीं है अर्थात् न तो वह सन्तापका अपनोदन कर सकता है न वृष्टि के द्वारा सृष्टिका कार्य ही संभाल सकता है । इसीलिए तार्किकप्रवर विश्वनाथ

---

[1] तैत्तिरीयोपनिषद्, २-१ ।

भट्टाचार्यने अपनी कारिकावलीमें “नूतनजलधररुचये” अर्थात् नये मेघकी तुल्य कान्तिसे सम्पन्न लिखकर भगवान् श्रीकृष्णके विशेषणका प्रदर्शन किया है। इस प्रकार जैसे सृष्टिप्रक्रियामें मेघका महत्त्वपूर्ण कृत्य है उसी प्रकार संहारमें भी उसकी शक्ति असीम है। प्रलय समयमें वह संवर्त्त-मेघमें रूपमें अनवरत जलकी वृष्टि कर और सैकड़ों वर्षोंतक वृष्टिकार्य अवरुद्ध रख प्रखर सूर्यकरकी दुःसहतामें सहायक बनकर निखिल विश्वका संहार करता है। इस कारणसे भगवान्के विराट् शरीरमें एक अङ्गके रूपमें अवस्थित उस मेघमें अङ्ग और अङ्गीमें अभेद भावना रख परमात्मबुद्धिसे कविनिबद्ध वक्ता यक्षने अपने सन्देशवहन कार्यके लिए उपयुक्त पात्र बनाया है। इसी विशेषताके कारण मेघका कहीं भगवान् कृष्णके तो कहीं भगवान् शङ्करके शरीरके उपमानके रूपमें कीर्तन किया गया है। इसी प्रकारसे—

“इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।”
“रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।”
“त्वं स्त्री पुमानुत वा कुमारी।”

उपनिषदोंके परमात्मस्वरूप ऐसे वचनोंके अनुसार महाकविने **“जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।”** ऐसा लिखकर मेघको कामरूप (इच्छाके अनुसार अनेक रूपोंको लेनेवाला) बतलाया है।

इसी कारण महाकवि कालिदासने चेतन किसी व्यक्तिका ग्रहण न कर यक्षके द्वारा मेघको सन्देशवाहक दूत बनाकर अपनी अनोखी सूझ-बूझको ध्वनित किया है।

मैंने अपनी टीकामें सञ्जीविनी विद्युल्लता आदि व्याख्याओंसे विशेष सहायता ली है। अन्यान्य जिन ग्रन्थकारोंसे मुझे अपनी कृतिमें सहायता मिली है उन सबके प्रति मैं हृदयसे कृतज्ञताज्ञापन करता हूँ। उपोद्घातमें सहायता देनेके कारण चिरञ्जीव श्रीदिनेशचन्द्र रेग्मी एम० ए० (प्रीवियस) और श्रीजगदीशचन्द्रशर्मा एम० ए० (प्रीवियस) को शुभाशीर्ज्ञापन करता हूँ।

रामनवमी
वि० सं० २०२५

विनीत—
शेषराजशर्मा

---

१. मेघदूत, १–६ ।

काव्यका स्वरूप, प्रकार और रसादिविषय

काव्य—"रमणीयाऽर्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्"[1] पण्डितराज जगन्नाथकी इस उक्तिके अनुसार रमणीय अर्थका प्रतिपादन करनेवाले शब्दको "काव्य" कहते हैं। उसके दो भेद होते हैं—दृश्य और श्रव्य[2]। अभिनयसे जिसका प्रदर्शन किया जाता है उसे "दृश्य" अथवा "रूपक" कहते हैं।[3] उसके नाटक आदि भेद हैं। नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल आदि प्रसिद्ध हैं।

श्रव्य काव्यके भी तीन भेद होते हैं—गद्य, पद्य और मिश्र (चम्पू)।

गद्य काव्यके भी दो भेद होते हैं कथा और आख्यायिका।

कथाका उदाहरण कादम्बरी है और आख्यायिकाका उदाहरण हर्षचरित है।

मिश्र काव्यमें गद्य और पद्य दोनों होते हैं उसे "चम्पू" कहते हैं।[4] उसका उदाहरण विश्वगुणादर्श है।

पद्य काव्यके तीन भेद हैं—महाकाव्य, खण्डकाव्य और कोष।

महाकाव्य—महाकाव्यमें आठसे अधिक सर्ग होते हैं। उसका नायक देवता वा धीरोदात्त गुणोंसे सम्पन्न कुलीन क्षत्रिय होता है। उसीके चरित्रका इसमें सविस्तर वर्णन होता है। इसमें शृङ्गार, वीर और शान्त इनमें एक रस अङ्गी (प्रधान) होता है और अन्य रस अङ्ग होते हैं। इसमें प्रभात, मध्याह्न, सन्ध्या और ऋतु आदिका वर्णन होता है।[5] इसके उदाहरण रघुवंश, कुमारसम्भव आदि हैं।

खण्डकाव्य—"खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशाऽनुसारि च"।(५) इस लक्षणके अनुसार महाकाव्यके एक भागका अनुसरण करनेवालेको "खण्डकाव्य" कहते हैं। इसमें समूचा चरित्र वर्णित न होकर उसके एक ही भागका वर्णन होता है। इसके उदाहरण मेघदूत और ऋतुसंहार आदि हैं।

मेघदूत—प्रस्तुत प्रबन्ध मेघदूत खण्डकाव्यके रूपमें प्रसिद्ध है। आलङ्कारिक दण्डी कविके अनुयायी इसे महाकाव्य मानते हैं। पाश्चात्य विद्वान् इसे गीतिकाव्य (Lyric) कहते हैं। इसके दो भाग हैं—पूर्वमेघ और उत्तरमेघ।

मेघदूतका नायक यक्ष है।

---

१. रसगङ्गाधर (प्रथम आनन)।

२. "दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।" साहित्यदर्पण-छठा परिच्छेद १।

३. "दृश्यं तत्राभिनेयं तद्रूपारोपात्तु रूपकम्।" वही १।

४. "गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।" वही ३१३।

५. देखिए, साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद।

"सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरप्रशान्तः स्यात् ॥" सा० द० ३–३४ ।

"अनुकूल एकनिरतः ॥" सा० द० ३–३७ ।

इन उक्तियोंके अनुसार यक्ष धीर प्रशान्त तथा एक ही नायिकामें आसक्त होनेके कारण अनुकूल नायक है ।

नायिकाके तीन भेद होते हैं—स्वकीया, परकीया, और साधारणी। यक्षकी पत्नी

"विनयाऽऽर्जवादियुक्ता गृहकर्मपरा पतिव्रता स्वीया ।" सा० द० ३–५७ ।

इस उक्तिके अनुसार स्वकीया नायिका है। पति प्रवासी है, इसलिए वह "प्रोषितभर्तृका" भी है।

श्रृङ्गार रसके दो भेद हैं सम्भोग और विप्रलम्भ। उनमें—

"यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाऽभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ ।" सा० द० ३–१८७ ।

इस उक्तिके अनुसार यहाँ विप्रलम्भ श्रृङ्गार ।

विप्रलम्भ श्रृङ्गारके भी चार भेद होते हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण ।

"प्रवासो भिन्नदेशित्वं कार्याच्छापाच्च संभ्रमात् । सा० द० ३–२०४ ।

इस उक्तिके अनुसार यहांपर कुबेरके शापके कारण प्रवासात्मक विप्रलम्भश्रृङ्गार है।

इस प्रकार यहांपर नायक यक्ष और नायिका यक्षपत्नी, ये दो आलम्बनविभाव, मेघ-प्रादुर्भाव आदि उद्दीपनविभाव, ज्ञानशून्यत्व आदि अनुभाव, ग्लानि आदि व्यभिचारी भाव और रति स्थायी भाव हैं।

"चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवाऽनलः ।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ॥" सा० द० ८–८ ।

इस उक्तिके अनुसार यहांपर प्रधानतया प्रसाद गुण है, कहीं-कहींपर माधुर्य भी देखा जाता है।

"माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललिताऽऽत्मिका ।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥" सा० द० ९–२ ।

इस उक्तिके अनुसार समस्त पदोंकी अल्पताके कारण यहांपर अधिकतर रूपमें वैदर्भी रीति है।

◆

Sri Sankaracharya Sanskrit Mahavidyalaya
611

कालिदासकी प्रशस्तियाँ

१ लिप्ता मधुद्रवेणाऽऽसन् यस्य निर्विवशा गिरः।
तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम्॥
[दण्डी, अवन्तिसुन्दरीकथा]।

२ निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥ १-१६१।
[बाणभट्ट, हर्षचरित]।

३ अमृतेनेव संसिक्ताश्चन्दनेनेव चर्चिताः।
चन्द्रांऽशुभिरिवोद्घृष्टाः कालिदासस्य सूक्तयः॥
[जयन्त, न्यायमञ्जरी]।

४ एकोऽपि जीयते हन्त! कालिदासो न केनचित्।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु॥
[राजशेखर]।

५ साकूतमधुरकोमलविलासिनीकण्ठकूजितप्राये।
शिक्षासमयेऽपि मुदे रतिलीलाकालिदासोक्ती॥
[गोवर्द्धनाचार्य, आर्यासप्तशती]।

६ भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः। २-२२।
[जयदेव, प्रसन्नराघव]।

७ कालिदासगिरां सारं कालिदासः सरस्वती।
चतुर्मुखोऽथ वा साक्षाद्विदुर्नान्ये तु मादृशाः॥
[मल्लिनाथ]।

८ सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवल्गति।
सदश्वदमकस्येव काम्बोजतुरगाङ्गना॥
[क्षेमेन्द्र; सुवृत्ततिलक]।

९ उपमा कालिदासस्य……………

[उद्भट]।

१० माहिषं दधि, सशर्करं पयः, कालिदासकविता, नवं वयः।
शारदेन्दुरबला च कोमला स्वर्गशेषमुपभुञ्जते जनाः॥
[उद्भट]।

११ पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाऽधिष्ठितकालिदासः ।
अद्याऽपि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका साऽर्थवती बभूव ॥
१२ काव्येषु नाटकं रम्यं, तत्राऽपि च शकुन्तला ।
तत्राऽपि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम् ॥
१३ माघे मेघे गतं वयः ।

[मल्लिनाथ]

१४ वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यत्
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम् ।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो-
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे! शाकुन्तलं सेव्यताम् ॥
—गेटे (Goethe) [अनुवादकः म० म० वासुदेव विष्णुः मिराशी]।
१५ ख्यातः कृती सोऽपि च कालिदासः, शुद्धा सुधा स्वादुमती च यस्य ।
वाणीमिषाच्चन्द्रमरीचिगोत्रसिन्धोः परं पारमवाप कीर्त्तिः ॥

[सोढ्वलः]

१६ "अस्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते ।"

[आनन्दवर्द्धनाचार्यः]।

१७ अस्पृष्टादोषा नलिनीव दृष्टा, हाराऽऽवलीव ग्रथिता गुणौघैः ।
प्रियाऽङ्कपालीव विमर्दहृद्या न कालिदासादपरस्य वाणी ॥

[श्रीकृष्णः]।

* * *

मेघदूतस्य सुभाषितानि

१ "मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः
कण्ठाऽऽश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ? ।" [१-३]।
२ "कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाऽचेतनेषु ।" [१-५]।
३ "याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाऽधमे लब्धकामा ।" [१-६]।
४ "आशावन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥" [१-१०]।
५ "न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृताऽपेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः ।" [१-१७]।
६ "रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ।" [१-२०]।
७ "स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ।" [१-२८]।
८ "मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेताऽर्थकृत्याः ।" [१-३८]।
९ "ज्ञाताऽऽस्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः ?" [१-४१]।
१० "आपन्नाऽऽर्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम् ।" [१-५३]।
११ "के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलाऽऽरम्भयत्नाः ? ।" [१-५४]।
१२ "सूर्याऽपाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् ।" [२-१९]।
१३ "प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्राऽन्तरात्मा ।' [२-३२]।
१४ "कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः सङ्गमात्किञ्चिदूनः ।" [२ ३९]।
१५ "कस्याऽत्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकाऽन्ततो वा ।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥" [२-४८]।
१६ "स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ।" [२-५१]।
१७ "प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सिताऽर्थक्रियैव ।" [२-५३]।

मेघदूतस्थ भौगोलिक शब्दोंका संक्षिप्त विवरण

रामगिरि [१-१]=मल्लिनाथजीने इसे चित्रकूट लिखा है। चित्रकूट पर्वत बुन्देलखण्डमें है, पर बहुतसे विद्वानोंके मतसे यह मध्यप्रदेशस्थित रामगढ़ पर्वत माना गया है । कोई इसे रामटेक भी मानते हैं ।

अलका [१-७]=यह कैलास पर्वतमें अवस्थित यक्षोंकी पुरी है।

कैलास [१-११] = हिमालयके उत्तरमें अतिशय मनोहर "कैलास" नामक पर्वत है। इसे पुराणमें "देवभूमि" कहा है । इसके दक्षिणमें "मानससरोवर" है ।

माल [१-१६] = मल्लिनाथने इसे पर्वतके समान उन्नत स्थल लिखा है । कुछलोग इसे मध्यप्रदेशमें रत्नपुरके उत्तर भागमें अवस्थित "माल्दा" नामक देश कहते हैं ।

आम्रकूट [१-१७] = विल्सनने इसे "अमरकण्टक"नामक पर्वत बताया है । यह नर्मदा नदीका उद्गम स्थल है ।

विन्ध्य [१-१९] = आर्य्यावर्त और दाक्षिणात्य देशके बीचमें विन्ध्य पर्वत है ।

रेवा [१-१९] = यह विन्ध्य पर्वतके पूर्वदिशामें अवस्थित मेकल पर्वत [अमरकण्टक] से निकली हुई नदी है । इसे "नर्मदा" भी कहते हैं । यह ८०० कोस लम्बी है।

दशार्ण [१:२३] = यह मालवका पूर्वभाग है । इसकी राजधानी विदिशा [आधुनिक नाम "भिलसा"] है । इस क्षेत्रमें वेत्रवती [बेतवा] नदी बहती है । कुछ लोग वर्तमान "छत्तिसगढ़" नामके देशके एक अंशको "दशार्ण" कहते हैं ।

विदिशा [१ २४] = यह "दशार्ण" देशकी राजधानी है । इसे आजकल "भिलसा" कहते हैं ।

वेत्रवती [१-२४] = यह दशार्ण देशमें बहनेवाली नदी है । इसका आधुनिक नाम "बेतवा" है । यह विन्ध्य पर्वतके उत्तरसे निकलकर मालवदेश और प्रयाग के नैर्ऋत्य भाग को आप्लावित कर यमुनासे मिलती है ।

नीचगिरि [१-२५]=यह संभवतः विदिशा [भिलसा] का निकटवर्ती कोई पर्वत है ।

उज्जयिनी [१-२७] = यह मालव देशकी राजधानी है । इसे 'अवन्ती' 'अवन्तिका' और 'विशाला' भी कहते हैं । इसका आधुनिक नाम उज्जैन है । यह अयोध्या आदि सात पुरियोंमें एक पुरी है ।

निर्विन्ध्या [१-२८] = यह विन्ध्य पर्वतसे निकली हुई एक नदी है ।

विशाला [१-३०] = देखिए 'उज्जयिनी' का वर्णन ।

सिप्रा (शिप्रा) [१-३१] = उज्जयिनीमें बहनेवाली एक नदी ।

गन्धवती [१-३३] = यह मालव देशमें बहनेवाली एक नदी है ।

गम्भीरा [१-४०] = यह भी मालव देशमें बहनेवाली एक नदी है ।

देवगिरि [१-४२] = यह एक पर्वत है। कोई इसे ही "दौलताबाद" कहते हैं। वर्तमान 'झाँसी' नगरसे नैर्ऋत्य कोणमें तीन कोसके अन्तरमें यह पर्वत है ऐसा भी किसीका कहना है।

चर्मण्वती [२-४५] = यह विन्ध्य पर्वतके वायव्य कोणसे निकली हुई नदी है। इसका आधुनिक नाम 'चम्बल' है।

दशपुर [१-४७] = यह चर्मण्वती नदीके कुछ उत्तर भागमें अवस्थित, पुराणमें वर्णित महाराज रन्तिदेवका नगर है इसका आधुनिक नाम 'मन्दसोर' है, कोई इसे 'धौलपुर' भी कहते हैं।

ब्रह्मावर्त [१-४८] यह सरस्वती और दृषद्वती नदियोंके बीचका प्रदेश है।

कुरुक्षेत्र [कौरव क्षेत्र] [१-४८] = यह स्थाण्वीश्वर [थानेसर] के कुछ आग्नेय कोणमें अवस्थित मैदान है। यहींपर महाभारतका प्रसिद्ध युद्ध हुआ था।

सरस्वती [१-४९] = यह हिमालयसे निकली हुई नदी है, जो कुरुक्षेत्रके वायव्य कोणसे बहती थी। यह आजकल अदृश्य है।

कनखल [१-५०] = यह हरिद्वारका निकटवर्ती तीर्थ स्थान है।

जाह्नवी [जह्नुकन्या] [१-५०]=यह हिमालयमें गङ्गावतार [गङ्गोत्री] से निकली हुई महानदी है। इसे 'गङ्गा' और 'भागीरथी' भी कहते हैं।

यमुना [१-५१] = यह उत्तर भारतकी एक प्रसिद्ध नदी है। इसे 'कालिन्दी' भी कहते हैं।

हिमालय [१-५२] = यह भारतके उत्तरमें लगभग १६०० कोसतक फैला हुआ एक पर्वत है। इसका सर्वोच्च शिखर—नेपाली नाम 'सगरमाथा' [गौरीशङ्कर या माउण्ट एवरेष्ट २९००० फीट] ऊँचा है।

क्रौञ्चपर्वत [१-५७] = यह पुराणोंमें प्रसिद्ध एक पर्वत है, कार्त्तिकेयने जिसका विदारण किया था।

मानस [१-११, ६२] = यह कैलास पर्वतके निकट ब्रह्माजीसे निर्मित एक सरोवर है। इसे 'मानससरोवर' और हिन्दीमें 'मानसरोवर' कहते हैं।

टिप्पणी—विशेष इतिवृत्त टीकामें देखें।

उदाहारः

मेघदूतस्य तत्कथानकस्य चोपजीव्यम्

विद्वन्मण्डलाऽऽखण्डलायमानस्य तत्र भवतो वाग्देवताविलासस्य कविकुलगुरोः कालिदासस्य मेघदूताऽभिधानं भुवनप्रथितं काव्यरत्नमुद्दिश्य साम्प्रतं द्वित्रा अभिनवाः शब्दाः प्रस्तूयन्ते । मेघदूते स्वाऽनुष्ठेयकार्यप्रमादजायमानभर्तृशापाद्वर्षभोग्यप्रियाविश्लेषितस्य कस्यचिद्यक्षस्य मेघं सम्बोध्य स्ववल्लभाऽर्थं प्रेषणीयसन्देशकथनं प्रदर्शितं महाकविना ।

इत्थं चाऽत्र कविनिबद्धवक्त्रा मध्यभारत–रामगिर्याश्रमस्थेन यक्षेणाऽलकपुर्यां विद्यमानायाः प्रियायाः सकाशे सन्देशप्रेषणाऽऽर्थं मेघस्याऽऽसादनाय मार्गमन्तराऽऽपतितानां तत्तद्देशानां यादृशं विवरणं कृतं तेनाऽस्य वैचक्षण्यचणस्य कविवरस्य भौगोलिकज्ञानेऽसाधारणधिषणावैभवं स्फुटं भवति । प्रसादगुणसमलंकृतेऽत्र काव्ये यथा रसध्वन्यलङ्काराणामुत्कर्षो दृश्यते तेन पदे पदे सहृदयहृदये प्रमोदप्रकर्ष आविर्भवति । अस्य लघुकायत्वेऽप्यन्तर्जगतो बहिर्जगतश्च सूक्ष्मचित्रोपन्यासे महाकविना यादृशं नैपुण्यमुद्भासितं तेन साहित्यसंसारे कृतिवरोऽयमनुपमानं महत्त्वं बिभर्ति । अत्र विप्रलम्भश्शृङ्गारः, स च प्रवासाऽऽत्मकः परिणामे संभोगपर्यवसायी च । प्रवासश्च शापमूलक इति व्यक्तं प्रतीयते । काव्यमिदं खण्डकाव्यलक्षणाऽऽक्रान्तं, खण्डकाव्यलक्षणं यथा साहित्यदर्पणे-

"खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशाऽनुसारि च ।" इति । ६–३२६

परं काव्यादर्शप्रणेतृदण्डयाचार्यमते महाकाव्यमिदम् ।

मेघदूताऽनुकरणेन भूमण्डले प्रतिभामण्डितानि बहूनि काव्यानि दूतकाव्यानि च स्थितिमलभन्त ।

अद्य यावन्मेघदूताऽनुकृत्या प्रणीतं काव्यषट्कमस्तीति श्रीमन्महाराजस्य रामवर्मणः कथनं, परमौफ्रेक्टमहाशयस्य संमतौ तादृशं ग्रन्थदशकं विलसति, तत्र च द्वादशशतकस्थेन धोयीकविना विरचितं पवनदूतं प्राचीनतमम् । एवं काव्यमालायास्त्रयोदशे खण्डेऽपरमपि पवनदूतं लोचनगोचरीभवति । त्रयोदशशतकेसंजातेन वेदान्तदेशिकेन मेघदूतमनुकृत्य "हंससन्देशा"ऽभिधानं काव्यं व्यरचि । इत्थमेव

पञ्चदश्यां शताब्द्यां रूपगोस्वामी हंसदूतं, सप्तदश्यां शताब्द्यां कृष्णानन्दसार्वभौमः पदाऽङ्कदूतं च प्रणीय ख्यातिं प्रापतुः ।

मेघदूतं कविकुलगुरोः कालिदासस्याऽऽद्या कृतिरिति बहूनां प्रतिभावतां विपश्चितां परामर्शः ।

शर्मण्य (जर्मनी) देशीयेन शीलराख्येन कवयित्रा मेरियाष्टुआर्ट (Maria-Stuart) नामके नाटके स्काटदेशराज्ञ्या मेघदूतस्येव सन्देशप्रेषणमुपनिबद्धम् । ततः पूर्वं शामण्यमहाकविना गेटेविपश्चिता मेघदूतस्य प्रशंसितत्वाच्छीलरकवेरयं व्यापारोऽपि मेघदूताऽनुकृतिमूलक इति संभावयितुं पार्यते ।

साम्प्रतमस्य काव्यरत्नस्य तत्प्रणेतुः कालिदासस्य चाऽनितरसाधारणवैशिष्ट्योपपादनं प्रकृतनिबन्धस्य समीहितविषयो न, अत्राऽस्माभिरिदमेव प्रदर्शनीयं यदस्य काव्यरत्नस्य तत्कथानकस्य चोद्गमः कथङ्कारं सञ्जात इति ।

हनूमन्मुखेन सीताऽर्थं रामप्रहितसन्देशस्याऽनुकरणेनेदं काव्यं व्यरचीति बहूनां विदुषां परामर्शः । तत्र यक्षोपरि भर्तृशापस्योद्गमस्तु ब्रह्मवैवर्तपुराणाऽन्तर्गतादाषाढकृष्णैकादशीमाहात्म्यात्संभाव्यते । तस्य यावतोंऽशस्यऽनुकृत्या महाकविना मेघदूतमुद्भासितं सोंऽशोऽधस्तादनूद्यते ।

योगिन्येकादशीमाहात्म्योपोद्घातरूपेण भगवान् योगेश्वरः कृष्णो धर्मराजमकथयत्—

अलकाऽधिपतिर्नाम्ना कुबेरः शिवपूजकः ।
तस्याऽऽसीत्पुष्पबटुको हेममालीति नामतः ॥ ६ ॥
तस्य पत्नी सुरूपाऽऽसीद्विशालाक्षीति नामतः ।
स तस्यां स्नेहसंयुक्तः कामपाशवशं गतः ॥ ७ ॥
मानसात्पुष्पनिचयमानीय स्वगृहे स्थितः ।
पत्नीप्रेमसमायुक्तो न कुबेराऽऽलयं गतः ॥ ८ ॥
कुबेरो देवसदने करोति शिवपूजनम् ।
मध्याह्नसमये राजन्पुष्पाणि प्रसमीक्षते ॥ ९ ॥
हेममाली स्वभवने रमते कान्तया सह ।
यक्षराट् प्रत्युवाचाऽथ कालाऽतिक्रमकोपितः ॥ १० ॥

"कस्मान्नायाति भो यक्षा हेममाली दुरात्मवान् ।
निश्चयः क्रियतामस्य" प्रत्युवाच पुनः पुनः ॥ ११ ॥

यक्षा ऊचुः—

"वनिताकामुको गेहे रमते स्वेच्छया नृप" ।
तेषां वाक्यं समाकर्ण्य कुबेरः कोपपूरितः ॥ १२ ॥
आह्वयामास तं तूर्णं बटुकं हेममालिनम् ।
ज्ञात्वा कालाऽत्ययं सोऽपि भयव्याकुललोचनः ॥ १३ ॥
आजगाम नमस्कृत्य कुबेरस्याऽग्रतः स्थितः ।
तं दृष्ट्वा धनदः क्रुद्धः कोपसंरक्तलोचनः ॥ १४ ॥
प्रत्युवाच रुषाविष्टः कोपाद्विस्फुरिताऽधरः ।

धनद उवाच—

"रे पाप ! दुष्ट ! दुर्वृत्त ! कृतवान्देवहेलनम् ॥ १५ ॥
अतो भव श्वित्रयुक्तो वियुक्तः कान्तया सह ।
अस्मात्स्थानादपध्वस्तो गच्छ स्थानमथाऽधमम् ॥ १६ ॥
इत्युक्ते वचने तेन तस्मात्स्थानात्पपात सः ।……

इत्युक्त्या स्पष्टमेव प्रतीयते महाकविना पुराणस्यैतस्मादंशादेव स्वकृतौ सारांऽश उपात्तः । अलकापुरीवास्तव्यस्य यक्षस्य शापवशाच्चित्रकूटस्थितिर्मेघायाऽलकापुरीस्थस्वप्रियाऽर्थं सन्देशदानमपीममेवाऽर्थं सूचयति ।

अत एव—

"अस्मात्स्थानादपध्वस्तो गच्छ स्थानमथाऽधमम् ।"

इति कुबेरशापस्तथा "तस्मात्स्थानात्पपात सः ॥' इति श्रीकृष्णवाक्यं च संगच्छते ! पौराणिक्या ऐतिहासिक्याश्च कथाया महाकवयो यथा परिवर्तनं कुर्वन्ति तथैवाऽत्राऽप्युपयोगाऽभावात् श्वित्ररोगस्य चर्चा महाकविना न व्यधायि, कान्तावियुक्तिसूचनं तु कृतं तस्यैवाऽस्य सन्देशस्योपजीव्यत्वात् । वियोगकालाऽवधिरपि कविकल्पितः । एकादशीव्रतादयोऽनुपयोगिनोंऽशास्तु कविना परित्यक्ताः । न हि महाकवय इतिवृत्तनिर्वहणमात्रपरायणा भवन्तीतिहासपुराणादिभ्य एव तत्सिद्धेः ।

तथैव तत्र माहात्म्ये—

"छायायां पीडिततनुर्निदाघेऽत्यन्तपीडितः।
शिवपूजाप्रभावेण स्फूर्तिस्तस्य न गच्छति॥"

इत्युल्लेखेन ग्रीष्मतस्तस्य कान्ताविरहाद्युपक्रमो दृश्यते, अत्र काव्ये तु कतिचिन्मासान्नीत्वाऽऽषाढप्रथमदिवसतः कान्तासन्देशप्रेषणोपक्रमोऽकारि यक्षेण। अंशतो विपर्यासेऽप्युल्लेखव्यापारस्तु ग्रीष्मारम्भत एवोपक्रम्यते। भूलोकपतितस्याऽपि तस्य स्फूर्तिध्वंसविरहोऽपि प्रियासन्देशप्रेषणाऽनुगुण एवेत्यत्र कस्य सहृदयहृदयस्य द्वापरपरत्वं संजायेत ?

इत्थं च निश्चप्रचं शक्यते वक्तुं मेघदूतकथानकस्योपजीव्यो ब्रह्मवैवर्तपुराणस्यैकदेश इति।

मेघदूतस्य चारित्रवर्द्धन्याख्यव्याख्याकारेण तु—"कुबेरो मानससरोवरकनकसरोजसंरक्षणाऽर्थं कञ्चिद्यक्षं समादिदेश। क्षणमपि कान्ताविरहाऽक्षमः स च कथञ्चिद्यामद्वितयं सरोरक्षणपरायणो भूत्वा तावत्येव काले 'रजनी याते'ति मन्वानः कान्तोपकण्ठं ययौ। तत्रैवाऽन्तरे दिग्गजैस्तत्सरसो दूष्यमाणत्वात्कुपितेन कुबेरेण स यक्षः शप्त" इति लिखितमस्ति। तस्य किं बीजमिति तत्त्वतो न विद्मः।

संस्कृतसन्देशः चतुर्थोऽङ्कः
वि० सं० २०१० श्रावणशुक्लैकादशी,
काष्ठमण्डपः, नेपालः।

उपनिबन्द्धा
शेषराजशर्मा 'रेग्मी'

॥ श्रीः ॥

मेघदूतम्

सटिप्पण-'चन्द्रकला'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

अथ पूर्वमेघः

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
शापेनास्तङ्गमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः ।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥ १ ॥

विनायको योऽखिललोकनायको यो विघ्नराजोऽप्युत विघ्ननाशकः ।
अनेकदन्तार्चितपादयुग्मकं तमेकदन्तं प्रणमामि सन्ततम् ॥ १ ॥

यदीयकृपया भवेदवसितं समारिप्सितं, करोति सफलं सदा जनमनीषिताऽर्थव्रजम् ।
सदैव विदधाति यो दुरितवर्गविध्वंसनं, गजाननमहं भजे सकललोकशोकाऽपहम् ॥ २ ॥

ददति सपदि केचिद् भुक्तिमात्रं जनेभ्यो विदधति च कियन्तो भक्तवर्गं विमुक्तम् ।
द्वयमपि वितरीतुं नेशते केऽपि देवा विलसति ललिताऽम्बा भुक्तिमुक्त्येकदाऽसौ ॥ ३ ॥

माता हेमकुमारिका सुकृतिनी सौभाग्यभव्याऽन्विता,
विद्याधर्मदयाविशुद्धचरितः श्रीदेवचन्द्रः पिता ।
तज्जो मध्यमसूनुरेष विबुधः श्रीशेषराजाऽभिधो
व्याख्यानं कृतवानिदं सुविशदं तन्मेघदूताऽभिधे ॥ ४ ॥

जातो यदीयदयया मम बोधलेशस्तद्द्वारतस्तदनु शास्त्रपथप्रवेशः ।
तांस्तादृशान्गुरुजनानसकृत्प्रणम्य वन्दे च तानपि यतोऽत्र कृतौ कृतित्वम् ॥ ५ ॥

संगीततन्त्राऽपरतन्त्रयुद्धावारोग्यशास्त्रेऽपि कृताऽवगाहे ।
प्रेष्ठाऽनुजे श्रीयुतपूर्णचन्द्रे समर्पयेऽमूं कृतिमत्र जोषम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—स्वाऽधिकारात् प्रमत्तः कान्ताविरहगुरुणा वर्षभोग्येण भर्तुः शापेन अस्तङ्गमितमहिमा कश्चिद् यक्षो जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु स्निग्धच्छायातरुषु रामगिर्याश्रमेषु वसतिं चक्रे।

व्याख्या—स्वाऽधिकारात्=आत्मनियोगात्, प्रमत्तः=अनवहितः,(अतएव) कान्ताविरहगुरुणा=प्रियावियोगदुर्भरेण, वर्षभोग्येण=संवत्सरभोगयोग्येन, भर्तुः=स्वामिनः, कुबेरस्येति भावः। पापेन=निग्रहवचसा, अस्तङ्गमितमहिमा=प्रतिहतमहत्त्वः, कश्चित्=अनिर्दिष्टनामा, यक्षः=देवयोनिविशेषः, जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु=सीतामज्जनपवित्रजलेषु, स्निग्धच्छायातरुषु=सान्द्रनमेरुवृक्षेषु, रामगिर्याश्रमेषु=चित्रकूटाश्रमेषु, वसतिं=वासं, चक्रे=कृतवान्।

भावार्थः—आत्मनियोगे कृताऽपराधः कश्चिद्यक्षः स्वामिशापात् प्रियाविप्रयुक्तत्वेन समययापनाऽर्थं सीतास्नानपवित्रजलेषु प्रचुरनमेरुवृक्षेषु चित्रकूटाश्रमेषु निवासं चकार।

अनुवादः—अपने काममें प्रमाद करनेसे प्रियाके विरहसे दुःसह और एक साल तक अनुभव किये जानेवाले स्वामीके शापसे महत्त्वहीन होकर किसी यक्षने सीताजीके स्नानोंसे पवित्र जलवाले तथा घने नमेरुवृक्षोंसे युक्त रामगिरिके आश्रमोमें निवास किया।

टिप्पणी—स्वाऽधिकारात्=अधिक्रियते अस्मिन् इति अधिकारः, 'हलश्च' इस सूत्रसे अधिकरणमें घञ् प्रत्यय हुआ है। अधि+कृ+घञ्=अधिकारः। स्वस्य स्वो वा अधिकारः, स्वाधिकारः, तस्मात् (षष्ठीतत्पुरुषः कर्मधारयो वा)। "प्रमत्तः" इस पदके योगमें "जुगुप्साविरामप्रमादाऽर्थानामुपसंख्यानम्" इस वार्तिकसे अपादानसंज्ञा होकर "अपादाने पञ्चमी" इस सूत्रसे पञ्चमी विभक्ति हुई है।

प्रमत्तः=प्र+मद्+क्तः। "प्रमादोऽनवधानता" इत्यमरः। कान्ताविरहगुरुणा=कान्ताया विरहः (ष० त०), तेन गुरुणा (तृतीयातत्पुरुषः) "गुरुस्तु गीःपतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे।" इति शब्दाऽर्णवः। यहांपर "गीष्पतौ" ऐसा पाठ अशुद्ध है, कस्कादि गणमें इसका पाठ भाष्यसम्मत नहीं है। "अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः" इति वार्तिकसे वैकल्पिक रेफ होनेपर "गीर्पतौ" ऐसा कहा जाता है, उसके अभावमें "गीःपतौ" वा "गीᳶपतौ" एसा विसर्ग वा उपध्मानीयविशर्गवाला रूप बनता है। इस प्रकार इसके तीन रूप बनते हैं।

वर्षभोग्येण=भोक्तुं योग्यो भोग्यः, पालन और अभ्यवहार (भक्षण) अर्थमें विद्यमान "भुज" धातुसे "ऋहलोर्ण्यत्" इस सूत्रसे ण्यत् प्रत्यय होकर "चजोः

कु घिण्यतोः" इस सूत्रसे कुत्व हुआ है। भक्षणके अर्थमें "भोज्यं भक्ष्ये" इस सूत्रसे कुत्वका अभाव होकर "भोज्य" ऐसा रूप बनता है। वर्षभोग्यो वर्षभोग्यस्तेन, "कालऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इस सूत्रसे कालके अत्यन्त संयोगमें द्वितीया विभक्ति होकर "अत्यन्तसंयोगे च" इस सूत्रसे द्वितीया-तत्पुरुष समास होता है। "कुमति च" इस सूत्रसे नकारका णत्व होकर "वर्षभोग्येण" ऐसा रूप बन जाता है।

भर्तुः = बिभर्तीति भर्ता, तस्य, "डुभृञ्" धातुसे "ण्वुल्तृचौ" इस सूत्रसे तृच् प्रत्यय होकर "भर्तृ" शब्द सिद्ध होता है।

शापेन = शपनं शापः, तेन। आक्रोश अर्थमें विद्यमान "शप्" धातुसे "भावे" इस सूत्रसे भावमें घञ् प्रत्यय हुआ है। यहाँपर "हेतौ" इस सूत्रसे तृतीया विभक्ति हुई है "शापाक्रोशौ दुरेषणा" इत्यमरः।

अस्तङ्गमितमहिमा = "अस्तम्" यह मकार अन्तमें होनेवाला अव्यय है। गम् + णिच् = क्तः = गमितः। महतो भावो महिमा, यहाँ पर "महत्" शब्दसे "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इस सूत्रसे इमनिच् प्रत्यय हुआ है। महत् + इमनिच् + महिमन् (महिमा)।

अस्तं गमितः, अस्तंगमितः (द्वि० त०)। यहाँपर "द्वितीया श्रिताऽतीतपतितगताऽत्यस्तप्राप्तापन्नैः" इस सूत्रमें "द्वितीया" इसका योगविभाग होकर द्वितीयातत्पुरुष समास हुआ है। यह कैयटका मत है। भाष्यकारके मतके अनुसार ऐसे स्थलमें "सह सुपा" इस सूत्रसे समास होता है। यक्षका "अस्तंगमितमहिमा" यह विशेषण अभिप्रायगर्भित है, क्योंकि स्वामी कुबेरके शापसे उसकी महिमा (सामर्थ्य) नष्ट हुई है, नष्ट नहीं होती तो तो वह अणिमा आदि अष्ट सिद्धियोंमेंसे "प्राप्ति" नामक सिद्धिसे अलकापुरीमें स्थित अपनी प्रियतमाको प्राप्त कर लेता।

यक्षः = "विद्याधराऽप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः।

पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः॥ (इत्यमरः)" "अष्टविकल्पो दैवः" इस उक्तिके अनुसार देवताओंके आठ भेद होते हैं, जैसे कि—ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, पितृगण, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पिशाच। इनमें "यक्ष" का पर्याय (समानाऽर्थक पद) गुह्यक है। कैलास पर्वतकी अलकापुरीमें यक्ष रहते हैं, इन्द्रके कोषाध्यक्ष कुबेर इनके स्वामी हैं। जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु = जनकस्य तनया (ष० त०), तस्याः स्नानानि (ष० त०)। पुण्यानि उदकानि येषु ते पुण्योदकाः (बहुव्रीहिः), यहाँपर उद्भूताऽवयवभेदकी विवक्षासे उदक

पदमें बहुवचन किया गया है । जनकतनयास्नानैः पुण्योदकाः, तेषु (तृ० त०), यह "रामगिर्याश्रमेषु" इसका विशेषण है ।

स्निग्धच्छायातरुषु=छायाप्रधानाः तरवः छायातरवः, "शाकपार्थिवादीनां सिद्धय उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्" इस वार्तिकसे यहाँपर मध्यमपदलोपी समास हुआ है ।

"छायावृक्षो नमेरुः स्यात्" इति शब्दाऽर्णवः ।

स्निग्धाः छायातरवो येषु, तेषु (बहु०) मल्लिनाथजीने 'शब्दार्णव' नामक कोशका हवाला देकर छायातरुका अर्थ "नमेरु" किया है । सूर्यके पूर्व वा पश्चिममें रहनेपर भी जिनकी छायाका परिवर्तन नहीं होता है ऐसे पेड़ "छातातरु" कहे जाते हैं, किसीका ऐसा मत है ।

रामगिर्याश्रमेषु=रामगिरेः आश्रमाः, तेषु (ष० त०)

चारित्रवर्द्धनीकार बल्लभदेव और सञ्जीवनीकार मल्लिनाथके मतानुसार "रामगिरि" चित्रकूट पर्वत माना गया है, जो कि बुन्देलखण्डमें है ।

विल्सनके मतमें नागपुरकी उत्तरदिशामें वर्तमान "रामटेक" ही रामगिरि है, परन्तु आधुनिक अन्वेषणके अनुसार मध्यप्रदेशमें वर्तमान रामगढ़ पर्वत ही 'रामगिरि" माना गया है, जो कि नर्मदाका उद्गमस्थान अमरकूट वा आम्रकूटके पास है । महाकविने भी अपनी कृतिमें इन दोनोंकी चर्चा की है ।

"रामगिर्याश्रमेषु" ऐसे बहुवचनान्त निर्देशसे प्रियाके वियोगकी असह्यतासे यक्ष एक आश्रममें नहीं रहकर कई आश्रमोंमें रहा करता था वह विषय ध्वनित होता है ।

वसति=निवासार्थक "वसु" धातुसे "दहित्रस्यर्तिभ्यश्च" इस उणादिसूत्रसे "अति" प्रत्यय होता है ।

चक्रे=करणार्थक "(डु) कृञ्" धातुसे लिट् हुआ है । यहाँपर ञकारकी इत्संज्ञा होकर क्रियाका फल कर्तृनिष्ठ होनेसे "स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले" इस सूत्रसे आत्मनेपद हो गया है ।

"खण्डकाव्यं भवेत् काव्यस्यैकदेशाऽनुसारि यत्" । साहित्यदर्पणकी इस उक्तिके अनुसार काव्यके एक अंशका अनुसरण करनेसे मेघदूत अनेक विद्वानोंके मतमें खण्डकाव्य माना गया है । महाकवि दण्डीके अनुयायी विद्वद्गण वर्णनके सौष्ठवातिशयसे इसे भी महाकाव्य मान लेते हैं । पाश्चात्त्य विद्वान् मैक्डोनल्ड (मुग्धानलाचार्य) के मतमें गीतिप्रधान होनेसे मेघदूत गीतिकाव्य माना गया है ।

मेघ एव दूतो मेघदूतः—इस प्रकार रूपक समास होनेसे अभेद लक्षणासे यह पद ग्रन्थवाचक बन जाता है। यह पद पुंलिङ्गमें रहता है। मेघो दूतो यस्मिन् तत् मेघदूतम्, इस प्रकार बहुव्रीहि समाससे जिसमें मेघ दूत हुआ है वह काव्य मेघदूत कहा जाता है, ऐसी व्युत्पत्तिसे यह पद नपुंसकलिङ्गी बन जाता है। निर्विघ्नतापूर्वक समाप्तिके लिए ग्रन्थके आरम्भमें मङ्गल किया जाता है। मङ्गलके तीन भेद होते हैं, जैसे कि—

"आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम्।"

अर्थात्—१ आशीः, २ नमस्क्रिया और ३ वस्तुनिर्देश। इसमें वस्तुनिर्देशरूप तीसरे मङ्गलका आचरण किया गया है। इसी प्रकार मगण (SSS) से ग्रन्थका आरम्भ हुआ है, "मो भूमिः श्रियमातनोति" इस उक्तिके अनुसार मगणकी देवता पृथ्वी है, उसका फल लक्ष्मीप्राप्ति है। काव्यके आरम्भमें "क" वर्णका प्रयोग हुआ है, "मारुते वेधसि ब्रध्ने" इस कोशोक्ति के अनुसार "क" शब्द वायु, ब्रह्मा और सूर्यका वाचक है, अतः—

"देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः।
ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽथवा॥"

इस उक्तिके अनुसार भी देवतावाचक शब्दका प्रयोग होनेसे मङ्गलका ही अनुष्ठान किया गया है।

शृङ्गार रसके दो भेद हैं—संभोग और विप्रलम्भ। मेघदूतमें विप्रलम्भ शृङ्गार हैं। विप्रलम्भ शृङ्गारके भी चार भेद होते हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। इसमें प्रवासरूप विप्रलम्भ है। यहाँपर यक्षाऽधीश्वर कुबेरके शापसे यक्षको प्रवास हुआ है। अपने स्वामीसे निर्दिष्ट कार्यमें गफलत करनेसे यक्षको साल भर अपनी प्रियासे वियोग होनेका शाप मिला है।

इसमें भी बहुत मतभेद है। चारित्रवर्द्धिनी—टीकाकारके अनुसार कुबेरने किसी तालाबकी रक्षाके लिए यक्षको नियुक्त किया था, उस कार्यमें प्रमाद करनेसे उसे पूर्वोक्त शाप मिला। ब्रह्मवैवर्त पुराणके अनुसार हेममाली नामका यक्ष-बटुक प्रतिदिन शङ्करकी पूजाके लिए अपने स्वामीको प्रातःकाल बहुतसे फूलोंको लाया करता था। एक दिन अपनी प्रियतमासे चुहलबाजी करते रहनेके कारण उक्त कार्यमें त्रुटि होनेसे उसे शाप मिला। विशेष बातें संस्कृत भूमिकामें देखें। प्रवासके भी तीन भेद होते हैं—१ भावी, २ भवन् और ३ भूत।

इसमें "भवन्" नामक प्रवासका उल्लेख है। यहाँपर शापके प्रति "स्वाधिकारात् प्रमत्तः" इसकी हेतुता होनेसे पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

"मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैम्भौ नतौ ताद् गुरू चेत् ।"

इस लक्षणके अनुसार मेघदूतमें मगण (ऽऽऽ), भगण (ऽ।।), नगण (।।।), तगण (ऽऽ।), तगण (ऽऽ।) और दो गुरु (ऽऽ) होनेसे मन्दाक्रान्ता नामका समवृत्त छन्द है, इसमें चौथे, छठे और सातवें अक्षरोंमें यति (विश्राम) है ॥१॥

तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी
नीत्वा मासान्कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः ।
आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥ २ ॥

अन्वयः—तस्मिन् अद्रौ अबलाविप्रयुक्तः कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः कामी स कतिचित् मासान् नीत्वा आषाढस्य प्रथमदिवसे आश्लिष्टसानुं वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं मेघं ददर्श ।

व्याख्या—तस्मिन्=पूर्वोक्ते, अद्रौ=पर्वते, रामगिरौ, चित्रकूट इति भावः । अबलाविप्रयुक्तः=कान्तावियोगी, (अत एव) कनकबलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः=सुवर्णकटकपातशून्यमणिबन्धः, कामी=कामुकः, सः=पूर्वोक्तः, यक्ष इति भावः । कतिचित्=कियतः, मासान्=त्रिंशद्दिनसमूहम् अष्टौ मासानिति भावः, "शेषान् मासान् गमय चतुरः" (उत्तरमेघे ४७ तमे श्लोके) इति वक्ष्यमाणत्वात् । नीत्वा=यापयित्वा, आषाढस्य=शुचेः, प्रथमदिवसे=आद्यदिने, आश्लिष्टसानुम्=आक्रान्तकूटं, वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं=वप्रक्रीडासु (उत्खातकेलिषु) परिणतगजप्रेक्षणीयम् (तिर्यग्दन्तप्रहारहस्तिदर्शनीयम्), मेघं=वलाहकं, ददर्श=दृष्टवान् ।

भावार्थः—चित्रकूटपर्वते प्रियाविरहाद्दौर्बल्येन च्युतसुवर्णकटकः कामुको यक्षो मासाऽष्टकं यापयित्वाऽऽषाढस्य प्रथमदिने आक्रान्तकूटम् उत्खातकेलिषु तिर्यग्दन्तप्रहारहस्तिनम् इव मेघं विलोकितवान् ।

अनुवाद—उप पर्वत (चित्रकूट) पर प्रियाके वियोगसे दुर्बल होनेके कारण सुवर्ण-कङ्कणके गिरनेसे शून्य कलाईवाले पूर्वोक्त कामुक यक्षने आठ मास बिताकर आषाढके पहले दिनमें पहाड़की चोटीसे सम्बद्ध और वप्रक्रीडामें तिरछा दन्त-प्रहार करनेवाले हाथीके सदृश मेघको देखा ।

टिप्पणी—अबलाविप्रयुक्तः=अविद्यमानं बलं यस्याः सा अबला "नञोऽस्य-

थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः" इति नञ्बहुव्रीहिः। "स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधूः।" इत्यमरः।

नञ्के छः अर्थ होते हैं--

"तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट्प्रकीर्तिताः॥"

अर्थात् सादृश्य, अभाव, भिन्नता, अल्पता, अप्रशस्तता और विरोध इस प्रकार नञ्के छः अर्थ परिगणित हैं। यहाँपर अल्प अर्थमें नञ् विवक्षित है। अल्प (थोड़ा) बलवाली अबला अर्थात् स्त्री। पुरुषोंकी अपेक्षा सामान्यतः स्त्रियों में बलकी अल्पतासे उन्हें "अबला" कहते हैं।

वि+प्र+युज्+क्तः=विप्रयुक्तः। अबलया विप्रयुक्तः (तृ० त०)। कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः=कनकस्य वलयः (ष० त०)। "कटकं वलयोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः। कनकवलयस्य भ्रंशः (ष० त०)। रिक्तः प्रकोष्ठो यस्य सः रिक्तप्रकोष्ठः (बहु०)। कनकवलयभ्रंशेन रिक्तप्रकोष्ठः (तृ० त०)

एक सुवर्ण-कङ्कणका धारण विरहका चिह्न है यह किसीका कहना है।

कामी=कामयते तच्छीलः ऐसा विग्रह कर इच्छार्थक "कमु" धातुसे "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" इस सूत्रसे णिनि प्रत्यय हुआ है, कम्+णिनि=कामिन् (कामी)। अथवा कमनं कामः, "भावे" इस सूत्रसे भावमें घञ् प्रत्यय हुआ है, कम्+घञ्+कामः।

कामः अस्य अस्तीति ऐसा विग्रह कर "अत इनिठनौ इस सूत्रसे इनि प्रत्यय हुआ है, काम+इनिः=कामिन्, यक्षका यह हेतुगर्भ विशेषण है, यक्षके कामी होनेसे प्रिया-वियोगकी असह्यता यहाँ बताई गई है।

कतिचित्=का संख्या येषां ते ऐसा विग्रह कर किम् शब्दसे "किमः संख्या-परिमाणे डति च" इस सूत्रसे डति प्रत्यय हुआ है, किम्+डतिः=कति; यह नित्यबहुवचनान्त शब्द है। इसमें चित् अव्ययका योग हुआ है। यह "मासान्" का विशेषण है।

नीत्वा=नी+क्त्वा।

आषाढस्य="आषाढया (नक्षत्रेण) युक्ता पौर्णमासी" ऐसा विग्रह कर आषाढा शब्दसे "नक्षत्रेण युक्तः कालः" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय होकर स्त्रीत्व-विवक्षामें "टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः" इस सूत्रसे ङीप्

प्रत्यय होकर "आषाढी" पद बनता है । आषाढा + अण् + ङीप् = आषाढी । "आषाढी (पौर्णमासी) अस्मिन् मासे" ऐसा विग्रह कर "साऽस्मिन् पौर्णमासीति" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय होकर "आषाढ"पद निष्पन्न होता है । आषाढी + अण्=आषाढः (मासः) प्रथमदिवसे="प्रथमश्चासौ दिवसः" ऐसा विग्रह कर "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" इस सूत्रसे समास हुआ और "तत्पुरुषः समानाऽधिकरणः कर्मधारयः" इस सूत्रसे उस (समास) की कर्मधारय संज्ञा हो गई है।

महाकवि कालिदासके ऋतुसंहारके अनुसार आषाढ मासके प्रथम दिनसे वर्षाका प्रारम्भ प्रतीत होता है ।

"प्रथमदिवसे"इसके स्थानमें कहींपर "प्रशमदिवसे" ऐसा पाठान्तर मिलता है, इसका अर्थ हुआ आषाढके अन्तिम दिनमें, चौथे श्लोकके "प्रत्यासन्ने नभसि" अर्थात् श्रावणके निकट होनेपर इसके सामञ्जस्यके लिए यह पाठ उपयुक्त हैं ऐसा कुछ लोग कहते हैं। अर्थात् आषाढके बीतनेपर ही श्रावण निकट होता है। परन्तु इस पाठान्तरका महोपध्याय मल्लिनाथजीने जबर्दस्त विरोध किया है । उनका कहना है कि यहाँपर सामान्य प्रत्यासत्ति (श्रावणका सामीप्य) विवक्षित है, इससे "आषाढस्य प्रथमदिवसे" इस पाठमें कुछ आपत्ति नहीं है ।

आश्लिष्टसानुम्=आश्लिष्टः सानुर्येन, तम्, यहाँपर "अनेकमन्यपदार्थे" इस सूत्रसे बहुव्रीहि समास हुआ है ।

आङ् + श्लिष् + क्तः = आश्लिष्टः ।

वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं=वप्रे क्रीडाः (स० त०) । "उत्खातकेलिः शृङ्गाद्यैर्वप्रक्रीडा निगद्यते ।" इति शब्दार्णवः । वप्रकीडासु परिणतः (स० त०)। स चाऽसौ गजः वप्रक्रीडापरिणतगजः (क० धा०) । यहाँपर हलायुध कोशके "तिर्यग्दन्तप्रहारस्तु गजः परिणतो मतः ।' इस उक्तिके अनुसार तिरछा दन्तप्रहार करनेवाले हाथीको "परिणत" कहते हैं, इस स्थितिमें "परिणत" पदसे ही वैसे गजका बोध हो जाता है तब फिर"गज"पद देनेसे पुनरुक्त दोषकी प्रतीति हो जाती है तो इसका समाधान यह हैं कि यहाँपर "परिणत" पदका सामान्य अर्थ संनद्ध है और"गज"पदके साथ उसका सम्बन्ध होनेपर वप्रक्रीडाओंमें तिरछा दन्त-प्रहार करनेवाला हाथी ऐसा बोध होता है, अतः पुनरुक्त दोष नहीं ।

प्रेक्षितुं योग्यः प्रेक्षणीयः, यहाँपर "तव्यत्तव्याऽनीयरः" इस सूत्रसे अनीयर् प्रत्यय हुआ हैं । प्र + ईक्ष + अनीयर् । वप्रक्रीडापरिणतगज इव प्रेक्षणीयः, गम्, यहाँपर "उपमानानि सामान्यवचनैः" इस सूत्रसे उपमानकर्मधारय समास हुआ

है। यहाँ समासके कारण औपम्यवाचक पद "इव" का लोप होनेसे "लुप्तोपमा" अलङ्कार हुआ है। ददर्श=दृश्+लिट् ॥ २ ॥

तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतो-
रन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ ।
मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥ ३ ॥

अन्वयः—राजराजस्य अनुचरः अन्तर्बाष्पः (सन्) कौतुकाधानहेतोः तस्य पुरः कथमपि स्थित्वा चिरं दध्यौ । मेघालोके सुखिनः अपि चेतः अन्यथावृत्ति भवति, कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने दूरसंस्थे (सति) किं पुनः ?

व्याख्या—राजराजस्य=यक्षराजस्य, कुबेरस्येति भावः । अनुचरः=भृत्यः, पूर्वोक्तो यक्ष इति भावः । अन्तर्बाष्पः=निरुद्धाऽश्रुः (सन्), धीरोदात्तत्वादिति भावः । कौतुकाधानहेतोः=अभिलाषोत्पत्तिकारणस्य, तस्य=मेघस्य, पुरः=अग्रे, कथमपि=केनाऽपि प्रकारेण, प्रयासाऽतिशयेनेति भावः । स्थित्वा=स्थितिं कृत्वा । चिरं=बहुकालपर्यन्तं, दध्यौ=चिन्तयामास, स्वप्रियां चिन्तितवानिति भावः । ध्यानहेतुं समर्थयते—मेघालोक इति ।

मेघालोके=मेघदर्शने (सति), सुखिनः अपि=सुखयुक्तस्य अपि, प्रियासहितस्य अपीति भावः । चेतः=चित्तम्, अन्यथावृत्ति=अन्यप्रकारं, भवति=वर्तते, विकारं प्राप्नोतीति भावः ।

अर्थापत्तिं प्रदर्शयति—कण्ठाश्लेषेति । कण्ठाश्लेषप्रणयिनि=कण्ठालिङ्गनाऽर्थिनि, जने=प्रियारूपे जने, दूरसंस्थे=विप्रकृष्टवृत्तौ (सति), किं पुनः=किं वक्तव्यम्, वियोगिनां मेघदर्शनमभीष्टजनस्मरणोद्दीपकं भवतीति भावः ।

भावाऽर्थः—यक्षो बाष्पवृत्तिं निरुध्याऽभिलाषोत्पत्तिकारणस्य मेघस्याऽग्रे कष्टाऽतिशयेन स्थित्वा चिरं चिन्तयामास । मेघदर्शने कान्तासहितस्याऽपि जनस्य चित्तमन्यप्रकारं वर्तते, कण्ठालिङ्गनप्रणयिन्यां प्रियतमायां दूरस्थितायां पुनः किं कथनीयम् ।

अनुवादः—कुबेरके भृत्यने आँसू रोककर उत्कण्ठाकी उत्पत्ति करनेवाले उस मेघके सामने बड़े कष्टसे रहकर बहुत समय तक चिन्ता की । जब मेघका दर्शन होनेपर सुखीका चित्त भी विकृत हो जाता है तो कण्ठमें आलिङ्गन करनेकी इच्छा रखनेवाली प्रियाके दूर रहनेपर फिर क्या कहना है ?

टिप्पणी—राजराजस्य=राज्ञां राजा राजराजः, तस्य (ष० त०) । यहाँपर "राजाऽहःसखिभ्यष्टच्" इस सूत्रसे राजन् शब्दसे समासान्त टच् प्रत्यय हुआ है।

“राजा प्रभौ नृपे चन्द्रे यक्षे क्षत्रियशक्रयोः।” विश्वकोशकी इस उक्तिके अनुसार पहलेके राजन् शब्दका अर्थ यक्ष है। “राजराजो धनाऽधिपः” इत्यमरः।

अनुचरः = अनु (पश्चात्) चरति (गच्छति) इति, पचाद्यच्। अनु + चर = अच्।

अन्तर्बाष्पः = अन्तर्गतो बाष्पो यस्य सः (बहु०)।

कौतुकाऽऽधानहेतोः = कुतुकम् एव कौतुकम्, “प्रज्ञादिभ्यश्च” इस सूत्रसे स्वार्थ (प्रकृतिके अर्थ) में अण् प्रत्यय हो गया है, कुतुक + अण्। कौतुकस्य आधानम् (ष० त०)।

आङ + धा + ल्युट् = आधानम्। “कौतूहलं कौतुकं च कुतुकं च कुतूहलम्।” इत्यमरः। “कौतुकं चाऽभिलाषे स्यादुत्सवे नर्महर्षयोः।” इति विश्वः। कौतुकाधानस्य हेतोः (ष० त०)। पुरः = “पूर्वस्यां दिशि” ऐसा विग्रह कर पूर्वाशब्दका “पूर्वाऽधराऽवराणामसि पुरधवश्चैषाम्” इस सूत्रसे ‘पुर्’ आदेश और “असि” प्रत्यय हुआ है। यह “पुरः” शब्द अव्यय है।

स्थित्वा = स्था + क्त्वा। चिरम् = यह अव्यय है और ध्यान क्रियाका विशेषण है।

दध्यौ = चिन्तार्थक “ध्यै” धातुके लिट्का रूप है। मेघालोके = आलोकनम् आलोकः आङ् + लोक + घञ्, “आलोकौ दर्शनद्योतौ” इत्यमरः। मेघस्य आलोकः, तस्मिन् (ष० त०), “यस्य च भावेन भावलक्षणम्” इससे भावमें सप्तमी हुई है।

सुखिनः = सुखम् अस्याऽस्तीति सुखी, तस्य, सुख + इनिः। अन्यथावृत्ति = अन्यथा (अन्यप्रकारा) वृत्तिः यस्य तत् (बहु०)। कण्ठाऽऽश्लेषप्रणयिनि = आश्लेषणम् आश्लेषः, आङ् + श्लिष + घञ् (भावे)। कण्ठे आश्लेषः (स० त०)। प्रणयः अस्याऽस्तीति प्रणयी, प्रणय + इनिः। कण्ठाश्लेषे प्रणयी, तस्मिन् (स० त०)। यह पद “जने” इसका विशेषण है।

दूरसंस्थे = संस्थानं संस्था, सम् उपसर्गपूर्वक “स्था” धातुसे “आतश्चोपसर्गे” इस सूत्रसे भावमें अङ् प्रत्यय हुआ है। दूरे संस्था यस्य स दूरसंस्थः, तस्मिन्, “सप्तमी विशेषणे बहुव्रीहौ” इस सूत्रमें “सप्तमी” पदसे ज्ञापित व्यधिकरण (अप्रथमान्त और प्रथमान्त पदवाला) बहुव्रीहि समास हुआ है।

इस पद्यमें उत्तरार्धसे पूर्वार्धस्थित चिन्तारूप पदार्थका समर्थन करनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है, और उत्तरार्धमें “किं पुनर्दूरसंस्थे” इस उक्तिसे कैमुतिक

न्यायसे अर्थापत्ति अलङ्कार है; इस प्रकार अर्थान्तरन्यास और अर्थापत्तिकी निरपेक्षतासे स्थिति होनेसे—

“मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते।”

साहित्यदर्पणकी इस उक्तिके अनुसार संसृष्टि अलङ्कार हो गया है ॥ ३ ॥

प्रत्यासन्ने नभसि दयिताजीवितालम्बनार्थी
जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन्प्रवृत्तिम्।
स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ॥ ४ ॥

अन्वयः—स नभसि प्रत्यासन्ने (सति) दयिताजीवितालम्बनार्थी (सन्) जीमूतेन स्वकुशलमयीं प्रवृत्तिं हारयिष्यन् प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पिताऽर्घाय तस्मै प्रीतः (सन्) प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार।

व्याख्या—ध्यानाऽनन्तरं यक्षः किं चकारेत्याह—प्रत्यासन्न इति। स= यक्षः, प्रियाचिन्तक इति भावः। नभसि=श्रावणे, प्रत्यासन्ने=निकटवर्तिनि (सति), आषाढस्येति शेषः। “प्रत्यासन्ने मनसि” इति पाठान्तरे ध्यानाऽनन्तरं प्रकृतिस्थे चेतसि इत्यर्थः। दयिताजीविताऽऽलम्बनार्थी=प्रियाजीवनधारणेच्छुकः (सन्), जीमूतेन=मेघेन प्रयोज्येन, स्वकुशलमयीं=निजक्षेमप्रधानां, प्रवृत्तिं= वार्तां, हारयिष्यन्=प्रापयिष्यन्, प्रत्यग्रैः=नूतनैः, कुटजकुसुमैः=गिरिमल्लिकापुष्पैः, कल्पिताऽर्घाय=अनुष्ठितपूजाविधये, तस्मै=जीमूताय, प्रीतः=प्रसन्नः (सन्), प्रीतिप्रमुखवचनं=प्रणयप्रधानभाषितं (यथा तथा), स्वागतं= स्वागतवचनं, व्याजहार=जगाद, कुशलाऽऽगमनं पप्रच्छेति भावः।

भावार्थः—प्रियाचिन्तको यक्षः श्रावण आषाढस्य निकटवर्तिनि सति प्रियायाः प्राणधारणोपायं चिकीर्षुः सन् मेघेन कान्तासमीपे स्वकुशलवार्तां प्रापयिष्यन् नवीनैः गिरिमल्लिकापुष्पैस्तं पूजयित्वा प्रणयप्रधानवचनमुक्त्वा प्रसन्नः सन् तं कुशलागमनं पप्रच्छ।

अनुवाद—श्रावण मासके निकट होनेपर प्रियाकी जीवनरक्षा चाहनेवाले उस यक्षने मेघद्वारा अपनी कुशलवार्ता भेजनेकी इच्छासे गिरिमल्लिका पुष्पोंसे मेघकी पूजा कर प्रसन्नतापूर्वक प्रणय-भरे वचनोंसे उसका स्वागत किया।

टिप्पणी—नभसि=“नभः खं श्रावणे नभाः” इति “नभाः श्रावणिकश्च स” इति चाऽमरः। प्रत्यासन्ने=प्रति+आङ्+सद्+क्तः (कर्तरि)। भावे सप्तमी।

दयिताजीविताऽऽलम्बनार्थी=जीवनं जीवितं, प्राणधारणार्थक "धातुसे "नपुंसके भावे क्तः" इस सूत्रसे क्तप्रत्यय हुआ। दयिताया जीवितं (ष० त०) तस्य आलम्बनम् (ष० त०), आङ्+लबि+ल्युट्। दयिताजीवितालम्बनम् अर्थयते तच्छीलः, "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" इस सूत्रसे "दयिताजीवितालम्बन" उपपदवाले "अर्थ" धातुसे णिनि प्रत्यय हुआ है और यहाँपर "उपपदमतिङ्" इस सूत्रसे उपपद समास हो गया है।

जीमूतेन=जीवनस्य (जलस्य) मूतः (पटबन्धः) जीमूतः, तेन "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" इस सूत्रसे यहाँपर "जीवन" पदके "वन"का लोप होकर "जीमूत पद साधु हुआ है। "जीमूतेन" यह प्रयोज्य कर्ता है, प्रयोजक कर्ता यक्ष है।

स्वकुशलमयीं=स्वस्य कुशलं (ष० त०), प्रचुरं स्वकुशलं यस्यां स्वकुशलमयी, ताम्, यहाँपर "स्वकुशल" शब्दसे "तत्प्रकृतवचने मयट्" इस सूत्रसे मयट् प्रत्यय होकर स्त्रीत्वविवक्षामें "टिड्ढाणञ्०" इत्यादि सूत्रसे ङीप् प्रत्यय हुआ है, यह पद "प्रवृत्तिम्" का विशेषण है।

हारयिष्यन्=हारयिष्यतीति "लृट् शेषे च" इस सूत्रसे णिच् प्रत्ययान्त हरणार्थक "हृञ्" धातुसे लृट् होकर उसके स्थानमें "लृटः सद्वा" इस सूत्रसे शतृ प्रत्यय हुआ है।

प्रत्यग्रैः=प्रतिनवम् अग्रं येषां तानि प्रत्यग्राणि, तैः (बहु०)। "प्रत्यग्रोऽभिनवो नव्यो नवीनो नूतनो नवः।" प्रत्यग्रपद कुटजकुसुमका विशेषण है।

कुटजकुसुमैः=कुटजानि च तानि कुसुमानि, तैः (क० धा०)। अर्घ (पूजा) क्रियाके अत्यन्त उपकारक होनेसे "साधकतमं करणम्" इससे करणसंज्ञा होकर "कर्तृकरणयोस्तृतीया" इस सूत्रसे तृतीया विभक्ति हुई है, "कुटजो गिरिमल्लिका" इति हलायुधः। कल्पितार्घाय=कल्पितः अर्घः यस्य सः, तस्मै (बहु०)। "मूल्ये पूजाविधावर्घः" इत्यमरः।

तस्मै=व्याहार (उच्चारण) क्रियाके ग्रहणसे "क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्" इससे सम्प्रदानसंज्ञा होकर "चतुर्थी सम्प्रदाने" इस सूत्रसे चतुर्थी हुई है। प्रीतः=प्रीञ्+क्त।

प्रीतिप्रमुखवचनं=प्रीणनं प्रीतिः, प्रीञ्+क्तिन्। यहाँपर "स्त्रियां क्तिन्" इस सूत्रसे क्तिन् प्रत्यय हुआ है। प्रीतिः प्रमुखं येषां तानि प्रीतिप्रमुखानि (बहु०)। "क्लीबे प्रधानं प्रमुखप्रवेकाऽनुत्तमोत्तमाः।" इत्यमरः।

प्रीतिप्रमुखानि वचनानि यस्मिन् (कर्मणि) तत् (यथा तथा (बहु०) क्रियाविशेषण है ।

स्वागतं=शोभनम् आगतं, तत् । "कुगतिप्रादयः" इति समासः । व्याजहार=वि+आङ्+हृञ्+लिट् ।

वियोगियोंको वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा ऋतु अतिशय दुःखद होते हैं । इस विषयमें संस्कृत साहित्यमें प्रचुर वर्णन पाया जाता है सम्प्रति वसन्त और ग्रीष्म तो किसी तरह बीत ही गया और वर्षा ऋतुका प्रादुर्भाव हो गया है। दूसरे कार्यमें व्यग्र प्रवासी पुरुष भी किसी भी प्रकारसे वर्षा ऋतुमें अपनी प्रियतमासे मिलनेके लिए घर जाता है, और उसकी प्रियतमा भी उस समय प्रियतमके आगमनकी आशा करती है, इन दोनों बातोंको कविने आगामी अष्टम श्लोक "त्वामारूढम्" इत्यादिमें प्रदर्शित किया है । परन्तु शापके कारण मेघ अपनी कान्ताके समीप जानेको सर्वथा असमर्थ है और दीर्घ वियोग सहनेमें अपनी प्रियतमाको असमर्थ समझकर अनिष्टकी आशङ्कासे मेघके द्वारा अपनी कुशल-प्रवृत्ति भेजकर आश्वस्त करना चाहता है । कविने इस विषयको बड़ी ही मनोहरतासे प्रस्तुत किया है।

ग्रीष्ममें पान्थकी प्रियाविरहकी असह्यता महाकवि विशाखदत्तने मुद्राराक्षस में इस प्रकारसे दिखाई है—

> "उपरि घनं घनरटितं दूरे दयिता किमेतदापतितम् ।
> हिमवति दिव्यौषधयः कोपाविष्टः फणी शिरसि" ॥ ४ ॥

धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः ?
सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः ? ।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे
कामाऽऽर्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥ ५ ॥

अन्वयः—धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातो मेघः क्व ? पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः सन्देशार्थाः क्व ? इति औत्सुक्यात् अपरिगणयन् गुह्यकः तं ययाचे; हि कामाऽऽर्ताः चेतनाऽचेतनेषु प्रकृतिकृपणाः ।

व्याख्या—धूमज्योतिःसलिलमरुतां=धूमतेजोजलवायूनां, सन्निपातः=समूहः, मेघः=जलधरः, क्व=कुत्र । पटुकरणैः=कार्यसमर्थेन्द्रियैः, प्राणिभिः=चेतनैः, प्रापणीयाः=प्रापयितव्याः, सन्देशाऽर्थाः=सन्देशाऽभिप्रेताः, क्व=कुत्र, उभयोर्महदन्तरमिति भावः । इति=एवम्, औत्सुक्यात्=इष्टाऽर्थोद्युक्तत्वात्, अपरिगणयन्=अविचारयन्, गुह्यकः=यक्षः, तं=मेघं, ययाचे=याचितवान्, दयितां

प्रति मत्सन्देशं प्रापयेति प्रार्थितवानिति भावः । उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति—कामार्ता इति । हि=यतः, कामार्ताः=मदनाऽऽतुराः, चेतनाऽचेतनेषु=जीवाऽजीवेषु, प्रकृतिकृपणाः=स्वभावदीनाः । कामाऽन्धानामुचिताऽनुचितविवेकशून्यत्वादचेतनमेघं प्रति याच्ञाया नाऽनुपपत्तिरिति भावः ।

भावार्थः—धूमतेजोजलवातानां समूहरूपोऽचेतनो मेघः कुत्र ? कुशलेन्द्रिययुक्तैश्चेतनैः प्रापयितव्यानि सन्देशवचनानि कुत्र ! एवमुत्कण्ठाया हेतोरविचारयन्यक्षो मेघं प्रार्थितवान्, यतो मन्मथाकुलाश्चेतनाऽचेतनयोर्विवेकशून्या भवन्ति ।

अनुवादः—कहाँ तो धूआँ, तेज, जल और वायुके समुदायसे उत्पन्न जड मेघ और कहाँ कुशल इन्द्रियोंसे युक्त प्राणियोसे भेजे जानेवाले सन्देशके वचन ? उत्कण्ठाके कारण इस बातका विचार न कर यक्षने मेघसे याचना की, क्योंकि कामसे आकुल जन चेतन और अचेतनोंके विवेकमें स्वभावसे ही दीन हो जाते हैं।

टिप्पणी—धूमज्योतिःसलिलमरुतां=धूमश्च ज्योतिश्च सलिलं च मरुच्च धूमज्योतिःसलिलमरुतः, तेषाम्, "चाऽर्थे द्वन्द्वः" इस सूत्रसे यहाँपर "इतरेतरद्वन्द्व" समास हुआ है ।

सन्निपातः=सं+नि+पत्+घञ् (भावे) ।

पटुकरणैः=क्रियन्ते एभिः इति करणानि, डुकृञ् धातु से "करणाऽधिकरणयोश्च" इस सूत्रसे करण अर्थमें ल्युट् प्रत्यय हुआ । "करणं साधकतमं क्षेत्रगात्रेन्द्रियेष्वपि ।" इत्यमरः । पटूनि करणानि येषां, तैः (बहु०) ।

प्राणिभिः=प्राणाः सन्ति येषां तैः, प्राण=इनिः=प्राणिन् ।

"प्राणी तु चेतनो जन्मी जन्तुजन्युशरीरिणः ।" इत्यमरः प्रापणीयाः=प्रापयितुं योग्याः, प्र+आप+अनीयर् ।

सन्देशार्थाः—सन्दिश्यन्त इति सन्देशाः, सं+दिश्+घञ् । सन्देशा एव अर्थाः, यहाँपर "मयूरव्यंसकादयश्च" इस सूत्रसे रूपक समास हुआ है ।

औत्सुक्यात्—उत्सुकस्य भावः कर्म वा औत्सुक्यं, तस्मात् । उत्सुक शब्दसे "गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च" इस सूत्रसे ष्यञ् प्रत्यय हुआ है । "इष्टाऽर्थोद्युक्त उत्सुकः" इत्यमरः ।

अपरिगणयन्=परिगणयतीति परिगणयन्, परि—उपसर्गपूर्वक "गण" धातुसे "लटः शतृशानचावप्रथमासमानाऽधिकरणे" इस सूत्रसे लट्की अनुवृत्ति होनेपर भी लट्का विधान करनेसे प्रथमाके समानाधिकरण्यमें भी शतृ प्रत्यय हुआ है।

न परिगणयन् "नञ्" इस सूत्रसे नञ् समास होकर "नलोपो नञः" इस सूत्रसे नकारका लोप हुआ है।

गुह्यकः=गूहति (निधि रक्षति) इति गुह्यकः, संवरणार्थक "गुहू" धातुसे "ण्वुल्तृचौ" इस सूत्रसे ण्वुल् प्रत्यय और "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" इस सूत्रसे यक् आगम होकर इस शब्दकी साधुता होती है।

"विद्याधराप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः ।
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः ॥"

अमरसिंहने इस श्लोकमें देवयोनियोंके भेदमें यक्ष और गुह्यक दो शब्दोंका पृथक् निर्देश किया है, अर्थात्—इनको पर्यायवाचक (समानार्थक) नहीं माना है। परन्तु महाकवि कालिदासने मेघदूतके प्रथम श्लोकमें "यक्ष" और प्रस्तुत पञ्चम श्लोकमें "गुह्यक" लिखकर इन दोनों पदोंको पर्यायवाचक मान लिया है, इस प्रकार अमरकोशके साथ इसका विरोध प्रतीत होता है। इसका समाधान यह है कि यहांपर गोवलीवर्दन्यायसे इन दोनों पदोंका भेद किया गया है। अर्थात् गोपदका अर्थ गाय भी है और बलीवर्द (बैल) भी है, बलीवर्द (बैल) में धेनुरूप गोका भेद है परन्तु बलीवर्द (बैल) रूप गोका अभेद है। जैसे कि—

"निधिं रक्षन्ति ये यक्षास्ते स्युर्गुह्यकसंज्ञकाः ।"

कोशकार व्याडिकी इस उक्तिके अनुसार निधिकी रक्षा करनेवाले यक्षको "गुह्यक" कहते हैं। इस प्रकार यक्ष और गुह्यकमें सामान्यविशेष भाव प्रतीत होकर विरोधका परिहार हो जाता है। अतः मेघदूतका सन्देष्टा यक्ष निधिरक्षक होगा इसलिए उसे गुह्यक कहनेमें कुछ भी अनौचित्य नहीं।

ययाचे=याच्ञार्थक "याच्" धातुसे परोक्ष अर्थमें लिट् हुआ है। हि= "हि हेताववधारणे" इत्यमरः।

कामार्ताः=कामेन आर्ताः (तृ० त०)। चेतनाऽचेतनेषु=चेतनाश्च अचेतनाश्च, तेषु (द्वन्द्व) यहांपर विषयमें सप्तमी हुई है।

प्रकृतिकृपणाः=प्रकृत्या कृपणाः, यहांपर "प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्" इस सूत्रसे तृतीया विभक्ति होकर तृतीयातत्पुरुष समास हुआ है। कामाऽऽर्तके विषयमें अन्यत्र भी कहा गया है:—"न पश्यति च जन्मान्धः कामान्धो नैव पश्यति। मदोन्मत्ता न पश्यन्ति ह्यर्थी दोषं न पश्यति" ॥ मेघको धुआँ, तेज, जल और वायुका समूहरूप कहनेसे महाकवि कालिदास रसायनशास्त्रमें भी दखल रखते थे ऐसा जाना जाता है।

इस श्लोकमें पूर्वार्द्धके प्रथम और द्वितीय चरणमें मेघ और सन्देश दो विरूप पदार्थोंका संघटन होनेसे--

"विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतम् ।"

साहित्यदर्पणकी इस उक्तिके अनुसार विषमाऽलङ्कार हुआ हैं, इसी तरह चतुर्थ चरणस्थ सामान्य अर्थसे विशेषका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास हुआ है। इस प्रकार इन दोनों अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभावरूप सङ्कर अलङ्कार हो गया है ॥ ५ ॥

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः ।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद् दूरबन्धुर्गतोऽहं
याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥ ६ ॥

अन्वयः—(हे मेघ !) त्वां भुवनविदिते पुष्कराऽऽवर्तकानां वंशे जातं कामरूपं मघोनः प्रकृतिपुरुषं जानामि । तेन विधिवशात् दूरबन्धुः अहं त्वयि अर्थित्वं गतः । अधिगुणे याच्ञा मोघा अपि वरम्, अधमे लब्धकामा अपि न (वरम्) ॥ ६ ॥

व्याख्या— इदानीं याच्ञाप्रकारं प्रतिपादयति--जातमिति ।

(हे मेघ !=हे जलद !) त्वां=भवन्तं, भुवनविदिते=लोकज्ञाते, पुष्कराऽऽवर्तकानां=पुष्करावर्तकनामधेयानां मेघानां, वंशे=कुले, जातम्=उत्पन्नं, महाकुलप्रसूतमिति भावः । कामरूपम्=इच्छाऽधीनशरीरं, दुर्गादिसञ्चारसमर्थमिति भावः । मघोनः=इन्द्रस्य, प्रकृतिपुरुषं=प्रधानपुरुषं, जानामि=वेद्मि । तेन=तव महाकुलप्रसूतत्वेन कारणेन, विधिवशात्=भाग्याऽधीनत्वाद्धेतोः । दूरबन्धुः=वियुक्तपत्नीकः । अहं=यक्षः । त्वयि=भवति विषये, अर्थित्वं=याचकत्वं, गतः=प्राप्तः । अधिगुणे याचनायाः सर्वथाऽप्यौचित्यं प्रतिपादयति याच्ञेति । अधिगुणे=अधिकगुणे पुरुषे विषये, याच्ञा=याचना, मोघा अपि=निष्फला अपि, वरम्=ईषत्प्रियम् । दातुर्गुणसम्पन्नत्वात्प्रियत्वं, याच्ञावैफल्यादीषत्प्रियत्वमिति भावः । एतद्वैपरीत्येन अधमे=निर्गुणे पुरुषे । लब्धकामा अपि=सफलाऽभिलाषा अपि, याच्ञेति शेषः । न वरम् ईषत्प्रियमपि न भवतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

भावार्थः-हे मेघ ! अहं त्वां जगत्प्रसिद्धे पुष्करावर्तकानां कुले प्रसूतं कामरूपिणमिन्द्रस्य प्रधानपुरुषत्वेन वेद्मि । अतो भाग्यवशाद्वियुक्तपत्नीकोऽहं त्वयि

याचकत्वेनोपस्थितः । अधिकगुणे पुंसि याचना निष्फलाऽपि ईषत्प्रिया, एतद्विपरीत्येन अधमे सा सफला सत्यपि ईषदपि न प्रिया ॥ ६ ॥

अनुवादः--हे मेघ ! मैं जानता हूँ कि तुम लोकविख्यात पुष्कर और आवर्तक नामवाले मेघोंके कुलमें उत्पन्न और अपनी इच्छाके अनुसार रूप लेनेवाले तथा इन्द्रके प्रधान पुरुष हो । इस कारणसे दुर्भाग्यवश पत्नीसे बिछुड़ा हुआ मैं तुमसे याचना करता हूँ, क्योंकि अधिक गुणवाले पुरुषसे की गई याचना निष्फल होनेपर भी कुछ अच्छी हैं । परन्तु निर्गुण पुरुषसे की गई याचना सफल होनेपर भी अच्छी नहीं होती है ॥ ६ ॥

टिप्पणी—भुवनविदिते=भुवनेषु विदिते (स० त०)। "विदिते" यहाँपर ज्ञानार्थक "विद" धातुसे "निष्ठा" इस सूत्रसे भूताऽर्थमें "क्त" प्रत्यय हुआ है। "मतिबुद्धिपूजाऽर्थेभ्यश्च" इस सूत्रसे क्त प्रत्यय करेंगे तो "क्तस्य च वर्तमाने" इस सूत्रसे भुवन शब्दसे षष्ठी विभक्ति होगी, तब "क्तेन च पूजायाम्" इस सूत्रसे समासका निषेध होकर "भुवनानां विदिते" ऐसा व्यस्त (असमस्त) रूप होगा।

पुष्कराऽऽवर्तकानां=पुष्कराश्च आवर्तकाश्च पुष्कराऽऽवर्तकाः, तेषाम्(द्वन्द्वः)। महोपाध्याय मल्लिनाथके मतानुसार यह व्युत्पत्ति है, इसी प्रकारसे उन्होंने कुमारसम्भव द्वितीय सर्गके—

"तदीयास्तोयदेष्वद्य पुष्कराऽवर्तकादिषु ।"

इस श्लोकमें भी पुष्करावर्तक पदको द्वन्द्वसमासान्त बनाया है । प्रलयसमयमें संहार करनेवाले मेघोंको "पुष्करावर्तक" कहते हैं। इस प्रकार पुष्कर और आवर्तक मेघोंमें श्रेष्ठ पुरुष माने गये हैं; परन्तु एक ही पुरुष मेघोंके दो विभिन्न वंशोंमें कैसे उत्पन्न हो सकता है ? ऐसी आशङ्का कर कुछ लोग वाचस्पत्यमें उद्धृत विष्णुपुराणके—

"पुष्करा नाम ये मेघा वृहन्तस्तोयमत्सराः
पुष्कराऽऽवर्तकास्तेन कारणेनेह शब्दिताः ॥"

इस श्लोकके अनुसार "पुष्करम् (जलम्) आवर्तयन्तीति पुष्कराऽऽवर्तकाः" (पुष्कर + आङ् + वृत् + ण्वुल्) ऐसी व्युत्पत्ति करते हैं। अर्थात् "पुष्कर" नामके मेघ जलका आवर्तन (भ्रमण) करानेसे ही "पुष्कराऽऽवर्तक" शब्दसे कहे गये हैं। इसी तरह ज्योतिष शास्त्रमें भी मेघोंके नायकविशेषको "पुष्कर" कहा है। मातृवंश और पितृवंशके प्रधान पुरुष पुष्कर और आवर्तक हो सकते हैं और उनकी

सन्ततिके तौरपर भी प्रकृत यक्ष मेघको सम्बोधन कर सकता है, इस प्रकारसे मल्लिनाथके व्याख्यानमें भी अनुपपत्ति नहीं हो सकती है।

जातं = जन् + क्तः। कामरूपं = कामः (इच्छा) अस्ति यस्मिंस्तत् कामम्, यहाँपर कामशब्दसे "अर्शआदिभ्योऽच्" इस सूत्रसे अच् प्रत्यय हुआ है। कामं (इच्छाऽनुसारि) रूपं यस्य, तम् (बहु०)। अथवा कामेन रूपं यस्य, तम् (व्यधिकरणबहु०)। इस विशेषणकी सार्थकता आगेके "पुष्पमेघीकृतात्मा (श्लोक ४३)" इस विशेषणमें मिलती है।

प्रकृतिपुरुषं = प्रकृतौ (पौरवर्गे) पुरुषः (प्रधानम्), तम् (स० त०)। जानामि = ज्ञा + लट् + मिप्। विधिवशात्=विधेः वशः, तस्मात् (ष० त०)। दूरबन्धुः = बध्नाति मनः स्नेहादिना इति बन्धुः, बन्ध + उः। दूरे बन्धुः यस्य सः (व्यधिकरणबहु०)। त्वयि = विषये सप्तमी।

अर्थित्वम्=असन्निहितः अर्थः अस्याऽस्तीति अर्थी, यहाँपर "अर्थाच्चाऽसन्निहिते" इस सूत्रसे अर्थके असन्निधानमें अर्थ शब्दसे इनि प्रत्यय होता है, अर्थ + इनिः=अर्थिन् (अर्थी)। अर्थके सन्निधानमें इसका प्रत्युदाहरण मतुप्प्रत्ययान्त "अर्थवान्" शब्द बनता है। इस प्रकार जिसका अर्थ नहीं है वह "अर्थी" (याचक) और अर्थवालेको "अर्थवान्" कहते हैं। अर्थिनः भावः अर्थित्वं तत्; यहाँपर अर्थिन् शब्दसे भाव अर्थमें "तस्य भावस्त्वतलौ" इस सूत्रसे त्व प्रत्यय होकर "त्वाऽन्तं क्लीबम्" इस लिङ्गानुशासन सूत्रसे क्लीब (नपुंसक) लिङ्गवाला "अर्थित्वम्" निष्पन्न होता है। गतः = गम् + क्तः। अधिगुणे = अधिका गुणा यस्य, तस्मिन् (बहु०)।

याच्ञा = याचनं याच्ञा, याचनार्थक "याच्" धातुसे "यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्" इस सूत्रसे नङ् प्रत्यय होकर "स्तोः श्चुना श्चुः" इस सूत्रसे चुत्व (ञ) और "अजाद्यतष्टाप् इससे टाप् (आ) प्रत्यय होकर "च्ञा" पद बनता है (इसको "याञ्चा" कहना अशुद्ध है)।

वरं = "देवाद् वृते वरः, श्रेष्ठे त्रिषु, क्लीबे मनाक् प्रिये।" इत्यमरः।

लब्धकामा = लब्धः कामो यया सा (बहु०)।

इस श्लोकका अनुरूप भाव अन्यत्र भी देखिए—

> "इत्याश्वासादभिमतविधौ कामये त्वां नियोक्तुं,
> न्यस्तः साधीयसि सफलतामर्थभारो हि धत्ते ॥" (उद्धवसन्देशः)।
> "अतोऽहं दुःखार्ता शरणमबला त्वां गतवती।
> न भिक्षा सत्पक्षे व्रजति हि कदाचिद् विफलताम् ॥" (हंसदूतम्)।

इस श्लोकमें चतुर्थचरणस्थ सामान्य अर्थसे अर्थित्वगमनरूप विशेष अर्थका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ ६ ॥

सन्तप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद ! प्रियायाः
सन्देशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य ।
गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे पयोद ! त्वं सन्तप्तानां शरणम् असि, तत् धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य मे सन्देशं प्रियाया हर । बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या अलका नाम यक्षेश्वराणां वसतिः ते गन्तव्या ॥ ७ ॥

व्याख्या—हे पयोद=हे मेघ !, त्वं, सन्तप्तानां=सन्तापयुक्तानाम्, आतपेन अभीष्टजनवियोगेन वा संज्वरितानामिति भावः । शरणं=रक्षकः, जलदानेन स्वस्थानप्रेरणया वेति भावः । असि=वर्तते । तत्=तस्मात्कारणात्, शरणत्वादिति भावः । धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य=कुबेरकोपात् प्रियावियोजितस्य; मे=मम, सन्देशं=वार्तां, प्रियायाः=कान्तायाः, समीप इति शेषः, हर=प्रापय । मया कुत्र गन्तव्यं तस्य स्थानस्य वा किमभिधानमित्यत्राह-गन्तव्येति । बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या=बाह्योद्याने (बहिरुद्याने) स्थितस्य (विद्यमानस्य) हरस्य (शिवस्य) शिरसि (मूर्ध्नि) या चन्द्रिका (ज्योत्स्ना)त धौतहर्म्या (प्रक्षालितधनिकभवना), अलका नाम=अलकेति प्रसिद्धा ।

यक्षेश्वराणां=गुह्यकश्रेष्ठानां, वसतिः=स्थानं, ते=तव, गन्तव्या=गमनीया, त्वया गन्तव्येत्यर्थः ॥ ६ ॥

सरलार्थः—हे जलद ! त्वं सञ्जातज्वराणां रक्षकोऽसि, अतः कुबेरशापात् प्रियावियुक्तस्य मम वार्तां प्रियां प्रति प्रापय । बहिरुद्यानस्थितशिवशिरोज्योत्स्नया उज्ज्वलहर्म्या यक्षश्रेष्ठानामलका नाम पुरी त्वया गन्तव्या ॥ ७ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! तुम सन्तापयुक्तोंके रक्षक हो, इस कारणसे कुबेरके कोपसे पत्नीसे विछुड़े हुए मेरे सन्देशको प्रियाके समीप ले जाओ । बाहरके उद्यानमें विद्यमान शिवजीके शिरमें स्थित चाँदनीसे उज्वल धनिकोंके भवनोंसे सम्पन्न अलका नामकी पुरीमें तुम्हें जाना है ॥ ७ ॥

टिप्पणी—पयोद=पयो ददातीति पयोदः, तत्सम्बुद्धौ । पयस्-उपपदपूर्वक दानार्थक दाधातुसे "आतोऽनुपसर्गे कः" इस सूत्रसे क प्रत्यय हुआ है ।

सन्तप्तानां=सं + तप + क्तः । शरणं=“शरणं गृहरक्षित्रोः” इत्यमरः । तत्=यह तद् शब्दका प्रतिरूपक अव्यय है ।

धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य=धनस्य पतिः (ष०त०), तस्य क्रोधः (ष०त०),। तेन विश्लेषितस्य (तृ० त०)। वि + श्लि + णिच् + क्तः = विश्लेषितः । प्रियायाः=प्रीणातीति प्रिया, तस्याः । यहांपर प्रीञ् धातुसे “इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः’ इस सूत्रसे क प्रत्यय होकर स्त्रीत्वविवक्षामें “अजाद्यतष्टाप्” इससे टाप् हुआ है । सम्बन्धसामान्यमें षष्ठी हुई है । हर=हृञ् + लोट् + सिप् । बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या = बहिर्भवं बाह्यं, यहांपर बहिस्‌शब्दसे “बहिषष्टिलोपो यञ्च” इस वार्तिकसे यञ् प्रत्यय और टि (इस्) का लोप होकर “तद्धितेष्वचामादेः” इससे आदिवृद्धि हुई है । बाह्यं च तत् उद्यानं, (क० धा०) तस्मिन् स्थितः (स० त०), स चाऽसौ हरः (क० चा०), तस्य शिरः (ष० त०), तस्मिन् चन्द्रिका (स० त०), तया धौतानि (तृ० त०), तादृशानि हर्म्याणि यस्यां सा (बहु०),। “हर्म्यादि धनिनां वास” इत्यमरः।

अलका = अलति (भूषयति) इति, अल + क्वुन् + टाप् । उत्तरदिशाके अधिपति कुबेरकी नगरी (शहर) का नाम “अलका” है । यह कैलास पर्वतपर है ।

नाम=यह अव्यय है । “नाम प्रकाश्यसंभाव्यक्रोधोपगमकुत्सने !” इत्यमरः। यक्षेश्वराणां = यक्षाणाम् ईश्वराः, तेषाम् (ष० त०) । ईश्वरः प्रभुरीशिता” इत्यमरः । “यक्षेश्वराणाम्” ऐसे बहुवचननिर्देशसे अलकापुरीमें समृद्धयक्षोंकी प्रचुरता जानी जाती है ।

ते=“गन्तव्या” इस कृत्यप्रत्ययान्त शब्दके योगमें “कृत्यानां कर्तरि वा” इस सूत्रसे वैकल्पिक षष्ठी हुई है । एक पक्षमें तृतीया भी होती है ॥ ७ ॥

त्वामारूढं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ताः
प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययादाश्वसत्यः ।
कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ॥ ८ ॥

अन्वयः-पवनपदवीम् आरूढं त्वां पथिकवनिताः प्रत्ययात् आश्वसत्यः उद्गृहीताऽलकाऽन्ताः (सत्यः) प्रेक्षिष्यन्ते । त्वयि संनद्धे (सति) अहम् इव यो जनः पराऽधीनवृत्तिः न स्यात् (सः) कः अन्यो विरहविधुरां जायाम् उपेक्षेत ॥ ८ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) पवनपदवीं = वायुमार्गम्, आकाशमित्यर्थः। आरूढं =प्राप्तं, त्वां = भवन्तं, पथिकवनिताः=पान्थस्त्रियः, प्रोषितभर्तृका इति भावः। प्रत्ययात् = विश्वासात्, प्रियाऽऽगमनस्येति शेषः । आश्वसत्यः = विश्वसिताः, उद्गृहीताऽलकाऽन्ताः = उन्नमय्य धृताऽलकाऽग्राः (सत्यः), दृष्टिप्रसाराऽर्थमिति शेषः। प्रेक्षिष्यन्ते = उत्कण्ठाऽतिशयेन विलोकयिष्यन्तीत्यर्थः। मेघाऽऽगमनेन पान्थाः स्वगृहं कथमागमिष्यन्तीति प्रयिपादयति—कः सन्नद्ध इति। त्वयि = भवति, मेघे, संनद्धे = व्यापृते (सति), आगमनाऽर्थमिति शेषः। अहम् इव= मत्सदृशः, यः जनः=लोकः, पराऽधीनवृत्तिः=अन्याऽऽयत्तजीवनः, न स्यात् = नो भवेत्, (सः = तादृशः) कः = कतमः, अन्यः = अपरः, जन इति शेषः। विरहविधुरां = वियोगकृशां, जायां=पत्नीम्, उपेक्षेत = उपेक्षां कुर्यात्, मेघाऽऽगमे स्वतन्त्रः कोऽपि जनः पत्नीं नोपेक्षेत इति भावः ॥ ८ ॥

सरलार्थः—हे मेघ ! आकाशचारिणं त्वां प्रोषितभर्तृकाः स्त्रियः "मद्वल्लभ आगमिष्यती"ति विश्वस्य दृष्टिप्रसाराऽर्थमलकाऽग्राण्युन्नमय्य द्रक्ष्यन्ति। त्वदागमे सति मादृशात्परवशाज्जनादृते कोऽप्यन्यो वियोगदुर्बलां जायां नोपेक्षेत ॥ ८ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! आकाशमार्गसे विचरण करनेवाले तुमको पथिकोंकी स्त्रियाँ पतिके आगमनके विश्वाससे आश्वस्त होकर केशोंके अग्रभागको ऊँचा कर देखेंगी। तुम्हारे आगमनकालमें मेरे समान पराधीन पुरुषको छोड़कर और कौन व्यक्ति वियोगसे दुर्बल अपनी पत्नीकी उपेक्षा करेगा ? ॥ ८ ॥

टिप्पणी—पवनपदवीं = पवनस्य पदवी, ताम् (ष० त०)। आरूढम् = आङ् + रुह + क्तः।

पथिकवनिताः=पन्थानं गच्छन्तीति पथिकाः, पथिन् शब्दसे "पथः ष्कन्" इस सूत्रसे ष्कन् प्रत्यय होकर "षः प्रत्ययस्य" इससे मूर्धन्य षकारका लोप हुआ है।

"अध्वनीनोऽध्वगोऽध्वन्यः पान्थः पथिक इत्यपि।" इत्यमरः। प्रत्ययात्= "विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्" इस सूत्रसे हेतुमें पञ्चमी हुई है। "प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु।" इत्यमरः। आश्वसत्यः=आश्वसन्तीति, आङ्–उपसर्गपूर्वक "श्वस" धातुसे लट्के स्थानमें शतृ प्रत्यय होकर स्त्रीत्वविवक्षामें "उगितश्च" इस सूत्रसे ङीप् हुआ है।

श्वसधातुके अदादिगणी होनेसे "अदिप्रभृतिभ्यः शपः" इस सूत्रसे शप् प्रत्ययका लुक् हो गया है, इसलिए "शप्श्यनोर्नित्यम्" इस सूत्रसे नुम् आगम नहीं होनेसे "आश्वसत्यः" यह मल्लिनाथसम्मत पाठ है। परन्तु कुछ लोग

महाभारतका "न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नाऽतिविश्वसेत् ।" और भट्टिकाव्यका "आश्वसेयुर्निशाचराः" तथा ग्रन्थान्तरका "न विश्वसेत्पूर्वविरोधितस्य" इत्यादि प्रयोगोंका हवाला देकर "भ्वादिस्तु आकृतिगणः, तेन चुलुम्पतीत्यादिसंग्रहः" सिद्धान्तकौमुदीके इस प्रमाणपर श्वस धातुका भ्वादिगणमें भी पाठकी कल्पना कर "आश्वसन्त्यः" ऐसा भी पाठान्तर करते हैं ।

उद्गृहीताऽलकाऽन्ताः = अलकानाम् अन्ताः (ष० त०), "अलकाश्चूर्णकुन्तलाः" इत्यमरः । उद्गृहीता अलकाऽन्ता याभिस्ताः (बहु०) । प्रेक्षिष्यन्ते = प्र + ईक्ष + लृट् + झ ।

संनद्धे = सं + नह + क्तः । भावे सप्तमी ।

पराऽधीनवृत्तिः — वर्तनं वृत्तिः, वृत् + क्तिन् (भावे) । परस्मिन् अधीना (स० त०) । पराधीना वृत्तिः यस्य सः (बहु०) ।

स्यात् = अस् + विधिलिङ् (संभावनायाम्) ।

विरहविधुरां = विगता धूः (भारः, पुष्टिरूप इति भावः) यस्याः सा विधुरा (बहु०) यहाँपर धुर् शब्दसे "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" इस सूत्रसे समासान्त "अ" प्रत्यय हुआ है । विरहेण विधुरा, ताम् (तृ० त०), यह "जायाम्" इसका विशेषण है ।

जायां = जायते अस्यामिति जाया, ताम् । जनी धातुसे "जनेर्यक्" इस औणादिक सूत्रसे यक् प्रत्यय होकर टाप् प्रत्यय कर "जाया" पद बनता है, "भार्या जायाऽथ पुंभूम्नि दाराः" इत्यमरः ।

"पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥ ९–८ ॥

मनुस्मृतिकी इस उक्तिके अनुसार "पति गर्भरूपमें पत्नीमें जात (उत्पन्न) होता है, इसीसे उसे 'जाया' कहते हैं" ऐसा निर्वचन किया गया है । उपेक्षेत = उप + ईक्ष + विधिलिङ् + त । इस श्लोकमें सामान्यसे विशेषका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ ८ ॥

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः ।
गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः ॥ ९ ॥

अन्वयः—अनुकूलः पवनो मन्दं यथा त्वां मन्दं नुदति । अयं सगन्धः ते वामः

चातको मधुरं नदति । गर्भाधानक्षणपरिचयात् खे आबद्धमाला बलाका नयनसुभगं भवन्तं नूनं सेविष्यन्ते ॥ ९ ॥

व्याख्या--शकुनान्यपि ते शुभानि दृश्यन्त इत्याह--मन्दं मन्दमिति । अनुकूलः = अनुगुणः, पवनः=वायुः, मन्दं यथा=मन्थरम् इव, त्वां=भवन्तं, मन्दं=मन्थरं यथा तथा, नुदति=प्रेरयति । अयं=सन्निकृष्टस्थः, सगन्धः=सगर्वः, सम्बन्धीति केचित् । ते=तव, वामः = वामभागस्थः सुन्दरो वा, चातकः=सारङ्गः, मधुरं=श्रव्यं यथा तथा, नदति=शब्दं करोति । सञ्जातमिदं शुभं निमित्तद्वयम्, विद्यते चाऽन्यदपीत्याह—गर्भाधानेति । गर्भाधानक्षणपरिचयात्=समागमोत्सवसंस्तवात् हेतोः, खे=आकाशे, आबद्धमालाः=बद्धपङ्क्तयः, बलाकाः=वकाऽङ्गनाः, नयनसुभगं = लोचनसुन्दरं, भवन्तं = त्वां, नूनं = निश्चितं यथा तथा, सेविष्यन्ते = आश्रयिष्यन्ते । यात्राकाले वायोरानुकूल्यं, चातकनादो बलाकाविलोकनं च शुभसूचकमिति ज्यौतिषे प्रपञ्चितम् ॥ ९ ॥

सरलार्थः–अनुकूलो वायुर्मन्दसदृशं त्वां मन्दं प्रेरयति । अयं सगन्धः सम्बन्धी वा वामः ते चातको मधुरं शब्दायते । गर्भाधानोत्सवे परिचायादाकाशे बद्धपङ्क्तयो विसकण्ठिका लोचनसुन्दरं त्वामवश्यमाश्रयिष्यन्ते ॥ ९ ॥

अनुवादः---अनुकूल वायु मन्दगतिवाले तुमको धीरे धीरे प्रेरणा कर रहा हैं। तुम्हारे वाम भागमें स्थित यह पपीहा गर्वके साथ मधुर शब्द कर रहा है। गर्भाऽऽधानके उत्सवमें परिचय होनेसे आकाशमें पङ्क्तिबद्ध होकर बगुलियाँ नेत्रोंमें सुन्दर प्रतीत होनेवाले तुम्हारा आश्रय अवश्य कर लेंगी ॥ ९ ॥

टिप्पणी--मन्दम्=यह मेघका विशेषण है। यहांपर मल्लिनाथ आदि बहुतसे टीकाकार "मन्दं मन्दम्" ऐसा अन्वय करते हैं, परन्तु मन्दशब्द गुणवाचक हैं, इसलिए उसका वीप्सा अर्थ असंभव होनेसे "प्रकारे गुणवचनस्य" इस सूत्रसे प्रकार अर्थमें द्वित्व होकर "कर्मधारयवदुत्तरेषु" इस सूत्रसे सुप् विभक्तिका लोप होकर "मन्दमन्दम्" ऐसा रूप हो जायगा। अतः मन्दं यथा त्वां मन्दं नुदति" ऐसा अन्वय कर व्याख्यान करनेसे महाकविकी प्रामाणिकता और अर्थकी अच्छी संगति बैठ जाती है :

यथा="यथा सादृश्ययोग्यत्ववीप्सास्वार्थाऽनतिक्रमे" इति यादवः ।

मन्दम्=यह नोदन क्रियाका विशेषण है, अतः "मन्दं नुदति" इसका अर्थ हुआ "धीरे प्रेरणा कर रहा है"।

नुदति=प्रेरणाऽर्थक "नुद" धातु से लट् हुआ है।

सगन्धः=गन्धेन सहितः, यहांपर "तेन सहेति तुल्ययोगे" इस सूत्रसे वहुव्रीहि समास होकर "वोपसर्जनस्य" इस सूत्रसे विकल्पसे "सह" के स्थानमें "स" आदेश हुआ है। पक्षान्तरमें "सहगन्ध" ऐसा भी रूपान्तर होता है।

"गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः।" इति विश्वः।

"सगन्धो वन्धुरिष्यते" इति हलायुधः।

वामः="वामस्तु वक्रे रम्ये स्यात्सव्ये वामगतेऽपि च।" इति शब्दाऽर्णवः। मधुरम्=यह "नदति" इसका क्रियाविशेषण है।

नदति=अव्यक्त शब्दके अर्थमें विद्यमान "णद" धातुके लट्का रूप है।

गर्भाऽऽधानक्षणपरिचयात्=गर्भस्य आधानं (ष० त०), तत् एव क्षणः (रूपक०), तस्मिन् परिचयः, तस्मात्-(स० त०)।

"निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः।" इति।

"संस्तवः स्यात्परिचयः" इति चाऽमरः।

आबद्धमालाः=आबद्धा माला याभिः, ताः (बहु०)।

बलाकाः="बलाका बिसकण्ठिका।" इत्यमरः। नयनसुभगं=नयनयोः सुभगः, तं (स० त०)। सेविष्यन्ते=सेव्+लृट्+झ। "मन्दं मन्दम्" इस श्लोकको कुछ आधुनिक टीकाकार दशम श्लोकमें रखकर नवम श्लोकमें "तां चाऽवश्यम्" इस श्लोकको प्रस्तुत करते हैं। इसका कारण वे इस प्रकार दिखलाते हैं कि "यक्षने मेघको उसको यात्राका गौणफल पथिकवनिताओंका आश्वासन प्रदर्शित कर मुख्य फल "तां चाऽवश्यम्" इस श्लोकके अनुसार भ्रातृजायाका दर्शन प्रस्तुत किया है। इस प्रकार फलद्वयके प्रदर्शनके अनन्तर शुभशकुनका द्योतन करनेके लिए "मन्दं मन्दम्" और "कर्तुं यच्च" ये दो श्लोक अपेक्षणीय हैं" इत्यादि। परन्तु इस युक्तिपर ध्यान देनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि मुख्यफल भ्रातृजायाका दर्शन नहीं है, वह है प्रियाके पास सन्देश पहुँचाना उसको महाकवि "सन्तप्तानाम्" इस सप्तम श्लोकमें प्रदर्शित कर ही चुके हैं, तदनन्तर अन्य पथिकवनिताओंका आश्वासन गौणफल "त्वामारूढम्" इस अष्टम श्लोकमें दिखानेके बाद शुभशकुनोंका प्रदर्शन करनेके लिए "मन्दं मन्दम्" यह श्लोक और उसके बाद पत्नीका नाश अथवा उसके व्रतस्खलनकी आशङ्का हटानेके लिए "तां चाऽवश्यम्" यह श्लोक प्रस्तुत किया है; तदनन्तर सहायतासम्पत्तिका प्रदर्शन करनेके लिए "कर्तुं यच्च" इस ग्यारहवें श्लोकका उपन्यास युक्तियुक्त है। अतः महोपाध्याय मल्लिनाथजीका क्रम ही युक्तिसंगत तथा प्राचीन सम्प्रदायके अनुसार है॥ ९॥

तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नी-
मव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम् ।
आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥ १० ॥

अन्वयः—(हे मेघ !) दिवसगणनातत्पराम् अव्यापन्नाम् एकपत्नीं भ्रातृजायां ताम् अविहतगतिः (सन्) अवश्यं द्रक्ष्यसि । आशाबन्धः प्रणयि कुसुमसदृशं विप्रयोगे सद्यःपाति अङ्गनानां हृदयं प्रायशो रुणद्धि ॥ १० ॥

व्याख्या—यक्षो मत्प्रियाया नाशाद् व्रतस्खलनाद्वा प्रयासस्य वैयर्थ्यं नाऽऽशङ्कनीयमिति प्रतिपादयति-तामिति । (हे मेघ !) दिवसगणनात्पराम्=अवशिष्टदिनसंख्यानाऽऽसक्ताम्, अत एव अव्यापन्नाम् = अमृतां, शापाऽन्ते मदागमनाऽऽशया प्राणान्धारयन्तीमिति भावः । एकपत्नीं = पतिव्रतां, सपत्नीरहितां वा, भ्रातृजायां=प्रजावतीं, तव मद्भ्रातृसदृशत्वाद् भ्रातृपत्नीसदृशीमिति भावः । तां पूर्वोक्तां, मत्पत्नीमिति भावः । अविहतगतिः = अविच्छिन्नगमनः (सन्), अवश्यं = निश्चितं यथा तथा, द्रक्ष्यसि = आलोकयिष्यसि, एतावता कालेन सा (मत्प्रिया) उपरता स्यादित्याशङ्कां परिहरति—आशाबन्ध इति ।

आशाबन्धः = तृष्णाबन्धनं, तृष्णावृन्तमिति भावः । प्रणयि = प्रेमयुक्तं, कुसुमसदृशं = पुष्पतुल्यं, सुकुमारमिति भावः । अत एव विप्रयोगे = विरहे, कान्तस्येति शेषः । सद्यःपाति = तत्क्षणभ्रंशनशीलम्, अङ्गनानाम् = अबलानां, हृदयं = जीवितं, प्रायशः = प्रायेण, रुणद्धि = प्रतिबध्नाति, वियुक्ता अबलाः पतिप्रत्यागमनाऽऽशयैव प्राणान्धारयन्तीति भावः ॥ १० ॥

सरलाऽर्थः—विरहाऽवशिष्टदिनानां गणनाऽऽकुलां मदागमनाशया जीवन्तीं पतिव्रतां मत्पत्नीमप्रतिहतगत्या विलोकयिष्यसि । आशारूपं वृन्तं प्रेमयुक्तं कुसुमसुकुमारं प्रियविप्रयोगे सद्योभ्रंशनशीलमबलानां जीवनं प्रायशः प्रतिबध्नाति ॥ १० ॥

अनुवादः—हे मेघ ! विरहके अवशिष्ट दिनोंकी गणनामें व्यग्र और मेरे आगमनकी आशासे प्राणधारण करनेवाली पतिव्रता अपनी भौजाई (मेरी पत्नी) को तुम अविच्छिन्न गतिसे अवश्य देख लोगे, क्योंकि आशारूप बन्धन प्रेमपूर्ण, फूलके समान सुकुमार तथा विरहमें तत्क्षण नष्ट होनेवाले अबलाओंके जीवनको अकसर रोक रखता है ॥ १० ॥

टिप्पणी—दिवसगणनातत्परां=गणनं गणना, गण + णिच् + युच् + टाप् ।

दिवसानां गणना (ष० त०), तस्यां तत्परा, ताम् (स० त०)। "तत्परे प्रसिताऽऽसक्तौ" इत्यमरः।

अव्यापन्नां=न व्यापन्ना, ताम् (नञ्०)। वि० + आङ् + पद् + क्तः (कर्तरि) + टाप् = व्यापन्ना।

एकपत्नीम् = एकः पतिः यस्याः सा एकपत्नी, ताम् (बहु०)।

यहाँपर "नित्यं सपत्न्यादिषु इस सूत्रसे ङीप् प्रत्यय और नकार हुआ है। अथवा एका चाऽसौ पत्नी, ताम् (क० धा०)। यहाँ "एकभार्याम्" न कहकर "एकपत्नीम्" कहनेसे यज्ञसंयोगमें योग्य विवाहिता ऐसा विशिष्ट अर्थ ध्वनित होता है।

भ्रातृजायां = भ्रातुः जाया भ्रातृजाया, ताम (ष० त०).

इस विशेषणसे भौजाई होनेके कारण परस्त्री-दर्शनका निषेध तुम्हें नहीं होगा ऐसा अर्थ निकलता है।

अविहतगतिः = गमनं गतिः, गम् + क्तिन् (भावे)। न विहता (नञ्०)। अविहता गतिः यस्य सः (बहु०)। "अविहतगतिः" कहनेसे तुम्हारी गति किसी प्रकार विहत (प्रतिबद्ध) होगी तो मेरी पत्नीको नहीं देख सकोगे ऐसा भाव ध्वनित होता है।

अवश्यम् = यह दर्शन क्रियाका विशेषण है। द्रक्ष्यसि = लृट + सिप्।.

आशाबन्धः = बध्यते अनेनेति बन्धः, बन्ध + घञ्। आशा एव बन्धः (रूपक०) "आशा दिगतितृष्णयोः" इति यादवः।

प्रणयि = प्रणयः अस्यातीति, (प्रणय इनिः)।

कुसुमसदृशं = कुसुमेन सदृशं तत् (तृ०त०)। महाकवि भवभूति भी उत्तररामचरितमें "पुरन्ध्रीणां चित्तं कुसुमसुकुमारं हि भवति" इस पद्यांशमें स्त्रियोंके चित्तको फूलके समान सुकुमार बतलाते है।

विप्रयोगे=विप्रयोजनं विप्रयोगः तस्मिन्। वि + प्र + युज् + घञ्(भावे)। सद्यःपति = सद्यः पततीति तच्छीलं, सद्यस् + पत् + णिनिः (उपपद०)। अङ्गनानाम् = प्रशस्तानि अङ्गानि यासां ता अङ्गनाः, तासाम्, यहाँपर अङ्गशब्दसे "लोमाऽऽदिपामाऽऽदिभ्यः शनेलचः" इस सूत्रसे "अङ्गात्कल्याणे" इस वार्तिकके अनुसार कल्याण अर्थमें "न" प्रत्यय होकर स्त्रीत्वविवक्षामें "टाप्" प्रत्यय हुआ है "विशेषास्त्वङ्गना भीरुः कामिनी वामलोचना"। इत्यमरः। सुन्दर अङ्गवाली स्त्रियोंको "अङ्गना" कहते हैं।

प्रायशः=प्रायशब्दसे "बह्वल्पाऽर्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम्" इस सूत्रसे शस् प्रत्यय हुआ है रुणद्धि=आवरणार्थक रुधिर् (रुध्) धातुसे लट् हुआ है। "कुसुमसदृशम्" यहाँपर लुप्तोपमा और उत्तरार्द्धमें सामान्यसे विशेषका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास तथा दोनोंका अङ्गाङ्गिभाव होकर सङ्कर अलङ्कार हुआ है ।। १० ।।

कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवन्ध्यां
तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः ।
आ कैलासाद् बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः
सम्पत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ।। ११ ।।

अन्वयः—यत् महीम् उच्छिलीन्ध्राम् अवन्ध्यां च कर्तुं प्रभवति तत् श्रवणसुभगं ते गर्जितं श्रुत्वा मानसोत्काः बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तो राजहंसा नभसि आ कैलासात् भवतः सहायाः संपत्स्यन्ते ।। ११ ।।

व्याख्या—सम्प्रति सहायसम्पत्ति प्रतिपादयति कर्तुमिति। यत्=गर्जितं (कर्तृ), महीं=पृथिवीम्, उच्छिलीन्ध्राम्=उद्गतकन्दलिकाम्, अवन्ध्यां च =सफलां च, कर्तुं=विधातुं, प्रभवति=शक्नोति। तत्=तादृशं, श्रवणसुभगं =श्रोत्रसुखं, लोकस्येति शेषः। ते=तव, गर्जितं=स्तनितं, श्रुत्वा=आकर्ण्य, मानसोत्काः=मानससरोवरोत्कण्ठिताः, अतएव बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः= मृणालाऽग्रखण्डैः सम्बलवन्तः। राजहंसाः=मरालाः, हंसविशेषा इति भावः। नभसि=आकाशे, आ कैलासात्=कैलासपर्यन्तं, भवतः=तव, सहायाः= सहचराः, सम्पत्स्यन्ते=सम्भविष्यन्ति ।। ११ ।।

सरलाऽर्थः-हे मेघ ! लोकस्य कर्ण-सुखकारणं यत्ते गर्जनं पृथिवीं शिलीन्ध्रपुष्पयुक्तां सफलां च विदधाति, तदाकर्ण्य मार्गभोज्यत्वेन मृणालाऽग्रखण्डानि गृहीत्वा राजहंसा मानससरोवरे गमनोत्सुकाः सन्तः आकाशे कैलासपर्वतपर्यन्तं त्वदीयाः सहचरा भविष्यन्ति ।। ११ ।।

अनुवादः—हे मेघ ! जो कि पृथिवीको शिलीन्ध्रपुष्पोंसे युक्त और सफल करने को समर्थ है, कानोंको सुख देनेवाले तुम्हारे उस गर्जनको सुनकर मानससरोवरमें जानेके लिए उत्कण्ठित राजहंस मार्गमें खानेके लिए मृणालके अग्र भागके टुकड़ोंको लेकर आकाशमें कैलाश पर्वत तक तुम्हारे सहचर होंगे ।।११।।

टिप्पणी—उच्छिलीन्ध्राम्=उद्गतानि शिलीन्ध्राणि यस्यां सा उच्छिलीन्ध्रा,ताम् (बहु०)। "कदल्यां च शिलीन्ध्रः स्यात्" इति शब्दार्णवः। अव-

न्ध्यां न वन्ध्या अवन्ध्या, (नञ्)। किसी पुस्तकमें "उच्छिलीन्ध्रातपत्राम्" ऐसा पाठान्तर मिलता है, उसमें शिलीन्ध्राणि एव आतपत्राणि (रूपक०) ऐसा विग्रह कर उद्गतानि शिलीन्ध्रातपत्राणि यस्यां, ताम्, इस प्रकारसे बहुव्रीहि समास करना चाहिए।

कर्तुम्=कृञ् धातुसे "समानकर्तृकेषु तुमुन्" इस सूत्रसे तुमुन् प्रत्यय हुआ है, यह अव्यय है।

प्रभवति=प्र+भू+लट्+तिप्। भू धातुका अर्थ होना है, परन्तु 'प्र' उपसर्गके साथ भू धातुका अर्थ है समर्थ होना। वस्तुतः धातुओंके अनेक अर्थ स्वतः होते हैं, उपसर्ग उन अर्थोंके द्योतकमात्र होते हैं। यह वैयाकरणोंका सिद्धान्त है।

श्रवणसुभगं=श्रूयते आभ्यां ते श्रवणे, श्रवणाऽर्थक श्रुधातुसे "करणाऽधिकरणयोश्च" इस सूत्रसे करण अर्थमें ल्युट् हुआ है।

"श्रुतिः स्त्री श्रवणं श्रवः" इत्यमरः। श्रवणयोः सुभगं, तत् (स० त०)।

गर्जितं=गर्जनं गर्जितं, तत् "गर्ज" धातुसे "नपुंसके भावे क्तः" इस सूत्रसे भावमें क्तप्रत्यय हुआ है। श्रुत्वा=श्रु धातुसे "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" इस सूत्रसे पूर्वकालमें क्त्वा प्रत्यय हुआ है, "क्त्वातोसुन्कसुनः" इस सूत्रसे यह पद अव्ययसंज्ञक होगया है।

मानसोत्काः="उत्क उन्मनाः" इस सूत्रसे उद्-उपसर्गसे कन् प्रत्ययाऽन्त "उत्क" पदका निपातन होता है। मानसे उत्काः (स० त०)। ब्रह्माजीने कैलास पर्वतमें अपने मनसे जिस सरोवरकी रचना की, उसका नाम "मानस सरोवर" है। वर्षाकालके अतिरिक्त समयमें मानस-सरोवर हिम (बर्फ) से दूषित हो जाता है, हिमसे हंसोंको रोग लगता है; इसलिए वर्षाकालमें राजहंस मानससरोवरमें जाते हैं ऐसी कविप्रसिद्धि है। विश्वनाथ कविराजने भी साहित्यदर्पणमें "जलधरसमये मानसं यान्ति हंसाः" ऐसा लिखा है।

बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः=बिसानां किसलयानि (ष० त०), तेषां छेदाः बिसकिसलयच्छेदाः (ष० त०)। पथि साधु पाथेयम्। पथिन्-शब्दसे "पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्" इस सूत्रसे ढञ् प्रत्यय होकर उसके स्थानमें "आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्" इससे "एय" हुआ है। पाथेयम् अस्ति एषां ते पाथेयवन्तः, यहाँपर पाथेय शब्दसे "तदस्याऽस्त्यस्मिन्निति मतुप्" इस

सूत्रसे मतुप् प्रत्यय होकर "मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः" इससे मकारके स्थानमें वकार हुआ है।

बिसकिसलयच्छेदैः पाथेयवन्तः (तृ० त०)।

राजहंसाः=हंसानां राजानः (ष० त०), यहाँ पर "राजदन्तादिषु परम्" इस सूत्रसे राजन्-पदका पूर्वप्रयोग हुआ है।

"राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहिताः सिताः।" इत्यमरः। अर्थात् जिनके चोंच और चरण लाल हों और पक्ष सफेद हों वैसे हंसोंको "राजहंस" कहते हैं।

आ कैलासात्="आङ् मर्यादावचने" इस सूत्रसे आङ्को कर्मप्रवचनीय-सञ्ज्ञा होकर उसके योगमें "पञ्चम्यपाङ्परिभिः" इस सूत्रसे कैलास शब्दसे पञ्चमी विभक्ति हुई है। हिमालयमें स्थित एक पर्वतका नाम "कैलास" है। वहाँपर शिवजी और उनके मित्र कुबेर भी रहते हैं।

संपत्स्यन्ते=सं + पद् + लृट् + झ ॥ ११ ॥

आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलं
वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु।
काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम् ॥ १२ ॥

अन्वयः—प्रियसखं तुङ्गं पुंसां वन्द्यैः रघुपतिपदैः मेखलासु अङ्कितम् अमुं शैलम् आलिङ्ग्य आपृच्छस्व। काले काले भवतः संयोगम् एत्य चिरविरहजम् उष्णं बाष्पं मुञ्चतो यस्य स्नेहव्यक्तिः भवति ॥ १२ ॥

व्याख्या-प्रियसखम्=अभीष्टमित्रं, तुङ्गम्=उच्चं, पुंसां=जनानां, वन्द्यैः=आराधनीयैः, रघुपतिपदैः=रामचरणन्यासैः, मेखलासु=मध्यप्रदेशेषु, अङ्कितं=चिह्नितम्, एवं प्रियमित्रत्वादुन्नतत्वाद्वन्दनीयत्वाच्च सभावनायोग्यम्-अमुम्=एतं, शैलं=पर्वतं, रामगिरिं, चित्रकूटमिति भावः। आलिङ्ग्य=आश्लिष्य, आपृच्छस्व="महाभाग! गच्छाम्यह" मित्यामन्त्रणेन आनन्दय। सखित्वं निर्वाहयति—काले काल इति। काले काले प्रतिकालं, प्रतिवर्षाकालमिति भावः। भवतः=तव, संयोगं=सम्पर्कम्, एत्य,=प्राप्य, चिरविरहजं=बहुकाल-वियोगोत्पन्नम्, उष्णम्=अशीतलं, बाष्पम्=ऊष्माणं नयनजलं वा, मुञ्चतः=त्यजतः, बस्य=शैलस्य, रामगिरेरिति भावः। स्नेहव्यक्तिः=प्रेमाऽऽविर्भावः भवति=वर्तंते, बहुकालाऽनन्तरं मित्रसमागमे बाष्पपातो भवतीति भावः ॥१२॥

सरलार्थः-हे मेघ! लोकाऽभिवादनीयैं रामचरणन्यासैर्मध्यभागेषु चिह्नितं

प्रियमित्रमुन्नतं रामगिरिपर्वतमालिङ्ग्य यात्रार्थमनुज्ञाप्रश्नेनाऽऽनन्दय। प्रतिवर्षाकालं भवत्समागमसुखमनुभूयोष्णं बाष्पं त्यजतो यस्य प्रणयः प्रादुर्भवति ॥ १२ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! लोकके अभिवादनके योग्य श्रीरामके चरणन्यासोंसे मध्यभागोंमें चिह्नित, प्रिय मित्र उन्नत रामगिरि पर्वतको आलिङ्गन कर यात्राकी आज्ञा लो। प्रतिवर्ष वर्षाकालमें तुम्हारे सम्पर्कको पाकर बहुत समयके वियोगसे उत्पन्न उष्ण बाष्प (भाप वा आँसू) छोड़नेवाले जिस (रामगिरि पर्वत) के प्रेमकी अभिव्यक्ति होती है ॥ १२ ॥

टिप्पणी—प्रियसखं=प्रियश्चाऽसौ सखा प्रियसखः, तम् (क० धा०), "राजाऽहःसखिभ्यष्टच्" इस सूत्रसे सखि शब्दसे समासाऽन्त टच् (अ) प्रत्यय हुआ है।

पुंसाम् = "वन्द्यैः" इस कृत्यप्रत्ययाऽन्त पदके योगमें "कृत्यानां कर्तरि वा" इस सूत्रसे विकल्पसे षष्ठी हुई है, अतः एक पक्षमे "पुम्भिः" तृतीया विभक्ति भी हो सकती है।

वन्द्यैः = वन्दितुं योग्यानि, तैः। वदि (वन्द) + ण्यत्। रघुपतिपदैः = रघूणां पतिः (ष० तम्), यहाँपर बहुवचनाऽन्त रघुशब्दसे रघुके अपत्योंके अर्थमें लक्षणा होती है। रघुपतेः पदानि, तैः (ष० त०)। "पतिः समास एव" अर्थात् समासमें ही पति शब्दके घिसंज्ञक होनेसे घिसंज्ञक होकर रघुपति शब्दके रूप हरि शब्दके समान चलते हैं।

मेखलासु="मेखला खड्गबन्धे स्यात्काञ्चीशैलनितम्बयोः।" इति मेदिनी।

आलिङ्ग्य = आङ् + लिगि (लिङ्ग्) + क्त्वा (ल्यप्)।

आपृच्छस्व=आङ् उपसर्गपूर्वक ज्ञीप्सा (ज्ञाना)-र्थक प्रच्छ धातुसे "आङि नुप्रच्छयोः" इस सूत्रसे आत्मनेपद हुआ है। आङ् + प्रच्छ + लोट् + थास।

"आमन्त्रणसमाजने। आप्रच्छन्नम्" इत्यमरः।

काले काले=यहाँपर "नित्यवीप्सयोः" इस सूत्रसे वीप्सामें द्विरुक्ति हो गई हैं। संयोगम्=सं + युज् + घञ्। एत्य = आङ् + इण् + क्त्वा (ल्यप्)।

चिरविरहजं = चिरं विरहः = चिरविरहः, यहाँपर "कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इस सूत्रसे द्वितीया विभक्ति होकर "अत्यन्तसंयोगे च" इससे द्वितीयातत्पुरुष हुआ है। चिरविरहात् जातः चिरविरहजः, तम्, यहाँपर "पञ्चम्यामजातौ" इस सूत्रसे डप्रत्यय हुआ है। चिरविरह + जन् + डः उपपद०।

बाष्पं="बाष्पो नेत्रजलोष्मणोः" इति विश्व०

BVBSBMV

मुञ्चतः=मुञ्चतीति मुञ्चन् तस्य । मुच्+लट् (शतृ) ।

स्नेहव्यक्तिः=स्निह+घञ् (भावे)=स्नेहः । व्यञ्जनं व्यक्तिः, वि+अञ्ज्+क्तिन्=व्यक्तिः । स्नेहस्य व्यक्तिः (ष० त०) । इस श्लोकमें चिरविरहके अनन्तर जब मित्रोंका समागम होता है तब वे स्नेहसे आँसू गिराते हैं ऐसा अर्थ और वृष्टिके अनन्तर पर्वतसे बाष्प (भाप) उत्पन्न होता है यह दूसरा अर्थ भी प्रकट होता है ।। १२ ।।

मार्गं तावच्छृणु कथयतस्त्वत्प्रयाणानुरूपं
सन्देशं मे तदनु जलद ! श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम् ।
खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य गन्तासि यत्र
क्षीणः क्षीणः परिलघु पयः स्रोतसां चोपभुज्य ।। १३ ।।

अन्वयः—हे जलद ! तावत् कथयतः (मत्तः) त्वत्प्रयाणाऽनुरूपं मार्गं शृणु, तदनु श्रोत्रपेयं मे सन्देशं श्रोष्यसि । यत्र खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य क्षीणः क्षीणः (सन्) स्रोतसां परिलघु पयश्च उपभुज्य गन्तासि ।। १३ ।।

व्याख्या—हे जलद=हे मेघ !, तावत्=इदानीं, कथयतः=वदतः, मत्त इति शेषः । त्वत्प्रयाणाऽनुरूपं=भवत्प्रस्थानाऽनुकूलं, मार्गं=पन्थानं, शृणु=आकर्णय । तदनु=तदनन्तरं, मार्गश्रवणाऽनन्तरमित्यर्थः । श्रोत्रपेयं=कर्णपानाऽर्हं, तृष्णाऽतिशयेन श्रवणीयमिति भावः । मे=मम, सन्देशं=वाचिक, "श्यामास्वङ्गम्" इत्यादिना वक्ष्यमाणं, श्रोष्यसि=आकर्णयिष्यसि । यत्र=मार्गे, खिन्नः खिन्न=अभीक्ष्णं क्षीणशक्तिः सन्, शिखरिषु=पर्वतेषु, पदं=चरणं, न्यस्य=निक्षिप्य, पुनः शक्तिलाभाऽर्थं क्वचिद्विश्रम्येत्यर्थः । क्षीणः क्षीणः=अभीक्ष्णं कृशशरीरः (सन्), स्रोतसां=गिरिनदीप्रवाहाणां, परिलघु=गुरुत्वदोषरहितं, प्रस्तराऽऽस्फालनखेदितत्वात्पथ्यमिति भावः । पयश्च=जलं च । उपभुज्य=उपयुज्य, गन्तासि=गमिष्यसि ।। १३ ।।

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! प्रथमं मत्सकाशात्स्वप्रस्थानाऽनुकूलं मार्गमाकर्ण्य तदनन्तरं साऽतिशयं श्रोत्रसुखोत्पादकं मदीयं सन्देशं श्रोष्यसि । यस्मिन्मार्गे त्वं गमनाऽऽयासेन परिश्रान्तिमनुभूय पर्वतेषु पादन्यासं विधायाऽतिकृशो भूत्वा गिरिनदीप्रवाहाणां लघु जलमुपभुज्य गमिष्यसि ।। १३ ।।

अनुवादः—हे मेघ ! तुम पहले मुझसे अपनी यात्राके अनुकूल मार्गका श्रवण करो । तदनन्तर अतिशय तृष्णासे सुननेके योग्य मेरे सन्देशको सुन लोगे । जिस

मार्गमें यात्राके परिश्रमसे बहुतही शक्तिहीन होते हुए पर्वतोंमें पदन्यास कर अत्यन्त दुर्बल होकर स्रोतोंके हलके जलका उपयोग करके जाओगे।

टिप्पणी—जलद=जलं ददातीति जलदः, तत्सम्बुद्धौ, जल-उपपदपूर्वक दा धातुसे "आतोऽनुपसर्गे कः" इस सूत्रसे कप्रत्यय हुआ है (उपपदसमासः)। कथयतः=कथ+णिच्+लट् (शतृ)+ङस् यहाँपर "आख्यातोपयोगे" इस सूत्रसे अपादान संज्ञा होकर कथयत् शब्दसे पञ्चमी हुई है।

त्वत्प्रयाणाऽनुरूपं=प्र+या+ल्युट्=प्रयाणम्। तव प्रयाणं त्वत्प्रयाणम् (ष० त०), यहाँपर उत्तरपद "प्रयाण" के परे रहते युष्मद् शब्दके स्थानमें "प्रत्ययोत्तरपदयोश्च" इस सूत्रसे त्वत् आदेश हुआ है। रूपम् अनुगतः अनुरूपः, यहाँपर "अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया" इस वार्तिकसे प्रादिसमास हुआ है। त्वत्प्रयाणस्य अनुरूपः, तम् (ष० त०) यह मार्गम्" का विशेषण है। शृणु=श्रु+लोट्+सिप्।

तदनु="अनुर्लक्षणे" इस सूत्रसे अनुको कर्मप्रवचनीय संज्ञा होनेसे "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया" इससे द्वितीया हुई है।

श्रोत्रपेयं=श्रूयते आभ्यां ते श्रोत्रे, श्रु धातुसे औणादिक् ष्ट्रन् प्रत्यय हुआ है। पातु योग्यः पेयः, पानाऽर्थक पा धातुसे "अचो यत्' इस सूत्रसे यत् प्रत्यय होकर "ईद्यति" इससे "पा"के आकारके स्थानमें ईकार होकर गुण होकर "पेयम्" रूप बनता है। पा+यत्।

श्रोत्राभ्यां पेयः, तम् (तृ० त०), यह "सन्देशम्"का विशेषण है। कहीं कहीं "श्रोत्रपेयम्"के स्थानपर "श्रव्यबन्धम्" ऐसा पाठ मिलता है, उसमें 'श्रव्यो बन्धो यस्मिन् तम्' ऐसा विग्रह कर बहुव्रीहि समास करना चाहिए। "श्रोतव्यरचनम्' अर्थात् श्रवणीय रचनावाला ऐसा अर्थ करना चाहिए।

सन्देशं=सं+दिश+घञ्। श्रोष्यसि=श्रु+लृट्+सिप्।

यत्र=यस्मिन्निति, यद् शब्दसे "सप्तम्यास्त्रल्" इस सूत्रसे त्रल् प्रत्यय हुआ है, यह अव्यय है। खिन्नः खिन्नः=परिघातार्थक खिद धातुसे कर्ताके अर्थमें क्तप्रत्यय होकर "खिन्न" शब्द बना है। "नित्यवीप्सयोः" इस सूत्रसे नित्याऽर्थमें द्वित्व हुआ है।

शिखरिषु=शिखराणि सन्ति येषु शिखरिणः, तेषु, शिखर+इनिः। "महीध्रे शिखरिक्ष्माभृदहार्यधरपर्वताः।" इत्यमरः।

न्यस्य=नि+अस्+क्त्वा (ल्यप्)। क्षीणः क्षीणः=क्षयाऽर्थक क्षि धातुसे

कर्तामें क्त प्रत्यय होकर "क्षियो दीर्घात्" इस सूत्रसे दीर्घ होकर "क्षीण" शब्द सिद्ध होता है। यहाँपर पूर्ववत् नित्यार्थमें द्विरुक्ति है।

परिलघु=परितः लघु, यहाँपर "कुगतिप्रादयः" इस सूत्रसे गतिसमास हुआ है। पत्थरोंसे ताडित होनेके कारण पर्वतकी नदियोंका जल हलका और पथ्य होता है, ऐसा वाग्भटने प्रतिपादन किया है

उपभुज्य=उप+भुज्+क्त्वा (ल्यप्)। गन्तासि=गम्+लुट्+सिप्। इस श्लोकमें उत्तरार्द्धमें कार्यसे मेघमें सामान्य पथिकके व्यवहारका समारोप होनेसे समासोक्ति अलङ्कार है॥ १३ ॥

अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभि-
र्दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः ।
स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं
दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान् ॥ १४ ॥

अन्वयः—पवनः अद्रेः शृङ्गं हरति किंस्वित् ? इति उन्मुखीभिः मुग्धसिद्धाऽङ्गनाभिः चकितचकितं दृष्टोत्साहः (सन्) सरसनिचुलात् अस्मात् स्थानात् पथि दिङ्नागानां स्थूलहस्ताऽवलेपान् परिहरन् उदङ्मुखः (सन्) खम् उत्पत ॥ १४ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) पवनः=वायुः, अद्रेः=पर्वतस्य, रामगिरेरिति भावः। शृङ्गं=शिखरं, हरति किंस्वित्=नयति किम्, इति=इत्थं, शङ्कयेति शेषः। उन्मुखीभिः=उन्नतवदनाभिः, मुग्धसिद्धाऽङ्गनाभिः=मूढसिद्धसुन्दरीभिः, चकितचकितं=साश्चर्यं यथा स्यात्तथा, दृष्टोत्साहः=विलोकितोद्योगः (सन्), सरसनिचुलात्=आर्द्रस्थलवेतसात्, अस्मात्=एतस्मात्=आश्रमात्, पथि=मार्गे, आकाशमार्ग इति भावः। दिङ्नागानां=दिग्गजानां, स्थूलहस्ताऽवलेपान=पीवरशुण्डाऽऽक्षेपान्, परिहरन्=परित्यजन्, उदङ्मुखः=उत्तराऽभिमुखः (सन्), अलकाया उत्तरदिग्भवत्वादित्यभिप्रायः। खम्=आकाशम्, उत्पत=उद्गच्छ ॥ १४ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! वेगाऽतिशयेन गच्छतस्तवोद्योगं वीक्ष्य "वातः पर्वतशिखरं हरति किम् ?" इति विचिन्त्य मूढाः सिद्धसुन्दर्योऽतिचकिता भविष्यन्ति। तत आर्द्रस्थलवेतसादस्मादाश्रमान्नभोमार्गे प्रतिरोधकानां दिग्गजानां पीवरशुण्डादण्डाक्रमणानि परित्यजनलकागमनाऽर्थमुत्तराऽभिमुखत्वेन गगनमुत्पत ॥ १४ ॥

अनुवाद—हे मेघ ! तुम्हारा उत्साह देखकर सिद्धोंकी सुन्दरियाँ मोहसे

"वायु पर्वतकी चोटी उड़ा ले जा रहा है क्या ?" ऐसा विचार कर अत्यन्त आश्चर्ययुक्त हो जायँगी। तुम आर्द्र स्थलवेतसोंसे सम्पन्न इस आश्रमसे आकाशमार्गमें बड़ी-बड़ी सूँड़ोंके आक्रमणसे बचते हुए अलकापुरीमें जानेके लिए उत्तराऽभिमुख होकर आकाशमें उड़ जाओ ॥ १४ ॥

टिप्पणी - शृङ्गं = "कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्" इत्यमरः ; हरति = हृ = लट् + तिप्। किंस्वित् "किम् + स्वित्" ये दो अव्यय संयुक्त होकर विकल्प और वितर्क आदि अर्थोंको प्रकाशित करते हैं। उन्मुखीभिः = उन्नत मुखं यासां ता उन्मुख्यः (बहु०), यहाँपर "स्वाऽङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्" इस सूत्रसें स्त्रीत्वविवक्षामें ङीष् प्रत्यय हुआ है।

मुग्धसिद्धाऽङ्गनाभिः = सिद्धानाम् अङ्गनाः (ष० त०), मुग्धाश्च ताः सिद्धाऽङ्गनाः, ताभिः (क० धा०)। "सिद्ध" देवयोनिविशेष माने गये हैं, अथवा योगकी अष्ट सिद्धियोंको प्राप्त करनेवाले पुरुष "सिद्ध" सम्मत हैं। चकितचकितं=चकितप्रकारं यथा तथा, यहाँपर "प्रकारे गुणवचनस्य" इस सूत्रसे प्रकारमें द्वित्व होकर "कर्मधारयवदुत्तरेषु" इससे "सु" का लोप हो गया है।

दृष्टोत्साहः = दृष्ट उत्साहो यस्य सः (बहु०), दृश् + क्तः (कर्मणि) = दृष्टः। सरसनिचुलात् = सरसा निचुला यस्मिस्तत्, तस्मात् (बहु०), "वानीरे कविभेदे स्यान्निचुलः स्थलवेतसे।" इति शब्दाऽर्णवः।

स्थानात् = गतिनिवृत्ति अर्थमें विद्यमान ष्ठा (स्था) धातुसे ल्युट् प्रत्यय होकर "स्थान" शब्द सिद्ध होता है।

दिङ्नागानां = दिशां नागाः, तेषाम् (ष० त०)।
"मतङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी।" इत्यमरः। आठ दिशाओंमें आठ दिग्गज रहते हैं जैसे कि--

"ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमदोऽञ्जनः।
पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः ॥"

स्थूलहस्ताऽवलेपान् = स्थूलाश्च ते हस्ताः (क० धा०), तेषाम् अवलेपान् (ष० त०)। परिहरन् = परि + हृ + लट् (शतृ)। उदङ्मुखः = उदक् मुखं यस्य सः (बहु०) उत्पत = उद् + पत + लोट्।

——इस श्लोकमें महोपाध्याय मल्लिनाथजीने एक दूसरे अर्थका भी प्रदर्शन किया है, वह इस प्रकारसे है-"सरसनिचुलात्" कहनेसे कोई "निचुल" नामके रसिक महाकवि अभिप्रेत होते हैं, जो कि महाकवि कालिदासके सहाऽध्यायी तथा दूसरों-

से दिखाये गये कालिदासके प्रबन्धदोषोंका परिहरण करनेवाले थे । जिस स्थानमें ''निचुल'' जैसे रसिक रहते थे उस स्थानसे निर्दोष होनेसे ऊँचे मुखवाले होते हुए मार्गमें अर्थात् सारस्वत मार्गमें ''दिङनाग'' नामक कोई कालिदासके विरोधी आचार्य हैं, यहांपर ''दिङ्नागानाम्'' यह आदराऽर्थी बहुवचन है । उनके हस्तावलेपोंको अर्थात् हस्तविन्यासपूर्वक दूषणोंको परिहरण करते हुए अद्रेः अर्थात् अद्रिकल्प (पर्वतके समान) उन्नत दिङ्नाग आचार्यका, शृङ्गम्=अर्थात् प्रधानताको, परिहरति=परिहरण करता है क्या ? इस कारणसे सिद्धैः=सारस्वतसिद्ध महाकवियोंसे और अङ्गनाभिश्च=गुणवती सुन्दरियोंसे भी, दृष्टोत्साहः=उद्योग देखे जाते हुए; खम् उत्पत=आकाशमें उड़ो । इस श्लोकमें इस प्रकारसे अपने प्रबन्ध और अपने प्रति कविकी यह उक्ति है कहकर मल्लिनाथजीने ध्वनिरूप इस अर्थान्तरका भी प्रदर्शन किया है ।

''संसर्गतो दोषगुणा भवन्तीत्येतन्मृषा येन जलाशयेऽपि ।
स्थित्वाऽनुकूलं निचुलश्चलन्तमात्मानमारक्षति सिन्धुवेगात् ॥''

इस श्लोककी रचनासे कालिदासके सहाऽध्यायी पूर्वोक्त महाकविको ''निचुल'' संज्ञा मिली है यह भी उन्हींका कहना है । परन्तु मल्लिनाथजीका यह अभिमत सर्वसम्मत नहीं है ।

''दिङ्नाग'' नामके आचार्य कालिदासके विरोधी थे, यह कहना भी निर्विबाद नहीं है, क्योंकि ''दिङ्नाग'' नामके बहुतसे विद्वान् हो गये हैं । बौद्ध दिङ्नाग कालिदासके समयके प्रतिद्वन्द्वी विद्वान् थे इस कथनमें भी प्रामाणिकता नहीं है, क्योंकि आजकल बहुतसे विद्वानोंके मतमें कालिदास विक्रमकी प्रथम शताब्दीमें थे, इसके विपरीत वसुबन्धुके शिष्य दिङ्नाग पाँचवी शताऽब्दीमें हुए थे, इस स्थितिमें कालको विभिन्नताके कारण वे कैसे कालिदासके विरोधी हो सकते हैं ? इसके सिवाय अपने सम्प्रदायके आचार्योंको छोड़कर भिन्न सम्प्रदायके विरोधी विद्वान्के लिए कालिदासका ''दिङ्नागानाम्'' इस प्रकारसे बहुवचनाऽन्त प्रयोग करना भी उपपत्तिपूर्ण नहीं माना जा सकता है । इन सब कारणोंसे मल्लिनाथजीका पूर्वोक्त सिद्धान्त किसी पुष्ट प्रमाणके ऊपर आधारित न होकर गड्डलिकाप्रवाह न्याय (भेड़ियाधसान) के अनुसार है । अब यहाँपर ''दिङ्नागानाम्'' ऐसा बहुवचन कविने क्यों लिखा ? यह प्रश्न उठ सकता है इसका समाधान यह है—मार्गमें उत्तरदिशाके अतिरिक्त अन्य दिग्गजोंके स्थूल सूँड़ोंके आक्रमणसे बचते हुए, इस प्रकार अर्थ करनेसे कुछ भी आपत्ति नहीं आती है ॥ १४ ॥

रत्नच्छायाऽऽव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ता-
द्वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुष्खण्डमाखण्डलस्य ।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥ १५ ॥

अन्वयः--रत्नच्छायाऽऽव्यतिकर इव प्रेक्ष्यम् आखण्डलस्य एतत् धनुष्खण्डं पुरस्तात् वल्मीकाऽग्रात् प्रभवति । येन ते श्यामं वपुः स्फुरितरुचिना बर्हेण गोपवेषस्य विष्णोः (श्यामं वपुः) इव अतितरां कान्तिम् आपत्स्यते ॥ १५ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) रत्नच्छायाऽऽव्यतिकर इव=रत्नच्छायानां (पद्मरागाऽऽदिमणिप्रभाणाम्) आव्यतिकर इव (संमिश्रणम् इव), प्रेक्ष्यं=दर्शनीयम्, आखण्डलस्य=इन्द्रस्य, एतत्=समीपतरवर्ति, धनुष्खण्डं=कार्मुकशकलं, पुरस्तात्=अग्रे, वल्मीकाऽग्रात्=वामलूरविवरात्, प्रभवति=आविर्भवति । येन=धनुष्खण्डेन, ते=तव, श्यामं=कृष्णवर्णं, वपुः=शरीरं, स्फुरितरुचिना=उज्ज्वलकान्तिना, बर्हेण=पिच्छेन, गोपवेषस्य=गोपालवेषस्य । विष्णोः=कृष्णस्य, (श्यामं=कृष्णवर्णं, वपुः=शरीरम्) इव=यथा, अतितरां=साऽतिशयं, कान्ति=शोभाम्, आपत्स्यते=प्राप्स्यते ॥ १५ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! पद्मरागाऽऽदिमणीनां संमिश्रणमिव मनोहरमेतदिन्द्रायुधं परतो वल्मीकविवराद् दृष्टिग्राह्यं भवति, येनोज्ज्वलकान्तिसम्पन्नेन पिच्छेन गोपवेषस्य कृष्णस्येव त्वदीयं श्यामं शरीरं शोभाऽतिशयसम्पन्नं भविष्यति ॥१५॥

अनुवादः—हे मेघ ! पद्मराग आदि मणियोंकी कान्तियोंका संमिश्रणके समान दर्शनीय इन्द्रधनु, आगे वल्मीक (वांबी) के अग्र भागसे दिखाई पड़ रहा है। जिससे श्याम वर्णवाला तुम्हारा शरीर उज्ज्वल कान्तिवाले मयूरपिच्छसे गोपवेष धारण करनेवाले कृष्णके शरीरके समान अतिशय शोभा प्राप्त कर लेगा ॥ १५ ॥

टिप्पणी—रत्नच्छायाऽऽव्यतिकर इव=रत्नानां छायाः रत्नच्छायम् (ष० त०), यह पद "छाया बाहुल्ये" इससे नपुंसकलिङ्गी हुआ है। व्यतिकरणं व्यतिकरः, यहाँपर वि+अति उपसर्गपूर्वक कॄ धातुसे "ॠदोरप्" इस सूत्रसे अप् प्रत्यय हुआ है। समन्तात् व्यतिकरः आव्यतिकरः, "कुगतिप्रादयः" इस सूत्रसे गतिसमास हुआ है। रत्नच्छायस्य आव्यतिकरः (ष० त०) ।

प्रेक्ष्य=प्रेक्षितुं योग्यं प्र+ईक्ष+ण्यत् । एतत्="समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्" इस नियमके अनुसार अतिशय निकटमें रहनेवाले पदाऽर्थके लिए "एतद्" शब्दका प्रयोग होता है।

धनुष्खण्डं = धनुषः खण्डं, (ष० त०), "नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य" इस सूत्रसे उत्तरपदमें अविद्यमान इस् और उस्के विसर्गका कवर्ग और पवर्गके परे रहते नित्य मूर्धन्य षकार हुआ है। अतः "धनुःखण्डम्" यह पाठ अशुद्ध है। इन्द्रधनुके विषयमें वराहमिहिरने बृहत्संहितामें लिखा है:—

"सूर्यस्य विविधवर्णाः पवनेन विघट्टिताः साऽभ्रे।
वियति धनुःसंस्थाना ये दृश्यन्ते तदिन्द्रधनुः॥
केचिदनन्तकुलोरगनिःश्वासोद्भूतमाहुराचार्याः॥"

पुरस्तात् = "पूर्वस्यां दिशि" ऐसा विग्रह कर पूर्वा शब्दसे "दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः" इससे स्वार्थ (प्रकृत्यर्थ) में अस्ताति प्रत्यय हुआ और "अस्ताति च" इस सूत्रसे पूर्वाके स्थानमें पुर आदेश हुआ है।

वल्मीकाऽग्रात् = वल्मीकस्य अग्रं, तस्मात् (ष० त०)।

"वामलूरश्च नाकुश्च वल्मीकं पुंनपुंसकम्।" इत्यमरः।

स्फुरितरुचिना = स्फुरिता रुचिर्यस्य तत्, तेन (बहु०)। स्फुर + क्तः (कर्तरि) + टाप् = स्फुरिता।

गोपवेषस्य = गां पातीति गोपः, गो + पा + कः। (उपपदसमासः)। गोपस्येव वेषो यस्य, तस्य (व्यधि० बहु०)। श्रीमद्भागवत आदि पुराणके अनुसार भगवान् विष्णुके अष्टम अवतार श्रीकृष्ण बचपनमें नन्दके पुत्र होकर गोपालका वेष धारण करते थे।

अतितराम् = अति + तरप् + आमु (म्) तरप्प्रत्ययाऽन्त अतिशब्दसे "किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे" इस सूत्रसे आमुप्रत्यय हुआ है। यह क्रियाविशेषण है।

आपत्स्यते = आङ् + पद + लृट् + त.

इस श्लोकमें प्रथम चरणमें और चतुर्थ चरणमें दो श्रौती उपमाओंकी निरपेक्षतासे स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है॥ १५॥

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं
किंचित्पश्चाद् व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण॥ १६॥

अन्वयः—कृषिफलं त्वयि आयत्तम् इति प्रीतिस्निग्धैः भ्रूविलासाऽनभिज्ञैः।

जनपदवधूलोचनैः पीयमानो मालं **क्षेत्रं** सद्यः सीरोत्कषणसुरभि आरुह्य किञ्चित् पश्चात् लघुगतिः (सन्) **भूयः उत्तरेण** एव व्रज ॥ १६ ॥

व्याख्या—कृषिफलं=हलकर्मपरिणामः, **सस्यमिति** भावः । त्वयि=भवति, आयत्तम्=अधीनम्, इति=अस्मात्कारणात्, प्रीतिस्निग्धैः=प्रेमाऽऽर्द्रैः, भ्रूविलासाऽनभिज्ञैः=भ्रूविकारज्ञानरहितैः, जनपदवधूलोचनैः=पल्लीमहिलानयनैः, पीयमानः=सादरम् अवलोक्यमानः (सन्), मालं=मालनामकम्, उन्नतं, क्षेत्रं=केदारं, सद्यः=तत्क्षणं, सीरोत्कषणसुरभि=हलविदारणेन सुरभि (यथा तथा), आरुह्य=आरोहणं कृत्वा, तत्र अभिवृष्येति भावः । किञ्चित्पश्चात्=कियत्कालाऽनन्तरं, लघुगतिः=शीघ्रगमनः (सन्), निर्वृष्टत्वादिति भावः । भूयः=पुनरपि, उत्तरेण एव=उत्तरमार्गेण एव, व्रज=गच्छ । यथा कश्चिद् बहुपत्नीकः पतिः कुत्रचित्प्रच्छन्नतया विहृत्य नीचमार्गेण निर्गत्य पुनरपि सर्वत्र दाक्षिण्यं (समवर्तित्वम्) प्रदर्शयति तद्वदिति ध्वनिः ॥ १६ ॥

सरलार्थः—हे मेघ ! सस्यादीनां त्वदधीनत्वादकृत्रिमस्नेहाऽऽर्द्रैर्भ्रूविकारप्रदर्शनेऽकुशलैर्ग्रामीणललनानयनैः सादरमवलोक्यमानस्त्वं हलविदारणेन सौरभसम्पन्नं मालाऽऽख्यमुन्नतभूतलं वर्षणेनाऽनुगृह्य किञ्चित्कालाऽनन्तरं सत्वरगतया पुनरप्युत्तरमार्गेण एव गच्छ ॥ १६ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! खेतीका फल तुम्हारे अधीन है इसलिए स्वाभाविक स्नेहसे आर्द्र तथा भ्रूविलासोंसे अनभिज्ञ गाँवकी स्त्रियोंकी आँखोंसे आदरपूर्वक देखे जाते हुए तुम तत्क्षण हल चलाये गये "माल" नामके ऊँचे क्षेत्रको वृष्टिसे खुशबूदार बनाकर कुछ समयके अनन्तर शीघ्र गतिका अवलम्बन कर फिर उत्तरमार्गसे ही चले जाओ ॥ १६ ॥

टिप्पणी—कृषिफलं=कृषेः फलम् (ष० त०)। त्वयि=अधिकरणविवक्षामें सप्तमी । आयत्तम्=आङ्+यत+क्तः । "अधीनो निघ्न आयत्तः" इत्यमरः । प्रीतिस्निग्धैः=प्रीणनं प्रीतिः प्री+क्तिन् । स्निह+क्तः=स्निग्धम्, प्रीत्या स्निग्धानि, तैः (तृ०त०)

भ्रूविलासाऽनभिज्ञैः=भ्रुवोः विलासाः (ष० त०)। वि+लस्+घञ् (भावे)=विलासः । अभिज्ञानि अनभिज्ञानि (नञ्०)। भ्रूविलासेषु अनभिज्ञानि, तैः (स० त०)। ग्रामीण स्त्रियां नागरिक स्त्रियोंकी तरह रसिक नहीं होती हैं इसलिए उनके लोचनोंको भ्रूविलासोंमें अनभिज्ञ कहा है ।

जनपदवधूलोचनैः=जनः पदं (वस्तु) यस्मिन् स जनपदः (बहु०),

"नीवृज्जनपदः" इत्यमरः। जनपदे वध्वः (स० त०)। तासां लोचनानि जनपदवधूलोचनानि, तैः (ष० त०)।

पीयमानः=पीयत इति, पा + लट् (शानच्) (कर्मणि)।

मालं="मालमुन्नतभूतलम्' इत्युत्पलमाला। 'माल" पदके अर्थमें टीकाकारोंमें बहुत मतभेद है। उसका मालनामक देश, क्षेत्रसमूह, वनभूमि वा मालवदेश ऐसा अर्थ किया है।

क्षेत्रं="क्षेत्रं शरीरे केदारे सिद्धस्थानकलत्रयोः।" इति विश्वः।

सद्यः=समानेऽहनि "सद्यःपरुदि"त्यादिना निपातः, यह अव्यय है। सीरोत्कषणसुरभि=उद् + कष + ल्युट् (भावे)=उत्कषणम्। सीरैः उत्कषणं (तृ० त०), तेन सुरभि, (तृ० त०), तद् यथा तथा, यह आरोहण क्रियाका विशेषण है।

आरुह्य=आङ् + रुह + क्त्वा (ल्यप्)। लघुगतिः=लघ्वी गतिः यस्य सः (बहु०)। "लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्" इत्यमरः। उत्तरेण=यहाँपर "प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्" इस वार्तिकसे तृतीया विभक्ति हुई है।

व्रज=व्रज + लोट् + सिप्॥ १६॥

त्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना
वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः।
न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः॥ १७॥

अन्वयः–आम्रकूटः सानुमान् आसारप्रशमितवनोपप्लवम् अध्वश्रमपरिगतं त्वां साधु मूर्ध्ना वक्ष्यति। क्षुद्रः अपि संश्रयाय मित्रे प्राप्ते (सति) प्रथमसुकृताऽपेक्षया विमुखो न भवति। यः तथा उच्चैः (सः) किं पुनः॥ १७॥

व्याख्या—आम्रकूटः=आम्रकूटनामकः, सानुमान्=पर्वतः, आसारप्रशमितवनोपप्लवं=धारासंपातनिवारितदावाऽनलं, कृतोपकारमिति भावः। अध्वश्रमपरिगतं=मार्गपरिश्रमयुक्तं, त्वां=भवन्तं, साधु=समीचीनं यथा तथा। मूर्ध्ना=शिरसा, शिखरेणेति भावः। वक्ष्यति=धारयिष्यति। पूर्वोक्तं समर्थयति—न क्षुद्रोऽपीति। क्षुद्रः अपि=कृपणः अपि, संश्रयाय=आश्रयाय, मित्रे=सुहृदि, प्राप्ते=आगते (सति), प्रथमसुकृताऽपेक्षया=पूर्वोपकाराऽपेक्षणेन, विमुखः=पराङ्मुखः, न भवति=नो वर्तते, यः, तथा=तेन प्रकारेण, उच्चैः=

उन्नतः, (सः=आम्रकूटपर्वतः), किं पुनः=किं भूयः, विमुखो न भवतीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः ॥ १७ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! धारासम्पातेन निवारितदावाऽनलं मार्गक्लान्तं त्वामाम्रकूटपर्वतः शिखरेण सम्यग्धारयिष्यति । यतः कृपणोऽपि आश्रयाय संप्राप्तं मित्रं वीक्ष्य पूर्वकृतोपकारस्मृत्या पराङ्मुखो न भवति, यस्तादृश उन्नतः स पराङ्मुखो न भवतीति किमु वक्तव्यम् ॥ १७ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! आम्रकूट पर्वत मूसलधार वृष्टिसे दवाग्निको बुतानेवाले तथा मार्गपरिश्रमसे क्लान्त तुम्हें अपनी चोटीसे भलीभाँति धारण कर लेगा, क्योंकि क्षुद्रपुरुष भी आश्रयके लिए अपने पास मित्रके आनेपर पहलेके उपकारकी अपेक्षा कर विमुख नहीं होता है तो जो उस प्रकार ऊँचा है उसका क्या कहना है ? ॥ १७ ॥

टिप्पणी—आम्रकूट=आम्राः कूटेषु यस्य सः (व्यधिकरणबहु०), जिसकी चोटियोंमें आमके पेड़ हैं, उसे आम्रकूट पर्वत कहते हैं । विलसनने इसे "अमरकण्टक" बतलाया है, नर्मदा नदी इसीसे उद्भूत हुई है ।

"आम्रश्चूतो रसालोऽसौ इति "कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्" इत्युभयत्राऽप्यमरः । सानुमान्=सानवः सन्ति यस्मिन् सः, सानु + मतुप् । आसारप्रशमितवनोपप्लवम्=प्र + शम् + णिच् + क्तः (कर्मणि)=प्रशमितः । आसारेण प्रशमितः (तृ० त०) । "धारासम्पात आसारः" इत्यमरः । वनस्य उपप्लवः (ष० त०) । आसारप्रशमितो वनोपप्लवो येन सः तम् (बहु०) । अध्वश्रमपरिणतं=श्रम् + घञ्=श्रमः । अध्वनः श्रमः (ष० त०) । अध्वश्रमेण परिगतः, तम् (तृ० त०) । मूर्ध्ना=करणे तृतीया । वक्ष्यति=वच् + लृट् + तिप् । क्षुद्रः="क्षुद्रो दरिद्रः कृपणे नृशंसे" इति यादवः । संश्रयाय=संश्रयणं संश्रयः, तस्मै, यहां सम्-उपसर्गपूर्वक सेवाऽर्थक श्रिञ् धातुसे "एरच्" इस सूत्रसे भावमें अच् प्रत्यय हुआ है और "तुमर्थाच्च भाववचनात्" इस सूत्रसे चतुर्थी हुई है ।

मित्रे="अथ मित्रं सखा सुहृद्" इत्यमरः । प्रथमसुकृताऽपेक्षया=शोभनं कृतं सुकृतं, यहांपर "कुगतिप्रादयः" इस सूत्रसे गतिसमास हुआ है । प्रथमं च तत् सुकृतं (क० धा०), तस्य अपेक्षा, तया (ष० त०) ।

विमुखः=विरुद्धं मुखं यस्य सः (बहु०) । तथा=तेन प्रकारेण इति, यहां पर तद् शब्दसे "प्रकारवचने थाल्" इस सूत्रसे थाल् प्रत्यय हुआ है । इस पद्यमें

पूर्वार्द्धके अर्थका उत्तरार्द्धसे समर्थन करनेसे अर्थान्तरन्यास और अर्थापत्ति अलङ्कार है, इन दोनोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ १७ ॥

छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै-
स्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे ।
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः ॥ १८ ॥

अन्वयः-(हे मेघ !) परिणतफलद्योतिभिः काननाऽऽम्रैः छन्नोपान्तः अचलः स्निग्धवेणीसवर्णे त्वयि शिखरम् आरूढे (सति) मध्ये श्यामः शेषविस्तारपाण्डुः भुवः स्तन इव अमरमिथुनप्रेक्षणीयाम् अवस्थां यास्यति नूनम् ॥१८॥

व्याख्या—(हे मेघ !) परिणतफलद्योतिभिः=परिपक्वफलशोभिभिः, आषाढे आरण्यका आम्राः फलन्ति मेघवातेन परिपच्यन्ते चेत्याशयः। काननाऽऽम्रैः=वनचूतैः, छन्नोपान्तः=आच्छादितपार्श्वः, अचलः=पर्वतः, आम्रकूट इति भावः। स्निग्धवेणीसवर्णे=मसृणकेशबन्धतुल्यवर्णे, कृष्णवर्णे इति भावः। त्वयि=भवति, मेघ इत्यर्थः। शिखरं=कूटम्, आरुढे=आरुह्य स्थिते (सति), मध्ये=अन्तरे, श्यामः=कृष्णवर्णः शेषविस्तारपाण्डुः=मध्याऽतिरिक्तव्यासपाण्डुरः, भुवः=पृथिव्याः, स्तन इव=पयोधर इव, अमरमिथुनप्रेक्षणीयाम्=अमरमिथुनानां (देवद्वन्द्वानाम्, आकाशचारिणामिति शेषः) प्रेक्षणीयाम् (दर्शनीयाम्), अत्र मिथुनग्रहणं कामिनामेव स्तनत्वेनोत्प्रेक्षा संभवतीति कृतम्। अवस्थां=दशां, यास्यति=प्राप्स्यति नूनं=निश्चयेन। यथा परिश्रान्तः कश्चित्कामी कामिनीकुचकलशे विश्रान्तः सन् स्वपिति तद्वन्मार्गश्रमक्लान्तो भवानपि भुवो नायिकायाः स्तन इति ध्वनिः ॥ १८ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ। परिपक्वफलशोभिभिर्वनाऽऽम्रवृक्षैरावृतपार्श्व आम्रकूटपर्वतः कृष्णवर्णे त्वयि शृङ्गमारूढे (सति) मध्ये कृशोऽन्यत्र विस्तृतत्वेन शुक्लः पृथिव्याः पयोधर इव देवयुग्मैर्दर्शनीयो भविष्यति ॥ १८ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! पके हुए फलोंसे शोभित होनेवाले वनके आम्रवृक्षोंसे आच्छादित पार्श्वदेशोंसे युक्त आम्रकूट पर्वतके शिखरपर स्निग्ध केशबन्धके सदृश तुम जब चढ़ोगे तब वह (पर्वत) मध्यभागमें कृश (पतला) और अन्यत्र विस्तारके साथ सफेद पृथिवीके स्तनके समान होता हुआ देवदम्पतियोंसे दर्शनीय अवस्थाको निश्चय ही प्राप्त करेगा ॥ १८ ॥

टिप्पणी-परिणतफलोद्योतिभिः=परिणतानि च तानि फलानि (क० धा०)। परि+णम्+क्तः=परिणतानि। परिणतफलैर्द्योतन्ते तच्छीला इति परिणत

द्योतिनः, तैः (उपपदसमासः) परिणतफल+द्युत+णिनिः। काननाऽऽम्रैः= कानने आम्राः, तैः (स० त०), "आम्रश्चूतो रसालोऽसौ" इत्यमरः। छन्नोपान्तः=छद्+क्तः=छन्नः। छन्न उपान्तो यस्य सः (बहु०)। स्निग्धवेणीसवर्णे=स्निग्धा चासौ वेणी (क० धा०)। "वेणी तु केशबन्धे जलस्रुतौ" इति यादवः। स्निह्+क्त+टाप्=स्निग्धा। समानो वर्णो यस्य स सवर्णः (बहु०), यहाँपर 'ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनवन्धुषु" इस सूत्रसे समानके स्थानमें "स" आदेश हुआ है। स्निग्धवेण्या सवर्णः, तस्मिन् (तृ० त०)। आरूढे=यहाँपर "यस्य च भावेन भावलक्षणम्" इस सूत्रसे सप्तमी हुई है। आङ्+रुह+क्तः=आरूढः। शेषविस्तारपाण्डुः= शेषश्चाऽसौ विस्तारः (क० धा०)। वि+स्तॄ+घञ् (भावे)=विस्तारः। "विस्तारो विग्रहो व्यास" इत्यमरः। शेषविस्तारे पाण्डुः (स० त०)। "हरिणः पाण्डुरः पाण्डु" इत्यमरः। अमरमिथुनप्रेक्षणीयाम्=अमराणां मिथुनानि (स० त०)। प्रेक्षितुं योग्या प्रेक्षणीया, प्र+ईक्ष+अनीयर+टाप्। अमरमिथुनानां प्रेक्षणीया ताम् यहाँपर "कृत्यानां कर्तरि वा" इस सूत्रसे षष्ठी होकर षष्ठीतत्पुरुष समास हुआ है। इस श्लोकमें "स्निग्धवेणीसवर्णे" इस पदपर आर्थी उपमा अलङ्कार है ॥ १८ ॥

स्थित्वा तस्मिन्वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्तं
तोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्णः।

रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ॥ १९ ॥

अन्वयः--(हे मेघ !) वनचरवधूभुक्तकुञ्जे तस्मिन् मुहूर्तं स्थित्वा तोयोत्सर्गद्रुततरगतिः (सन्) तत्परं वर्त्म तीर्णः (त्वम्) उपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां रेवां गजस्य अङ्गे भक्तिच्छेदैः विरचितां भूतिम् इव द्रक्ष्यसि ॥ १९ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) वनचरवधूभुक्तकुञ्जे=किरातवनितोपभुक्तलतागृहे, तस्मिन्=आम्रकूटपर्वते, मुहूर्तम्=अल्पकालं, न तु चिरं; स्वकार्यविरोधादिति भावः। स्थित्वा=विश्रम्य, नयनविनोदार्थमिति भावः। तोयोत्सर्गद्रुततरगतिः= तोयोत्सर्गेण (जलवर्षणेन, "त्वामासारे" त्यादि (१७) श्लोके कथितरूपेणेति भावः) द्रुततरगतिः अतिशीघ्रगमनः सन्, तत्परम्=आम्रकूटानन्तरं, वर्त्म=मार्गं, तीर्णः=अतिक्रान्तः सन्, उपलविषमे=प्रस्तरनिम्नोन्नते, विन्ध्यपादे= विन्ध्याऽचलप्रत्यन्तपर्वते, विशीर्णा=प्रसृताम्, एतेन कस्याश्चित्कामुक्याः प्रियत-

मचरणपातोऽपि ध्वन्यते। रेवां=नर्मदां, गजस्य=हस्तिनः, अङ्गे=शरीरे, भक्तिच्छेदैः=रेखाभङ्गिभिः, विरचितां=निर्मितां, भूतिम् इव=शृङ्गारम् इव, द्रक्ष्यसि=विलोकयिष्यसि, इदमपि ते महद्विनोदनस्थानमिति भावः ॥ १९ ॥

सरलार्थः—हे मेघ ! किरातवनितोपभुक्तलतागृहयुक्ते तस्मिन्नाम्रकूटपर्वते नयनविनोदनार्थं क्षणं विश्रम्य जलमभिवृष्य क्षिप्रतरगमनः सन् तत्परं मार्गमतिक्रम्य पाषाणबन्धुरे विन्ध्यप्रत्यन्तपर्वते विस्तीर्णां नर्मदां हस्तिशरीरे रेखाभङ्गिभिर्निर्मितां भूतिम् इव विलोकयिष्यसि ॥ १९ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! किरातोंकी रमणियोंसे उपभुक्त लतागृहोंसे युक्त आम्रकूट पर्वतपर कुछ समय तक विश्राम कर जलकी वृष्टिसे अतिशीघ्र गतिवाले होकर आम्रकूटके अनन्तरवर्ती मार्गको लांघकर तुम पत्थरोंसे ऊँच-नीच विन्ध्याऽचलके प्रत्यन्तपर्वतमें फैली हुई नर्मदाको हाथीके शरीरमें रचनाविशेषोंसे निर्मित शृङ्गाररेखाके समान देखोगे ॥ १९ ॥

टिप्पणी—वनचरवधूभुक्तकुञ्जे=वने चरन्तीति वनचराः, यहाँपर "उपपदमतिङ्" इस सूत्रसे उपपद समास हुआ है, वन उपपदपूर्वक चर धातुसे "चरेष्टः" इस सूत्रसे टप्रत्यय हुआ है; वन + चर + टः। यहाँपर "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इस सूत्रसे वैकल्पिक अलुक् समास होकर "वनेचर" ऐसा रूप भी बनता है। वनचराणां वध्वः (ष० त०)। भुक्ताः कुञ्जा यस्मिन् सः (बहु०)।

"निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लताऽऽदिपिहितोदरे।" इत्यमरः।

वनचरवधूभिः भुक्तकुञ्जः तस्मिन् तृ० त०)।

मुहूर्तं="कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इस सूत्रसे यहाँपर कालके अत्यन्तसंयोगमें द्वितीया विभक्ति हुई। स्थित्वा=स्था + क्त्वा।

तोयोत्सर्गद्रुततरगतिः=उत्सर्जनम् उत्सर्गः, उत् + सृज् + घञ् (भावे)। तोयस्य उत्सर्गः (ष० त०)। अतिशयेन द्रुता द्रुततरा, यहाँपर द्रुता शब्दसे "द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ" इस सूत्रसे तरप् प्रत्यय हुआ है। द्रुततरा गतिः यस्य स द्रुततरगतिः (बहु०)। तोयोत्सर्गेण द्रुततरगतिः (तृ० त०)। तत्परं=तस्मात् परं, तत् (प० त०)। तीर्णः=तॄ=क्तः (कर्तरि)।

उपलविषमे=उपलैः विषमः तस्मिन् (तृ० त०)। विन्ध्यपादे=विन्ध्यस्य पादः, तस्मिन् (ष० त०)। भारतवर्षमें दक्षिणमें विन्ध्य और उत्तरमें हिमालय पर्वत है। सात कुलपर्वतोंमें विन्ध्य भी अन्यतम है, जैसे—

'महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः ।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः ॥"

नर्मदा नदीका प्रादुर्भाव विन्ध्य पर्वतसे ही हुआ है । "पादाः प्रत्यन्तपर्वताः" इत्यमरः ।

विशीर्णा=वि+शॄ+क्त+टाप् ।

रेवां="रेवा तु नर्मदा सोमोद्भवा मेकलकन्यका ।" इत्यमरः । रेवाको "नर्मदा" भी कहते हैं । यह आम्रकूट पर्वतसे निकली है । भारतवर्षकी सात नदियोंमें नर्मदा भी एक है । जैसा कि इस श्लोकमें कहा गया है—

"गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति ।
नर्मदे सिन्धु-कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ॥"

भक्तिच्छेदै=भक्तीनां छेदाः, तैः (ष० त०) । भज+क्तिन्=भक्तिः । छिद्+घञ्=छेदः । विरचितां=वि+रच्+णिच् क्तः+टाप् । भूतिं="भूतिर्मातङ्गश्रृङ्गारे जातौ भस्मनि संपदि ।" इति विश्वः । द्रक्ष्यसि=दृश्+लृट्+सिप् । इस श्लोकमें रेवा और विन्ध्यमें लिङ्गोंकी और कार्यकी समतासे भी नायिका और नायकके व्यवहारका समारोप होनेसे समासोक्ति और श्रौती उपमा है और दोनोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार हो गया है ॥१९॥

तस्यास्तिक्तैर्वनगजमदैर्वासितं वान्तवृष्टि-
र्जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः ।
अन्तःसारं घन ! तुलयितुं नानिलः शक्ष्यति त्वां
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ॥ २० ॥

अन्वयः—हे घन ! वान्तवृष्टिः (सन्) तिक्तैः वनगजमदैः वासितं जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं तस्याः तोयम् आदाय गच्छेः । अन्तःसारं त्वाम् अनिलः तुलयितुं न शक्ष्यति; हि रिक्तः सर्वो लघुः भवति, पूर्णता गौरवाय ॥ २० ॥

व्याख्या—हे घन=हे मेघ, वान्तवृष्टिः=उद्गीर्णवर्षः (सन्), कृतवमनश्चेति गम्यते । तिक्तैः=सुगन्धिभिः,तिक्तरसयुक्तैश्च । वनगजमदैः=अरण्यहस्तिदानजलैः; वासितं=सुरभित, भावितं च । जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं=जम्बूनिकुञ्जप्रतिबद्धवेगं; सुखपेयमित्यर्थः, अनेन लाघवं कषायभावना च व्यज्यते । तस्याः=रेवायाः, तोयं =जलम्, आदाय=गृहीत्वा, गच्छेः=व्रज । अन्तःसारम्=अन्तःस्थितबलं, तोयसंहितमिति भावः । त्वां=भवन्तम्, अनिलः=आकाशवायुः, शरीरस्थो वायुश्चेति व्यज्यते । तुलयितुं,=कम्पयितुं, न शक्ष्यति=शक्तो न भविष्यति । उक्तमर्थमर्था-

न्तरन्यासेन द्रढयति—रिक्त इति । हि=यतः, रिक्तः=शून्यः, अन्तःसाररहित इति भावः । सर्वः=सकलः, लघुः=लाघवयुक्तः, प्रकम्पनीय इति भावः । भवति=वर्तते । पूर्णता=समग्रता, सारवत्ता इति भावः । गौरवाय=गुरुत्वाय, अप्रकम्पनीयत्वायेति भावः । भवतीति शेषः । अत्राऽयं ध्वनिः । प्राक्कृतवमनस्य पुरुषस्याऽनन्तरं कफशोषणाय लघुतिक्तकषायजलपानप्राप्तशक्तेर्वायुप्रकम्पो न स्यादिति ॥ २० ॥

सरलार्थः–हे मेघ ! तत्र वर्षणोत्तरं सुगन्ध्यारण्यकहस्तिमदमिश्रं जम्बूकुञ्जप्रतिवद्धवेगं नर्मदाजलं गृहीत्वा गच्छ, इत्थमन्तःसारं त्वां वायुस्तुलयितुं समर्थो न भविष्यतिः यतः सर्वोऽपि रिक्तो लघुर्भवति पूर्णश्च गुरुः सम्पद्यते ॥ २० ॥

अनुवादः–हे मेघ! तुम वृष्टि करके हाथियोंके मदोंसे सुगन्धित तथा जामुनके कुञ्जोंसे उपरुद्ध वेगवाले नर्मदाजलको लेकर जाओ। इस प्रकार भीतर सारवाले (जलयुक्त) तुमको वायु आन्दोलित नहीं कर सकेगा, क्योंकि सभी रिक्त (रीता) पदार्थ हलका होता है और पूर्णता गौरवके लिए होती है ॥२०॥

टिप्पणी––वान्तवृष्टिः (टु) वम् + क्तः (कर्मणि) + टाप् = वान्ता । वान्ता वृष्टिर्येन सः (बहु०) । यहाँपर "वान्त" पदसे वमन अर्थका बोध होनेपर भी जुगुप्साव्यञ्जक अश्लीलता नहीं होती है, क्योंकि यहाँपर गौणवृत्तिका आश्रय किया गया है ।

तिक्तैः = "तिक्तो रसे सुगन्धौ च" इति विश्वः । वनगजमदैः = वने गजाः (स० त०), वनगजानां मदाः, तैः (ष० त०) । वासितं = वस + णिच् + क्तः (कर्मणि) । जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं = जम्बूनां कुञ्जाः (ष० त०) । प्रतिहतो रयो यस्य तत् प्रतिहतरयम् (बहु०) । प्रति + हन् + क्तः = प्रतिहतः । जम्बूकुञ्जैः प्रतिहतरयम् (तृ० त०) ।

तोयम् = "अम्भोऽर्णस्तोयपानीयनीरक्षीराऽम्बु शम्बरम्" । इत्यमरः ।

आदाय=आङ् + दा + क्त्वा (ल्यप्) । गच्छेः=यहाँपर गम् धातुसे "विधिनिमन्त्रणाऽऽमन्त्रणाऽधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्" इस सूत्रसे विधिमें लिङ् हुआ है।

अन्तःसारम् = अन्तः सारो यस्य सः, तम् (बहु०) । "सारो बले स्थिरांऽशे च" इत्यमरः । तुलयितुं = तुलां कर्त्तुम्, यहाँपर उन्मानार्थक "तुल" धातुसे "तत्करोति तदाचष्टे" इस सूत्रसे णिच् प्रत्यय होकर "समानकर्तृकेपु तुमुन्" इस सूत्रसे तुमुन प्रत्यय हुआ है । तुल + णिच् + तुमुन् ।

शक्ष्यति = शक + लृट् + तिप् । रिक्तः=रिच् + क्तः । पूर्णता=पूरी + क्तः

पूर्णः। पूर्णस्य भावः, यहाँपर पूर्ण शब्दसे भाव अर्थमें "तस्य भावस्त्वतलौ" इस सूत्रसे तल्प्रत्यय होकर "तलन्तं स्त्रियाम्" इस लिङ्गानुशासन सूत्रसे स्त्रीत्व-विवक्षा होकर टाप् प्रत्यय हुआ है। गौरवाय=गुरोर्भावो गौरवं, तस्मै, गुरु+अण् (भावे), यहाँपर "क्लृपि सम्पद्यमाने च" इस वार्तिकसे चतुर्थी हुई है। ऐसे ही भावका एक श्लोक है—

"गुणयुक्तोऽप्यधो याति रिक्तः कूपे यथा घटः।
गुणहीनोऽपि संपूर्णो जनैः शिरसि धार्यते॥"

इस श्लोकमें वान्तवृष्टि आदि पदोंसे मल्लिनाथजीने दूसरा अर्थ भी निकाला है। उसका सारांश यह है—आयुर्वेदके अनुसार वमन करनेके अनन्तर कफका शोषण करनेके लिए लघु, कड़वा और चरपरा जल पीनेसे बल प्राप्त करनेवाले पुरुषको वायुसे कम्प नहीं होता है।

इस श्लोकमें तृतीय चरणके विशेष अर्थका चतुर्थ चरणके सामान्य अर्थसे समर्थन करनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है॥ २०॥

नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केसरैरर्धरूढै-
राविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम्।
जग्ध्वाऽरण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याः
सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम्॥ २१॥

अन्वयः--(हे मेघ!) सारङ्गाः अर्धरूढैः केसरैः हरितकपिशं नीपं दृष्ट्वा अनुकच्छम् आविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्च जग्ध्वा अरण्येषु अधिकसुरभिम् उर्व्या गन्धम् आघ्राय जललवमुचः ते मार्गं सूचयिष्यन्ति॥ २१॥

व्याख्या--(हे मेघ!) सारङ्गाः=हस्तिनः, अर्धरूढैः=अर्धोत्पन्नैः, केसरैः=किञ्जल्कैः, हरितकपिशं=पालाश-कृष्णपीतं, नीपं=स्थलकदम्बकुसुमं दृष्ट्वा=अवलोक्य, ज्ञात्वेति यावत्। अनुकच्छं=जलप्रायदेशसमीपे, आविर्भूत-प्रथममुकुलाः=प्रकटीभूतपूर्वकुड्मलाः, कन्दलीश्च=भूमिकदलीश्च. जग्ध्वा=भक्षयित्वा, अरण्येषु=वनेषु, "दग्धाऽरण्येषु" इति पाठे "दग्धम्" इत्यधिक-विशेषणम्। अर्थवशात्कन्दलीश्च दृष्ट्वैवेत्यन्वयो द्रष्टव्यः। अधिकसुरभिम्=अति-सुगन्धयुक्तम्, उर्व्याः=पृथिव्याः, गन्धं=घ्राणग्राह्यगुणम्, आघ्राय=घ्रात्वा, जल-लवमुचः=सलिलकणमोचकस्य, ते=तव, मेघस्येत्यर्थः। मार्गं=पन्थानं, सूच-यिष्यन्ति=अनुमापयिष्यन्ति। यत्र यत्र वृष्टिकार्यं कन्दलीकुड्मलनीपपुष्पादिकं चाऽवलोक्यते तत्र तत्र त्वया वृष्टमित्यनुमीयत इति भावः॥ २१॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! गजा अर्धोद्भिन्नकिञ्जल्कैः हरितं कृष्णलोहितं च स्थलकदम्बकुसुमं विलोक्य जलप्रायदेशे प्रकटपूर्वकुड्मला भूमिकन्दलीश्च भक्षयित्वा वनेष्वतिशयसुरभिं भूमिगन्धं घ्रात्वा सलिलकणांस्त्यजतस्ते मार्गमनुमापयिष्यन्ति ॥ २१ ॥

अनुवाद:--हे मेघ ! हाथी अर्धविकसित किञ्जल्कोसे हरे और कृष्णलोहित वर्णसे युक्त स्थलकदम्ब-पुष्पको देखकर तथा जलप्राय स्थानमें खिले हुए भूमिकदलियोके नये कुड्मलोंको खाकर जङ्गलोंमें अधिक सुगन्धित पृथ्वीके गन्धको सूंघकर जलबिन्दुओंको बरसानेवाले तुम्हारे मार्गको सूचित करेंगे ॥ २१ ॥

टिप्पणी—सारङ्गा = साराणि अङ्गानि येषां ते (बहु०), यहाँपर सवर्णदीर्घ न होकर "शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्" इस वार्तिकके अनुसार शकन्ध्वादिगणके अन्तर्गत होनेसे "सारङ्गः पशुपक्षिणोः" इसके अनुसार पशु और पक्षीके अर्थमें पररूप होकर "सारङ्ग" शब्द सिद्ध होता है। इस पदके अर्थमें बहुत मतभेद है। महोपाध्याय मल्लिनाथजीने 'सारङ्ग' का अर्थ हाथी, मृग वा भ्रमर लिखा है, कोई इसका अर्थ चातक भी लिखते हैं।

परन्तु उन्नत स्थानपर स्थित कदलीके कुड्मलका भक्षण हाथीसे ही संभव है। हाँ, "दग्धाऽरण्येषु" इस पाठान्तरको माननेपर ये सब अर्थ भी हो सकते हैं।

अर्धरूढैः=अर्धं यथा तथा रूढाः, तैः (सुप्सुपासमासः)।

रुह+क्त=रूढः। हरितकपिशं=हरितं च तत् कपिशम्, यहाँपर "वर्णो वर्णेन" इस सूत्रसे समास हुआ है। "पालाशो हरितं हरित्" इति श्यावः स्यात्कपिशो धूम्रधूमलौ कृष्णलोहिते।" इति चाऽमरः।

नीपं=नीपस्य विकारो नीपं, तत्, यहाँपर नीप शब्दसे "तस्य विकारः" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय होकर उसका "पुष्पमूलेषु बहुलम्" इस वार्तिकसे लुप् (अदर्शन) हुआ है।

"अथ स्थलकदम्बके। नीपः स्यात्पुलके" इति शब्दार्णवः।

दृष्ट्वा=दृश+क्त्वा। अनुकच्छम्=यहाँपर "कच्छेषु इति" ऐसा विग्रह कर "अव्ययं विभक्ति०" इत्यादि सूत्रसे विभक्तिके अर्थमें अव्ययीभाव समास हुआ है।

"जलप्रायमनूपं स्यात्पुंसि कच्छस्तथाविधः। इत्यमरः।

आविर्भूतप्रथममुकुलाः आविर्भूताः प्रथममुकुला यासां ताः (बहु०)।

यहाँपर "आविस्" यह अव्ययसंज्ञक पद हैं। "प्रकाशे प्रादुराविः स्यात्" इत्यमरः।

कन्दली: "द्रोणपर्णी स्निग्धकन्दा कन्दलीं भूकदल्यपि ।" इति शब्दार्णवः ।

जग्ध्वा=अद्+क्त्वा । यहाँपर भक्षणार्थक "अद्" धातुके स्थानमें "अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति" इस सूत्रसे जग्ध आदेश हुआ है ।

"दग्धाऽरण्येषु" इस पाठमें दग्धानि च तानि अरण्यानि, तेषु (क० धा०)। अधिकसुरभिम्=अधिकं यथा तथा सुरभिः, तम् (सुप्सुपा०) । आघ्राय=आङ्+घ्रा+क्त्वा (ल्यप्) जललवमुचः=जलस्य लवाः (ष० त०), जललवान् मुञ्चतीति जललवमुक्,तस्य । जललव+मुच्+क्विप् (कर्तरि), उपपदसमासः ।

सूचयिष्यन्ति=सूच+णिच्+लृट्+झि, यहाँपर नीप आदि कार्योंसे वृष्टिरूप कारणका अवधारण होनेसे अनुमान अलङ्कार है ।। २१ ।।

[अम्भोबिन्दुग्रहणचतुरांश्चातकान् वीक्षमाणाः
श्रेणीभूताः परिगणनया निर्दिशन्तो बलाकाः ।
त्वामासाद्य स्तनितसमये मानयिष्यन्ति सिद्धाः
सोत्कम्पानि प्रियसहचरीसम्भ्रमालिङ्गितानि]

अन्वयः—अम्भोबिन्दुग्रहणचतुरान् चातकान् वीक्षमाणाः श्रेणीभूताः बलाकाः परिगणनया निर्दिशन्तः सिद्धाः स्तनितसमये सोत्कम्पानि प्रियसहचरीसंभ्रमाऽऽलिङ्गितानि आसाद्य त्वां मानयिष्यन्ति ।

व्याख्या—(हे मेघ !) अम्भोबिन्दुग्रहणचतुरान्=वृष्टिजलबिन्दुस्वीकरणनिपुणान् । चातकान्=सारङ्गान्, वीक्षमाणाः=पश्यन्तः कौतुकादिति शेषः । श्रेणीभूताः=बद्धपङ्क्ती, बलाकाः=बिसकण्ठिकाः, परिगणनया+एका द्वे तिस्र इति संख्यानेन, निर्दिशन्तः=दर्शयन्तः, हस्तेनेति शेषः । सिद्धाः=देवयोनिविशेषाः, स्तनितसमये=त्वद्गर्जितकाले, सोत्कम्पानि=उत्कम्पपूर्वकाणि, प्रियसहचरीसंभ्रमालिङ्गितानि=दयितसहचारिणीत्वराऽऽश्लेषान्, आसाद्य=प्राप्य, त्वां=भवन्तं, मानयिष्यन्ति=पूजयिष्यन्ति, प्रियाकृताऽऽलिङ्गनसुखस्य हेतुभूतत्वादिति भावः ।।

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! वर्षोदकस्वीकरणनिपुणान् चातकान् पश्यन्तो बद्धपङ्क्तीः बलाकाः सख्यानेन दर्शयन्तः सिद्धास्तत्क्षणमेव त्वद्गर्जनेन भीतानां प्रियाणां स्वयंग्रहाश्लेषसुखं समनुभूय त्वां पूजयिष्यन्ति ।

अनुवादः-हे मेघ! वृष्टिके जलबिन्दुओंके ग्रहणमें निपुण चातकोंको देखते हुए तथा पङ्क्तिबद्ध बगुलियोंको एक, दो, तीन इस प्रकारसे गणना कर दिखाते हुए

सिद्धलोग तुम्हारे गर्जनके समयमें कम्पयुक्त प्रिय सहचरियोंके शीघ्रतापूर्वक किये गये आलिङ्गनोंका अनुभव कर तुम्हारा संमान करेंगे ॥

टिप्पणी--अम्भोबिन्दुग्रहणचतुरान् = अम्भसां बिन्दवः (ष० त०), तेषां ग्रहणम् (ष० त०), तस्मिश्चतुरास्तान् (स० त०) । वीक्षमाणाः = वीक्षन्त इति, वि + ईक्ष + लट् (शानच्) ।

ईक्ष धातुके आत्मनेपदी होनेसे उसके लट्के स्थानमें शानच् हुआ है। श्रेणीभूताः=अश्रेणयः श्रेणयो यथा संपद्यन्ते तथाभूता इति ताः यहांपर श्रेणि-शब्दसे "भूताः" इसके योगमें "कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः" इस सूत्रसे अभूत-तद्भावमें च्विप्रत्यय होकर ':च्वौ च" इस सूत्रसे दीर्घ हुआ है। श्रेणि + च्वि + भू + क्त + टाप् + शस् । निर्दिशन्तः = निर् + दिश् + लट् (शतृ) । सोत्कम्पानि = उत्कम्पेन सहितानि (तुल्ययोगबहु० ।), प्रियसहचरीसंभ्रमाऽऽलिङ्गितानि = प्रियाश्च ताः सहचर्यः (क० धा०) तासां संभ्रमः (ष० त०) तेन आलिङ्गितानि, तानि (तृ० त०) मानयिष्यन्ति = मान + लृट् + झि । यद्यपि मल्लिनाथजीने इस श्लोककी व्याख्या की है परन्तु बहुतसे विद्वान् इसको कालिदासकी रचना नहीं मानते हैं ॥

उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं यियासोः
कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते ।
शुक्लापाङ्गैः सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केकाः
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान् गन्तुमाशु व्यवस्येत् ॥ २२ ॥

अन्वय—हे सखे ! मत्प्रियाऽर्थं द्रुतं यियासोः अपि ते ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते कालक्षेपम् उत्पश्यामि । सजलनयनैः शुक्लाऽपाङ्गैः केकाः स्वागतीकृत्य प्रत्युद्यातो भवान् कथमपि आशु गन्तुं व्यवस्येत् ॥ २२ ॥

व्याख्या—हे सखे = हे मित्र ! मत्प्रियार्थं = मदभीष्टसम्पादनार्थं मद्दयिताऽर्थं वा, द्रुतं = शीघ्रं, यियासोरपि = यातुमिच्छोरपि, ते=तव, ककुभसुरभौ = कुटजपुष्पसुगन्धिनि, पर्वते पर्वते = शैले शैले, कालक्षेपम् = समयविलम्बम्, उत्पश्यामि = उत्प्रेक्षे । कालक्षेपं दर्शयन्नाशुगमनं प्रार्थयते—शुक्लाऽपाङ्गैरिति । सजलनयनैः = आनन्दाऽश्रुसहितनेत्रैः, शुक्लाऽपाङ्गैः = मयूरैः, केकाः = स्ववाणीः, स्वागतीकृत्य = स्वागतवचनीकृत्य, प्रत्युद्यातः = प्रत्युद्गतः, मयूरवाणीकृताऽऽतिथ्य इति भावः । भवान् = मेघः, कथमपि = केनाऽपि प्रकारेण, आशु = शीघ्रं, गन्तुं = यातुं व्यवस्येत् = उद्युञ्जीत ॥ २२ ॥

सरलार्थः—हे मित्र ! मदभीष्टसम्पादनार्थं सत्वरं जिगमिषोरपि ते कुटजकुसुमसुरभौ शैले शैले कालविलम्बं संभावयामि । त्वदागमनेन आनन्दाश्रुयुक्तनेत्रा मयूरा मधुरशब्दैः स्वागतीकृत्य त्वां प्रत्युद्गमिष्यन्ति, ततस्त्वं शीघ्रगमनाय उद्योगं विधेहि ॥ २२ ॥

अनुवादः— हे मित्र ! मेरे अभीष्ट-सम्पादनके निमित्त जल्दी जानेके लिए इच्छा करनेपर भी कुटज-पुष्पोंसे सुगन्धित प्रत्येक पर्वतपर तुम्हारा कालक्षेप होगा मैं ऐसी संभावना करता हूँ । हर्षाश्रुओंसे भरे नेत्रोंवाले मयूर अपने-कण्ठस्वरोसे स्वागत कर तुम्हारी अगवानी करेंगे; तुम भी किसी प्रकारसे शीघ्र जानेके लिए उद्योग करो ॥ २२ ॥

टिप्पणी--मत्प्रियार्थं = मम प्रियं मत्प्रियं (ष० त०), यहाँपर "प्रिय" उत्तरपदके परे रहते "प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इस सूत्रसे अस्मद् शब्दके स्थानमें 'मत' आदेश हुआ है । मत्प्रियाय इदं यथा तथा (च० त०)। यहाँपर "चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः इस सूत्रसे "अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम् इस वार्तिकके अनुसार अर्थ पदके साथ नित्यसमास हुआ । यह पद क्रियाविशेषण है, अथवा--मम प्रिया मत्प्रिया (ष० त०) तस्यै-यथा तथा (च० त०) पहलेके समान सूत्रादि जानना । मेरी प्रियाके लिए यह इसका अर्थ हुआ ।

द्रुतं="लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्" इत्यमरः । यह क्रियाविशेषण है । यियासोः=यातुमिच्छुः यियासुः, तस्य, यहाँपर प्रापणार्थक या धातुसे इच्छा अर्थमें सन् प्रत्यय कर "सनाशंसभिक्ष उः" इस सूत्रसे उ प्रत्यय हुआ है । या + सन् + उः ।

ककुभसुरभौ = ककुभस्य विकाराः (पुष्पाणि) ककुभानि, ककुभ + अण् (लुप्) । ककुभैः सुरभिः तस्मिन् (तृ० त०) ।

पर्वते पर्वते = यहाँपर वीप्सामें द्विरुक्ति हुई है ।

कालक्षेपं = क्षिप + घञ् (भावे) = क्षेपः । कालस्य क्षेपः, तम् (ष० त०) "क्षेपो विलम्बे निन्दायाम्" इति विश्वः । उत्पश्यामि = उद् + दृश् + लट् + मिप् । सजलनयनैः=जलेन सहिते सजले (तुल्ययोगबहु०) सजले नयने येषां ते सजलनयनाः, तैः (बहु) । शुक्लाऽपाङ्गैः = शुक्लौ अपाङ्गौ येषां ते शुक्लाऽपाङ्गाः, तैः (बहु०) ।

"मयूरो बर्हिणो बर्ही शुक्लाऽपाङ्गः शिखावलः ।" इति यादवः । नयनके प्रान्त भागकी शुक्लताके कारण मयूरको "शुक्लापाङ्ग" भी कहते हैं यह योग-

रुढ शब्द है। जिसमें अवयवके अर्थके रहनेपर भी समुदायशक्तिसे पद किसी खास अर्थको व्यक्त करता है, उसे "योगरूढ" कहते हैं। इसके पङ्कज आदि शब्द उदाहरण हैं।

केकाः="केका वाणी मयूरस्य" इत्यमरः। स्वागतीकृत्य=शोभनम् आगतं स्वागतम् (गतिसमासः)। अस्वागतं स्वागतं यथा सम्पद्यते तथा कृत्वा; यहाँपर अभूततद्भावमें च्विप्रत्यय हुआ है। स्वागत+च्वि+कृ+क्त्वा (ल्यप्)। प्रत्युद्यातः=प्रति+उद्+या+क्तः (कर्मणि)। आशु==यह गमन क्रियाका विशेषण है। क्रियाविशेषण नपुंसकलिङ्गमें रहता है और यह द्वितीयाका एकवचनाऽन्त होता है। गन्तुम्=गम्+तुमुन्, यहाँपर "समानकर्तृकेषु तुमुन्" इस सूत्रसे तुमुन् प्रत्यय हुआ है। तुमुन् प्रत्ययान्त शब्द अव्यय होता है। व्यवस्येत्+वि+अव+षो+लिङ् (प्रार्थनायाम्)+तिप्। इस श्लोकमें केकामें आरोपित स्वागत-वचनका प्रस्तुत प्रत्युद्गमनमें उपयोग होनेसे परिणाम अलङ्कार है, जैसे कि अलङ्कारसर्वस्वमें लिखा है—

"आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः" ॥ २२ ॥

पाण्डुच्छायोपवनवृतयः केतकैः सूचिभिन्नै-
र्नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः ।
त्वय्यासन्ने परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः
सम्पत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः ॥ २३ ॥

अन्वयः—(हे मेघ!) त्वयि आसन्ने (सति) दशार्णाः सूचिभिन्नैः केतकैः पाण्डुच्छायोपवनवृतयो गृहबलिभुजां नीडाऽऽरम्भैः आकुलग्रामचैत्याः परिणतफलश्यामजम्बूवनाऽन्ताः कतिपयदिनस्थायिहंसाः संपत्स्यन्ते ॥ २३ ॥

व्याख्या—(हे मेघ) त्वयि=भवति, आसन्ने=सन्निकृष्टे (सति); दशार्णाः=दशार्णनामका देशाः, सूचिभिन्नैः=मुकुलाऽग्रविकसितैः, केतकैः=केतकीपुष्पैः, पाण्डुच्छायोपवनवृतयः=हरितवर्णाऽऽरामकण्टकशाखाऽऽवरणाः, गृहबलिभुजां=गेहबलिभोजिनां, काकाऽऽदिग्रामपक्षिणामित्यर्थः नीडाऽऽरम्भैः=कुलायनिर्माणैः, आकुलग्रामचैत्याः=संकीर्णसंवसथरथ्यावृक्षाः, परिणतफलश्यामजम्बूवनाऽन्ताः=परिपक्वफलकृष्णजम्बूवनरम्याः, तथा कतिपयदिनस्थायिहंसाः=किञ्चिद्दिवसस्थायुकहंसाः, संपत्स्यन्ते=भविष्यन्ति ॥ २३ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ! त्वयि निकटवर्तिनि सति दशार्णदेशोपवनानि केतकीपुष्पैर्हरितवर्णप्राचीरयुक्तानि ग्रामरथ्यावृक्षाश्च काकाऽऽदिग्रामपक्षिणां कुला-

यनिर्माणैः सङ्कीर्णा जम्बूवनानि च परिपक्वफलैः श्यामानि भविष्यन्ति । एवं च तत्र हंसा वर्षाऽऽरम्भकालं वीक्ष्य कतिपयदिनानि यावत् स्थास्यन्ति ॥२३॥

अनुवादः—हे मेघ ! तुम्हारे निकट आनेपर दशार्णदेश (छत्तीसगढ़) में बागीचे केतकीके फूलोंसे पीले प्राचीरोंसे युक्त, गाँवके रास्तामें पेड़ कौए आदि पक्षियोंके घोसलोंकी रचनासे सङ्कीर्ण और जामुनोंके वन पके हुए फलोंसे श्याम वर्णवाले होंगे । इस प्रकार वहाँ हंस भी वर्षाके आरम्भको देखकर कुछ ही दिनोंतक ठहरेंगे ॥ २३ ॥

टिप्पणी—आसन्ने=आङ्+सद्+क्तः (कर्तरि), भावे सप्तमी । दशार्णाः= दश ऋणानि(दुर्गभूमयः)येषां ते (बहु०)। ऋणशब्द दुर्गभूमि और जलका वाचक है । "दश+ऋण" यहाँपर,"प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे" इस वार्तिकसे आर्वृद्धि होकर दशार्ण पद बनता है । बहुव्रीहि समासके अनुसार जिन क्षत्रिय राजाओंके दश दुर्ग (किले) हैं उनको "दशार्ण" कहते हैं । दशार्णानां (क्षत्रियविशेषाणाम्)निवासी जनपदः=दशार्णाः । यहाँपर दशार्ण शब्दसे "तस्य निवासः" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय होकर "जनपदे लुप्" इससे उसका लुप् (अदर्शन) हुआ और "लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने" इस सूत्रसे प्रत्ययका अदर्शन होनेपर भी लिङ्ग और वचनका प्रकृतिभाव होनेसे 'दशार्णाः (जनपदाः) ऐसा रूप हुआ ।

ऋणशब्द जल का भी वाचक है अतः दश ऋणानि (जलप्रवाहाः) यस्यां सा (बहु०), इस व्युत्पत्तिके अनुसार "दशार्णा" शब्द किसी नदीका वाचक है। बहुत-से विद्वानोंके मताऽनुसार "दशार्ण" मध्यदेशवर्ती "छत्तीसगढ़" ही माना गया है ।

विन्ध्य पर्वतसे निकली हुई "दशार्णा" नदी भी यहाँपर बहती है । सूचिभिन्नैः=सूचिषु भिन्नानि, तैः (स० त०) । भिद्+क्तः=भिन्नम् ।

"केतकीमुकुलाऽग्रेषु सूचिः स्यात्" इति शब्दार्णवः ।

केतकैः=केतक्या विकाराः केतकानि, तैः । यहाँपर केतकी शब्दसे विकार(फूल) के अर्थमें "तस्य विकारः" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय होकर "पुष्पमूलेषु बहुलम्" इससे उसका लुक् (अदर्शन) होकर "यस्येति च" इस सूत्रसे केतकीके ईकारका लोप होकर "केतक"शब्द बबता है, जो कि केतकीके फूलका वाचक है ।

पाण्डुच्छायोपवनवृतयः=पाण्डुः छाया यासां ताः पाण्डुच्छायाः (बहु०)। उपवनानां वृतयः (ष० त०) ।

"प्राकारो वरणः सालः प्राचीरं प्रान्ततो वृतिः ।" इत्यमरः ।

पाण्डुच्छाया उपवनवृतयो येषां ते (बहु०), यह पद दशार्ण पदका विधेय विशेषण है।

गृहबलिभुजां = गृहाणां बलयः (ष० त०), गृहबलीन् भुञ्जत इति गृहबलिभुजः, तेषाम्। गृह + बलि + भुज् + क्विप् (उपपदसमासः)।

नीडाऽऽरम्भैः = आरम्भणानि आरम्भाः, यहाँपर आङ्उपसर्गपूर्वक रभ् धातुसे भावमें घञ् प्रत्यय और "रधिजभोरचि" इस सूत्रसे नुम् आगम होकर "आरम्भ" शब्द बनता है।

नीडानाम् आरम्भाः, तैः (ष० त०), यहाँपर "हेतौ" इस सूत्रसे हेतुके अर्थमें तृतीया हुई है।

आकुलग्रामचैत्याः="चीयते असौ इति चित्यः" ऐसा विग्रह कर चयनाऽर्थक "चिञ्" धातुसे "चित्याऽग्निचित्ये च" इस सूत्रसे यत् प्रत्ययका अपवाद कर्ममें क्यप् प्रत्ययका निपातन होकर अग्निवाचक "चित्य" शब्द निष्पन्न होता है। चि + क्यप् = चित्यः। "चित्यस्य इमानि चैत्यानि" ऐसा विग्रह कर चित्यशब्दसे "तस्येदम्" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय और "तद्धितेष्वचामादेः" इससे आदि वृद्धि होकर "चैत्य" शब्द बना है। अग्निका अधिकरण काष्ठ है, वह काष्ठ वृक्षका अवयव है; इसलिए अग्निसम्बन्धी वृक्षको "चैत्य" कहते हैं। इस प्रकार वृक्षवाचक "चैत्य" शब्द "चिता" वा "चित्या" से नहीं, अग्निवाचक "चित्य" शब्दसे निष्पन्न हुआ है। चित्य + अण् = चैत्यम्। "चैत्यमायतनं तुल्ये" इत्यमरः।

चैत्यमायतने बुद्धवन्द्ये चोद्देशपादपे।" इति विश्वः। आकुलानि ग्रामचैत्यानि येषु ते (वहु०)।

परिणतफलश्यामजम्बूवनाऽन्ताः परि + णम् + क्तः (कर्तरि) = परिणतम्। "पक्वं परिणते" इत्यमरः। परिणतानि च तानि फलानि (क० धा०), परिपतफलैः श्यामानि (तृ० त०)। जम्बूनां वनानि (ष० त०)। परिणतफलश्यामानि च तानि जम्बूदनानि (क० धा०)। परिणतफलश्यामजम्बूवनैः अन्ताः (रम्याः) (तृ० त०)।

गृहावत्रसिते रम्ये समासावन्त इष्यते।" इति शब्दार्णवः।

यह व्युत्पत्ति मल्लिनाथकी व्याख्याके अनुसार है, यहाँपर "परिणतफलश्यामा जम्बूवनाऽन्ता येषु ते (बहु०)" ऐसी व्युत्पत्ति भी हो सकती है, इसमें परिपक्व फलोंसे श्याम वर्णवाले जम्बूवनोंके प्रान्तभागोंमें सम्पन्न ऐसा अर्थ होता है। कतिपयदिनस्थायिहंसाः=कतिपयानि च तानि दिनानि (क० धा०)।

तिष्ठन्तीति तच्छीलाः स्थायिनः, स्था + णिनिः (ताच्छील्ये)। कतिपयदिनानि स्थायिनः, यहाँपर "कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इस सूत्रसे कालके अत्यन्तसंयोगमें द्वितीया होकर "अत्यन्तसंयोगे च" इससे द्वितीयातत्पुरुष समास हुआ है। यहाँपर कतिपय शब्दका दिन शब्दके साथ "पोटायुवतिस्तोककतिपय०" इस सूत्रसे समास होकर "दिनकतिपयस्थायिनः" ऐसा रूप होकर "कतिपय" शब्दका उत्तरनिपात हो जाता, परन्तु पूर्वोक्त शास्त्रके प्रायिक होनेसे ऐसा नहीं हुआ, यह मल्लिनाथजीका कथन है। इसी प्रकार भर्तृहरिने भी "कतिपयपुरस्वाम्ये पुंसां क एष मदज्वरः।" ऐसा प्रयोग किया है। कतिपयदिनस्थायिनो हंसा येषु ते (बहु०)।

संपत्स्यन्ते = सं + पद + लृट् + झ ॥ २३ ॥

तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं
गत्वा सद्यः फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्धा।
तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु यस्मात्
सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि ॥ २४ ॥

अन्वयः—दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां तेषां राजधानीं गत्वा सद्यः कामुकत्वस्य अविकलं लब्धा। यस्मात् स्वादु चलोर्मि वेत्रवत्याः पयः सभ्रूभङ्गं मुखम् इव तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि ॥ २४ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) दिक्षु=दिशासु, प्रथितविदिशालक्षणां=प्रसिद्धविदिशेतिनामधेयां, तेषां=दशार्णानां, राजधानीं=प्रधाननगरीं, गत्वा=प्राप्य, सद्यः=तत्क्षणं, कामुकत्वस्य=विलासितायाः, अविकलं=संपूर्णं, फलं=प्रयोजनं, लब्धा=लप्स्यते, त्वयेति शेषः। कथमिति प्रतिपादयति—तीरोपान्तेति. यस्मात्=कारणात्, स्वादु=मधुरं, चलोर्मि=तरङ्गितं, वेत्रवत्याः=वेत्रवतीनद्याः, पयः=जलं, सभ्रूभङ्गं=भ्रुकुटियुक्तं, दशनपीडयेति भावः। मुखम् इव=आननम् इव, अधरम् इवेति भावः। नीरोपान्तस्तनितसुभगं=तटप्रान्तगर्जितमनोहरं यथा तथा, पास्यसि=पानं करिष्यसि, "कामिनामधरास्वादः सुरतादतिरिच्यते।" इति भावः ॥ २४ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! विदिशानामधेयां दशार्णानां प्रसिद्धां प्रधाननगरीं गत्वा त्वं तत्क्षणमेव विलासितायाः सकलं फलं प्राप्स्यसि। यतस्तव मधुरं तरङ्गितं वेत्रवत्या नाम कस्माश्चिन्नद्याः पानीयं दन्तपीडया भ्रुकुटियुक्तं कस्याश्चिन्नायिकाया अधरमिव तटप्रान्ते मधुरगर्जनोत्तरं पास्यसि ॥ २४ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! दिशाओंमें विदिशा नामसे प्रसिद्ध दशार्ण देशकी राज-

धानीमें पहुँचकर उसी क्षण तुम कामुकताके संपूर्ण फलको प्राप्त कर लोगे। क्योंकि तुम वहाँपर मधुर और तरङ्गित वेत्रवती नामकी नदीके जलको भ्रुकुटी-वाली नायिकाके अधरके समान तटके प्रान्तमें मधुर गर्जन करनेके साथ साथ पान कर लोगे ।। २४ ।।

टिप्पणी—प्रथितविदिशालक्षणां, प्रथ + क्तः = प्रथितम् ।

"प्रतीते प्रथितख्यातवित्तविज्ञातविश्रुताः।" इत्यमरः। प्रथितं विदिशालक्षणं यस्याः सा, ताम् (बहु०)। मालव देशमें विद्यमान विदिशा इस समय "भिलसा" नामसे प्रख्यात है। विदिशा वेत्रवती नदीके पास है और यह पहले दशार्ण देशकी राजधानी थी। राजधानीं = धीयन्ते अस्याम् इति धानी "रणाऽधिकरणयोश्च" इस सूत्रसे "धा" धातुसे अधिकरण अर्थमें ल्युट् हुआ है। धा + ल्युट् + ङीप्। राज्ञां धानी राजधानी, ताम् (ष० त०) गत्वा + गम् + क्त्वा।

कामुकत्वस्य = "कामयते तच्छीलः" ऐसा विग्रह कर कान्ति (इच्छा) अर्थमें विद्यमान कम् धातुसे "लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशॄभ्य उकञ्" इस सूत्रसे उकञ् प्रत्यय होकर कामुक शब्द बनता है। कम् + उकञ् = कामुकः। कामुकस्य भावः कामुकत्वं, तस्य। कामुक + त्व।

"विलासी कामुकः कामी स्त्रीपरो रतिलम्पटः।" इति शब्दार्णवः।

अविकलं = विगता कला (अंशः) यस्मात्तत् विकलं (बहु०), "कला स्यादंशशिल्पयोः" इति हैमः। जिसका कुछ अंश चला गया है वह विकल अर्थात् अपूर्ण है। न विकलम् अविकलम् (नञ्०) जो विकल नहीं है वह अविकल अर्थात् सम्पूर्ण।

लब्धा = लभ् + लुट् (कर्मणि)। यस्मात् = हेतौ पञ्चमी।

चलोर्मि = चलतीति चला, चल + अच् (पचाद्यच्) + टाप्। चला ऊर्मिः यस्य, तत् (बहु०)। वेत्रवत्या = वेत्रम् अस्ति यस्याः सा वेत्रवती, तस्याः। यहाँपर वेत्र शब्दसे "तदस्याऽस्त्यस्मिन्निति मतुप्" इस सूत्रसे मतुप् प्रत्यय होकर मकारके स्थानमें "मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः" इससे वकार आदेश हुआ है और स्त्रीत्वविवक्षामें "उगितश्च" इस सूत्रसे ङीप् प्रत्यय होकर "वेत्रवती" शब्द बना है। वेत्रशब्द बह्वच् नहीं है इसलिए "मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम्" इससे दीर्घ नहीं हुआ।

सभ्रूभङ्गं = भ्रुवोः भङ्गः (ष० त०) भ्रूभङ्गेन सहितं सभ्रूभङ्गं, तत् (तुल्ययोगबहु०)। तीरोपान्तस्तनितसुभगं = तीरस्य उपान्तः (ष० त०), तस्मिन्

स्तनितं (स० त०), तेन सुभगं यथा तथा (तृ० त०), यह पान क्रियाका विशेषण है। पास्यसि = पा + लृट् + सिप्। इस श्लोकमें मेघ और वेत्रवतीमें लिङ्गसाम्यसे नायक और नायिकाके व्यवहारका समारोप होनेसे समासोक्ति और "सभ्रूभङ्गं मुखमिव" इसपर उत्प्रेक्षा होकर अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ २४ ॥

नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतो-
स्त्वत्संपर्कात् पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः ।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ॥ २५ ॥

अन्वयः—(हे मेघ !) तत्र विश्रामहेतोः प्रौढपुष्पैः कदम्बैः त्वत्संपर्कात् पुलकितम् इव नीचैराख्यं गिरिम् अधिवसेः । यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिः शिलावेश्मभिः नागराणाम् उद्दामानि यौवनानि प्रथयति ॥ २५ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) तत्र=तस्यां, विदिशायामित्यर्थः । विश्रामहेतोः= अध्वश्रमाऽपनयनाऽर्थं, प्रौढपुष्पैः=विकसितकुसुमैः, कदम्बैः=नीपवृक्षैः, त्वत्संपर्कात्=भवत्सङ्गात्, पुलकितम् इव=संजातरोमाञ्चम् इव, नीचैराख्यं=नीचैःसंज्ञकं, गिरिं=पर्वतम्, अधिवसेः=अधिवासं कुर्याः, नीचैर्गिरौ वसेरिति भावः । यः=नीचैर्गिरिः । पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिः=वेश्यारमणसौरभाऽऽविष्कारिभिः, शिलावेश्मभिः=प्रस्तरगृहैः, कन्दरैरिति भावः । नागराणां=पौराणाम्, उद्दामानि=उत्कटानि, यौवनानि=तारुण्यानि, प्रथयति=प्रकटयति । उत्कटयौवना वारस्त्रियो जनन्यादिभीतेः कन्दराऽऽदिकं विविक्तं प्रदेशं गत्वा निशीथे स्ववल्लभैः सह तत्र विहरन्तीति प्रसिद्धिमनुसृत्योक्तिरियम् ॥ २५ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ! विदिशासमीपे मार्गश्रमशान्त्यर्थं मित्रस्य तव सम्पर्कात् पुष्पितनीपवृक्षैः रोमाञ्चयुक्त इव नीचैर्नामके पर्वते वासं कुर्याः । यत्र (पर्वते) कन्दरेषु नागरिका निशीथसमये वारस्त्रीभिः समं विहरन्ति ॥ २५ ॥

अनुवादः—हे मेघ! विदिशाके समीपमें विश्रामके लिए फूलोंवाले कदम्बवृक्षोंसे तुम्हारे सम्बन्धसे रोमाञ्चितके समान नीचैः नामके पर्वतमें निवास करो । जो पर्वत वेश्याओंसे रतिक्रीडाओंमें विमर्दित पुष्प आदिकी सुगन्धिको प्रकट करनेवाली गुफाओंसे नागरिकोंके उत्कट तारुण्य (जवानी) को प्रकट करता है ॥ २५ ॥

टिप्पणी—तत्र = तस्याम् इति, ऐसा विग्रहकर 'सप्तम्यास्त्रल्' इस सूत्रसे तद् शब्दसे सामीपिक अधिकरणमें त्रल् प्रत्यय हुआ है ।

विश्रामहेतोः=यहाँपर "विश्राम" शब्दके प्रयोगमें बहुत मतभेद है। तपस्या और खेद अर्थमें विद्यमान "श्रमु" धातुसे घञ् प्रत्यय होकर "विश्राम" शब्द सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि श्रम धातु उदात्तोपदेश और मकाराऽन्त हैं; अतः उससे घञ् प्रत्यय करनेपर "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्याऽनाचमेः" इस सूत्रसे उपधावृद्धिका निषेध होता है, तब तो "विश्रम" ही बनेगा "विश्राम" नहीं। अत एव आचार्य भट्टोजिदीक्षितने "बिश्राम इति त्वपाणिनीयम्" ऐसा लिखा है, अर्थात् "विश्राम" यह पाणिनिसम्मत प्रयोग नहीं है। यदि "धुर्यान्विश्रामयन्" इत्यादि प्रयोगके समान णिच् प्रत्यय और वृद्धि कर "वि+श्रामि" इससे "एरच्" इस सूत्रसे अच् प्रत्यय करेंगे तो "विश्राम शब्द सिद्ध हो जाता है।

णिच् प्रत्ययमें वृद्धिका निषेध नहीं होता है, उक्त सूत्रसे "कृति" इसकी ही अनुवृत्ति है, इस कारण कृत्प्रत्ययमें ही उक्त वृद्धिनिषेध होगा णिच्में नहीं। तब भी "मितां ह्रस्वः" इससे ह्रस्व होना चाहिए, इस शङ्काका समाधान यह है कि उक्त सूत्रमें "वा" की अनुवृत्ति है। इस प्रकारसे णिजन्तकी कल्पना करनेपर भी अर्थभेदकी आशङ्का करके तत्त्वबोधिनीकार ज्ञानेन्द्रभिक्षुजी समाधान करते हैं कि यहाँपर स्वाऽर्थे (प्रकृत्यर्थे) में णिच् हुआ है अतः अर्थभेदकी कोई गुञ्जाइश नहीं। इस प्रकार उन्होंने—

"रोगी चिरप्रवासी पराऽन्नभोजी पराऽऽवसथशायी।
यज्जीवति तन्मरणं यन्मरणं सोऽस्य विश्रामः॥"

इत्यादि कवि-प्रयोगकी भी साधुता दिखलाई है। महोपाध्याय मल्लिनाथजी वृद्धिनिषेधकी आशङ्का कर "विश्रामो वा" इस चान्द्रव्याकरणके सूत्रका हवाला देकर जान छुड़ाते हैं। चान्द्रव्याकरणमें उक्त सूत्र हो वा न हो हमें इससे कोई मतलब नहीं, पाणिनि मुनिके अनुयायीको व्याकरणान्तरका सहारा लेना उचित प्रतीत नहीं होता है। वास्तवमें णिजन्त श्रम धातुसे अच् प्रत्यय करना भी गौरवग्रस्त पक्ष है, अतः हमारे मतमें "श्रमणं श्रमः" इस तरह भावमें घञ् प्रत्यय करके "श्रम एव श्रामः" इस प्रकार स्वाऽर्थमें अण् प्रत्यय करनेसे "श्राम" शब्दकी सिद्धि हो जाती है। विगतः श्रामो यस्मिन्निति विश्रामः=कालः (बहु०) इसमें लाघव है और पाणिनीयता भी सुरक्षित रहती है और वैसी क्लिष्ट कल्पना भी नहीं। "विश्रामस्य हेतोः", यहाँपर "षष्ठी हेतुप्रयोगे" इस सूत्रसे षष्ठी होकर षष्ठीतत्पुरुष समास हुआ है। सौकर्य चाहनेवाले कुछ लोग "विश्रान्तिहेतोः" ऐसे पाठान्तरकी भी कल्पना करते हैं।

प्रौढपुष्पैः=प्र+वह्+क्तः (कर्तरि)=प्रौढम् । वकारका सम्प्रसारण होकर "उ" हुआ है । "प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु" इस वार्तिकसे "प्र+उढ" यहाँपर वृद्धि हो गई है । प्रौढानि पुष्पाणि येषु, तैः(बहु०) । त्वत्संपर्कात्=सं+पृच्+घञ्=संपर्कः, तव सम्पर्कः त्वत्सम्पर्कः, तस्मात् (ष० त०), हेतौ पञ्चमी ।

पुलकितं=पुलकाः संजाता अस्य, तम् । "तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्" इस वार्तिकसे पुलक शब्दसे इतच् प्रत्यय हुआ है ।

नीचैराख्यं=नीचैः आख्या यस्य सः, तम् (बहु०) । गिरिम्="अधिवसेः" यहाँपर अधिपूर्वक वस धातुके योगमें "उपान्वध्याङ्वसः" इस सूत्रसे द्वितीया विभक्ति (उपपदविभक्ति) हुई है ।

अधिवसेः=अधि+वस+लिङ् (विधौ)+सिप् ।

पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिः=पणितुं (व्यवहर्तुम्) योग्या पण्या, यहाँपर "अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्याऽनिरोधेषु" इस सूत्रसे निपातन हुआ है । पण्याश्च ताः स्त्रियः (क० धा०), "वारस्त्री गणिका वेश्या पण्यस्त्री रूपजीविनी ।" इति शब्दार्णवः । पण्यस्त्रीणां रतयः (ष० त०), तासु परिमलः पण्यस्त्रीरतिपरिमलः (स० त०),'विमर्दोत्थे परिमलो गन्धे जनमनोहरे ।' इत्यमरः । पण्यस्त्रीरतिपरिमलम् उद्गिरन्तीति तच्छीलानि पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारीणि, तैः, पण्यस्त्रीरतिपरिमल+उद्+गॄ+णिनिः (उपपदसमासः) यहाँपर उद्गार शब्दका गौण अर्थमें प्रयुक्त होनेसे जुगुप्साव्यञ्जक अश्लीलता नहीं होती है । जैसे कि दण्डी कहते हैं—निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम् । अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षां विगाहते ॥" रम्+क्तिन्=रतिः । शिलावेश्मभिः=शिलानां वेश्मानि, तैः (ष० त०) ।

नागराणां=नगरे भवा नागराः, तेषाम् । यहाँपर नगर शब्दसे "तत्र भवः" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय हुआ है ।

उद्दामानि=दाम्नः (मर्यादायाः) उद्गतानि उद्दामानि, तानि । यहाँपर "निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या" इस वार्तिकसे समास हुआ है । यौवनानि=यूनां भावा यौवनानि तानि । यहाँपर युवन् शब्दसे "हायनाऽन्तयुवादिभ्योऽण्" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय होकर "अन्" इस सूत्रसे युवन्के अन् भागका प्रकृतिभाव होनेसे "नस्तद्धिते" इस सूत्रसे टिलोप न होकर आदिवृद्धि होकर "यौवन" शब्द सिद्ध हुआ है । युवन्+अण् । प्रथयति=प्रथ+णिच=लट्+तिप् । इस श्लोकमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ २५ ॥

विश्रान्तः सन् व्रज वननदीतीरजातानि सिञ्च-
न्नुद्यानानां नवजलकणैर्यूथिकाजालकानि ।
गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानां
छायादानात् क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—(हे मेघ !) विश्रान्तः सन् वननदीतीरजातानि उद्यानानां यूथिकाजालकानि नवजलकणैः सिञ्चन् गण्डस्वेदाऽपनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानां ष्पलावीमुखानां छायादानात् क्षणपरिचितः (सन्) व्रज ॥ २६ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) विश्रान्तः सन् = कृतविश्रामः सन्, नीचैर्गिराविति शेषः । वननदीतीरजातानि = अरण्यसरित्तटोत्पन्नानि, स्वयं रूढानीति शेषः । उद्यानानाम् = आरामाणां, यूथिकाजालकानि = मागधीपुष्पमुकुलानि, नवजलकणैः = नूतनसलिललवैः, सिञ्चन् = आर्द्रीकुर्वन्, गण्डस्वेदाऽपनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानां = कपोलघर्मजलदूरीकरणपीडाम्लानश्रोत्रकुवलयानां, पुष्पलावीमुखानां = कुसुमाऽवचायिकावदनानां, छायादानात् = अनातपवितरणात्, कान्तिप्रदानादिति ध्वन्यते । क्षणपरिचितः = किञ्चित्कालसंस्तुतः सन्, व्रज = गच्छ, कामुकदर्शनात् कामिनीनां मुखविकासो जायत इति भावः ॥ २६ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! नीचैर्गिरौ विश्रम्य नवीनजलेन यूथिकाकुसुममुकुलानि सिञ्चन् तत्रोद्यानेषु कपोलस्वेदनिवारणश्रमेण संजातया पीडया म्लानकर्णकुवलयाः कुसुमाऽवचायिनीश्छायादानेन क्षणमनुगृह्य गच्छ ॥ २६ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! नीचैः नामके पर्वतमें विश्राम करके वनकी नदियोंके तटोंमें उत्पन्न बागीचोंके जूहीके मुकुलोंको नये जलके बिन्दुओंसे सेचन कर कपोलोंपर पसीना हटानेसे उत्पन्न पीडासे जिनके कर्णभूषण-कमल मुरझाये होंगे, फूलोंको तोड़नेवाली उन स्त्रियोंके मुखोंको छाया देनेसे कुछ समय तक परिचित होते हुए जाओ ॥ २६ ॥

टिप्पणी—विश्रान्तः = वि + श्रम् + क्तः (कर्तरि) । सन्=अस + लट् (शतृ) । वननदीतीरजातानि = वने नद्यः (स० त०), तासां तीराणि (ष० त०), तेषु जातानि, तानि (स० त०) । यूथिकाजालकानि = यूथिकानां जालकानि, तानि (ष० त०) ।

"अथ मागधी । गणिका यूथिका" इत्यमरः । नवजलकणैः = नवानि च तानि जलानि (क० धा०), तेषां कणाः, तैः (ष० त०) ।

"स्त्रियां मात्रा त्रुटी पुंसि लवलेशकणाऽणवः ।" इत्यमरः । सिञ्चन्=सिच्

+लट् (शतृ)। यहाँपर सिच् धातुका आर्द्रीकरण अर्थ होनेसे द्रवद्रव्य (नवजलकण) करण हुआ है। जहाँ सिच् धातुका क्षरण अर्थ होता है, वहाँ द्रवद्रव्य कर्म हो जाता है।

गण्डस्वेदेत्यादिः=गण्डयोः स्वेदः (स० त०)। स्विद्+घञ्=स्वेदः। अप+नी+ल्युट्=अपनयनम्। गण्डस्वेदस्य अपनयनम् (ष० त०)। रुज्+अङ+टाप्=रुजा। गण्डस्वेदाऽपनयनेन रुजा (तृ० त०), तया क्लान्तानि (तृ० त०)। क्लम्+क्तः=क्लान्तम्। कर्णयोः उत्पलानि (स० त०)। गण्डस्वेदाऽपनयनरुजाक्लान्तानि कर्णोत्पलानि येषां तानि, तेषाम् (बहु०) यह पद "पुष्पलावीमुखानाम्" इसका विशेषण है। पुष्पलावीमुखानां=पुष्पाणि लुनन्तीति पुष्पलाव्यः, पुष्प-उपपदपूर्वक लू धातुसे "कर्मण्यण्" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय होकर स्त्रीत्वविवक्षामें "टिड्ढाणञ्०" सूत्रसे ङीप् प्रत्यय हुआ है। (उपपदसमासः)। पुष्प+लू+अण्+ङीप्=पुष्पलावी। पुष्पलावीनां मुखानि तेषाम् (ष० त०)। छायादानात्=छायाया दानं, तस्मात् (ष० त०)। हेतौ पञ्चमी।

"छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः।" इत्यमरः।

क्षणपरिचितः=क्षणं परिचितः, यहाँपर "कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इससे द्वितीया होकर "अत्यन्तसंयोगे च" इससे द्वितीयातत्पुरुष समास हुआ है। परि+चि+क्तः=परिचितः। व्रज+लोट्+सिप्॥ २६॥

वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः।
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां
लीलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि॥ २७॥

अन्वयः—उत्तराऽऽशां प्रस्थितस्य भवतः पन्था यदपि वक्रः, तथाऽपि उज्जयिन्याः सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भुः। तत्र विद्युद्दामस्फुरितचकितैः लीलाऽपाङ्गैः पौराऽङ्गनानां लोचनैः न रमसे यदि (तर्हि) वञ्चितोऽसि॥२७॥

व्याख्या—(हे मेघ !) उत्तराऽऽशाम्=उदीचीं दिशं प्रति, प्रस्थितस्य=कृतप्रस्थानस्य, गच्छत इति भावः। भवतः=तव, पन्थाः=मार्गः उज्जयिनीमार्ग इत्यर्थः। यदपि=यद्यपि, वक्रः=कुटिलः, दूर इति भावः। तथाऽपि=वक्रत्वे सत्यपि, उज्जयिन्याः=विशालानगर्याः, सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखः=धवलभवनोर्ध्वभागपरिचयपराङ्मुखः, मा स्म भूः=न भवेत्यर्थः। तत्र=उज्जयिन्यां, विद्युद्दामस्फुरितचकितैः=तडिल्लतास्फुरणभीतैः, लीलाऽपाङ्गैः=चञ्चलकटाक्षैः, पौराङ्ग-

नानां=नागरिकसुन्दरीणां, लोचनैः=नेत्रैः, न रमसे यदि=न क्रीडसि चेत्, (तर्हि=तदा) वञ्चितोऽसि=प्रतारितोऽसि, तव जन्मनो वैफल्यं स्यादिति भावः ॥ २७ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! अलकागामिनस्ते मार्गो वक्रस्तथाऽपि त्वमुज्जयिनीमवश्यं याहि । तत्र विद्युत्स्फुरणभीतैश्चञ्चलकटाक्षैर्नागरिकललनालोचनैस्त्वं नाऽवलोकितः स्यास्तर्हि त्वदीयजन्मलाभो निष्फलः स्यात् ॥ २७ ॥

अनुवादः--हे मेघ ! उत्तर दिशामें अलकापुरीके लिए प्रस्थान करनेवाले तुम्हारा मार्ग यद्यपि टेढ़ा होगा, तथापि उज्जयिनीके प्रसादोंके ऊर्ध्व भागोंका परिचय करनेमें पराङ्मुख मत होना । वहाँपर बिजलीके चमकनेसे डरनेवाली चञ्चल कटाक्षोंसे सम्पन्न पौरसुन्दरियोंके नेत्रोंसे क्रीडा नहीं करोगे तो तुम वञ्चित हो जाओगे ॥ २७ ॥

टिप्पणी--उत्तराशाम्=उत्तरा चाऽसौ आशा, ताम् (क० धा०)। "दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः ।" इत्यमरः । अकर्मक "प्र" उपसर्गपूर्वक स्था धातुके योगमें "अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसंज्ञक इति वाच्यम्" इस वार्तिकसे कर्मसंज्ञक उत्तराऽऽशा शब्दसे द्वितीया विभक्ति हुई है । प्रस्थितस्य=प्र+स्था+क्तः (कर्तरि) ।

भवतः—भा+डवतुः=भवत् ।

विन्ध्य पर्वतसे उत्तरकी ओर बहनेवाली निर्विन्ध्या नदीके पूर्व भागमें कुछ दूरपर उज्जयिनी विद्यमान है । उत्तरापथ निर्विन्ध्याके पश्चिममें है, इसलिए अलकागामी मेघके लिए उज्जयिनीमें जानेका मार्ग कुटिल (टेढ़ा) हुआ यह अभिप्राय है ।

उज्जयिन्याः=उत्कृष्टो जय उज्जयः, "कुगतिप्रादयः" इति समासः । उद्+जि+अच्=उज्जयः । उज्जयः अस्ति यस्यां सा उज्जयिनी, तस्याः । उज्जय+इनिः=उज्जयिन् । उज्जयिन्+ङीप्=उज्जयिनी । 'विशालोज्जयिनी समा ।" इत्युत्पलः । उज्जयिनी पूर्वकालमें मालव देशकी प्रसिद्ध राजधानी थी । आजकल हिन्दी भाषामें इसे "उज्जैन" कहते हैं । यहाँ शिप्रा नदी तथा महाकालका मन्दिर है, जिसकी चर्चा महाकवि कालिदासने रघुवंशमें इन्दुमतीके स्वयंवरवर्णनके अवसरमें, 'असौ महाकालनिकेतनस्य (सर्ग ६ श्लोक ३४)" इत्यादि श्लोकमें की है । उज्जयिनीको ही विशाला तथा अवन्ती भी कहते हैं । मोक्ष देनेवाली सात पुरियोंमें यह भी एक पुरी मानी गई है । जैसे कि—

"अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका ।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ॥"

इस श्लोकमें कहा गया है ।

सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखः=सुधा (लेपः) अस्ति एषां ते सौधाः, सुधा शब्दसे "ज्योत्स्नादिभ्य उपसंख्यानम्" इस वार्तिकसे अण् प्रत्यय हुआ है । सुधा+अण्=सौधः । सुधा कहते हैं चूनको, चून पोते गये राजभवनको "सौध" कहते है । "सौधोऽस्त्री राजसदनम्" इत्यमरः । सौधानाम् उत्सङ्गाः (ष० त०) । प्र+णीञ् (नी)+अच् (भावे)=प्रणयः ।

"प्रणयः स्यात्परिचये याच्ञायां सौहृदेऽपि च ।" इति यादवः ।

सौधोत्सङ्गेषु प्रणयः (स० त०) । विरुद्धं मुखं यस्य सः विमुखः (बहु०) । सौधोत्सङ्गप्रणये विमुखः (स० त०) । मा स्म भूः="स्मोत्तरे लङ् च" इस सूत्रमें चकारका पाठ होनेसे आशीर्वाद अर्थमें भू धातुसे लुङ् होकर माङ्का योग होनेसे "न माङ्योगे" इस सूत्रसे अट् आगमका निषेध हुआ है । तत्र=तद्+ङि (त्रल्) ।

विद्युद्दामस्फुरितचकितैः+विद्योतत इति विद्युत्, वि+द्युत+क्विप्(कर्तरि)। 'स्फुर+क्तः (भावे)=स्फुरितम् । विद्युतो दामानि इव विद्युद्दामानि, "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याऽप्रयोगे" इति समासः । विद्युद्दाम्नां स्फुरितानि तैः (ष० त०) । यहाँपर "विद्युद्दामस्फुरित" के भयहेतु होनेसे "भीत्राऽर्थानां भयहेतुः" इस सूत्रसे अपादानसंज्ञा होकर "अपादाने पञ्चमी" इस सूत्रसे पञ्चमी हुई है ।

लोलाऽपाङ्गैः=लोला अपाङ्गा येषां तानि, तैः (बहु०) ।

पौराङ्गनानां=पुरि भवाः पौराः, पुर्+अण् । अङ्ग+न+टाप्=अङ्गनाः, पौराणाम् अङ्गनाः, तासाम् (ष० त०) । लोचनैः=रमण क्रियाका अत्यन्त उपकारक होनेसे "साधकतमं करणम्" इससे करणसंज्ञा होकर "कर्तृकरणयोस्तृतीया" इस सूत्रसे तृतीया विभक्ति हुई हैं ।

वञ्चितः=वञ्च+णिच्+क्तः । असि=अस्+लट+सिप् । नागरसुन्दरियोंके कटाक्षनिरीक्षणमें प्रीतिका अनुभव नहीं करोगे तो ठगे जाओगे, जैसे कि कहा गया है—

"सुभाषितेन गीतेन युवतीनां च लीलया ।
मनो न भिद्यते यस्य स योगी ह्यथवा पशुः ॥ २७ ॥"

वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः ।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥ २८ ॥

अन्वयः—पथि वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः स्खलितसुभगं संसर्पन्त्याः दर्शिताऽऽवर्तनाभेः निर्विन्ध्यायाः सन्निपत्य रसाऽभ्यन्तरो भव । हि स्त्रीणां प्रियेषु विभ्रमः आद्यं प्रणयवचनम् ॥ २८ ॥

व्याख्या—सम्प्रत्युज्जयिनीं गच्छतो मेघस्य मार्गमध्ये निर्विन्ध्यानद्याः सम्बन्धमाह—वीचिक्षोभेति—

(हे मेघ !) पथि = मार्गे, वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः = वीचिक्षोभेण (तरङ्गचलनेन) स्तनितविहगानां (मुखरपक्षिणाम्) श्रेणिकाञ्चीगुणायाः (पङ्क्तिरूपरसनागुणयुक्तायाः) । स्खलितसुभगं=स्खलितेन (उपलस्खलनेन मदस्खलनेन च) सुभगं (मनोहरम्) यथा तथा । संसर्पन्त्याः=प्रवहन्त्या गच्छन्त्याश्च । दर्शिताऽऽवर्तनाभेः=प्रकटिताऽम्भोभ्रमनाभेः । तादृश्या निर्विन्ध्यायाः= निर्विन्ध्यायाऽख्यनद्याः, कस्याश्चिन्नायिकायाश्चेति ध्वन्यते । संनिपत्य = संगत्य, रसाऽभ्यन्तरः = अन्तःस्थितजलः, शृङ्गाराभ्यन्तराऽङ्गश्च । भव=एधि । सर्वथा निर्विन्ध्याया रसमनुभवेति भावः । ननु निर्विन्ध्यायाः प्रार्थनां विना कथं तत्राऽनुभव इत्यत आह—स्त्रीणामिति । हि = यतः । स्त्रीणां = नारीणां, प्रियेषु = कान्तेषु विषये, विभ्रमः = विलास एवेति शेषः । आद्यं = प्रथमं, प्रणयवचनं = प्रार्थनावाक्यम् । स्त्रियो विलासप्रदर्शनेनैव रागं प्रकाशयन्ति न तु वाग्व्यापारेणेति भावः । विलासप्रदर्शनं चाऽत्र नाभिदर्शनादिकमुक्तमेव ॥ २८ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ! यस्यास्तरङ्गचलनेन शब्दायमानाः पक्षिणो रसनागुणा इव वर्तन्ते, उपलस्खलनेन मनोहरं यथा तथा प्रवहन्त्या नाभिसदृशं जलभ्रमं दर्शयन्त्याः कामिनीसदृश्यास्तस्या निर्विन्ध्यायास्त्वं पथि रसमनुभव; यतः कामिनीनां कान्तेषु विलासप्रदर्शनमेव प्राथमिकं प्रार्थनावाक्यं भवति ॥ २८ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! मार्गमें तरङ्गके चलनेसे शब्द करनेवाले पक्षी ही जिसकी करधनीके समान हैं, पत्थरोंपर गिरनेसे मनोहरताके साथ बहनेवाली तथा नाभिके सदृश भँवरको दिखलानेवाली निर्विन्ध्या नामकी नदीके पास आकर उसके रस (जल वा शृङ्गार) को ग्रहण करनेमे अन्तरङ्ग बनो । क्योंकि स्त्रियोंकी प्रणयी जनोंमें शृङ्गार चेष्टा ही प्रथम प्रणयवाक्य हो जाता है।॥२८॥

टिप्पणी—वीचिक्षोभेत्यादिः—क्षुभ् + घञ् (भावे)=क्षोभः । वीचीनां क्षोभः (ष० त०), तेन स्तनिताः (तृ० त०), ते च ते विहगाः (क० धा०), तेषां श्रेणिः (ष० त०) काञ्च्या गुणः (ष० त०) । वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिरेव काञ्चीगुणो यस्याः, तस्याः (बहु०) । स्खलितसुभगं=स्खलितेन सुभगम् (यथा तथेति क्रियाविशेषणम्, तृ० त०) । संसर्पन्त्याः = सं + सृप् + लट् (शतृ) + ङीप् । दर्शिताऽऽवर्तनाभेः = आवर्त एव नाभिः “मयूरव्यंसकादयश्च” इति रूपकसमासः ।

“स्यादावर्तोऽम्भसां भ्रमः” इत्यमरः । दृश् + णिच् + क्तः (कर्मणि) = दर्शितः । दर्शितः आवर्तनाभिर्यया, तस्याः (बहु०) ।

निर्विन्ध्यायाः=विन्ध्यात् निष्क्रान्ता निर्विन्ध्या, तस्याः, यहांपर “निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या” इस वार्तिकसे समास होकर “परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः” इस सूत्रके अनुसार परपद “विन्ध्य” के अनुसार पुंल्लिङ्गताकी प्राप्ति थी परन्तु “द्विगुप्राप्ताऽऽपन्नाऽलंपूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः” इस वार्तिकसे उसका निषेध हो गया है ।

मालव देशकी एक नदीका नाम निर्विन्ध्या है । जो कि विन्ध्यपर्वतसे निकली है । संनिपत्य = सं + नि + पत् + क्त्वा (ल्यप्) ।

रसाभ्यन्तरः = रसः (जलम्) अभ्यन्तरे यस्य सः (व्यधिकरणबहु०) निर्विन्ध्या नदीके पक्षमें ऐसा समास है । नायिकाके पक्षमें—रसेन (शृङ्गारेण) अभ्यन्तरः (तृ० त०) “शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः ।” इत्यमरः । “हि हेताववधारणे” इत्यप्यमरः ।

प्रियेषु = प्रीणन्तीति प्रियाः, तेषु, (विषये सप्तमी) । प्री = कः । आद्यम्= आदौ भवं “दिगादिभ्यो यत्” इति यत्, आदि + यत् । प्रणयवचनं = प्रणयस्य वचनम् (ष० त०) ।

इस श्लोकमें रूपक अलङ्कारका भेद एकदेशविवर्ति साङ्गरूपक अलंकार है। उपमेयमें उपमानके आरोपको “रूपक” कहते हैं, सो यहाँपर विहगश्रेणीमें काञ्चीगुणका और आवर्तमें नाभिका आरोप तो शाब्द है पर निर्विन्ध्यामें नायिकाका आरोप आर्थ होनेसे “एकदेशविवर्ति साऽङ्गरूपक” अलङ्कार हुआ है । रस शब्दमें श्लेष है और चतुर्थ चरणसे पूर्व वाक्यका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है । इस प्रकार तीनों अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलंकार हो गया है ॥ २८ ॥

वेणीभूतप्रतनुसलिलाऽसावतीतस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः ।
सौभाग्यं ते सुभग! विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥ २९ ॥

अन्वयः—वेणीभूतप्रतनुसलिला तटरुहतरुभ्रंशिभिः जीर्णपर्णैः पाण्डुच्छायाः; विरहाऽवस्थया अतीतस्य ते सौभाग्यं व्यञ्जयन्ती असौ सिन्धुः येन विधिना कार्श्यं त्यजति स त्वया एव उपपाद्यः ॥ २९ ॥

व्याख्या—निर्विन्ध्याया विरहाऽवस्थां वर्णयंस्तन्निराकरणं प्रार्थयते—वेणीभूतेति । हे सुभग = हे सौभाग्यशालिन् मेघ ! वेणीभूतप्रतनुसलिला = वेण्याकारस्वल्पजला, तटरुहतरुभ्रंशिभिः = तीरोत्पन्नवृक्षस्रंसिभिः, शीर्णपर्णैः = शुष्कपत्रैः, पाण्डुच्छाया = पीतवर्णा, (अत एव) विरहाऽवस्थया = वियोगदशया, केशसंस्काराऽभावेन पाण्डुवर्णत्वेन करणेन चेति भावः । अतीतस्य = प्रोषितस्य, एतावन्तं कालमतीत्य गतस्येत्यर्थः । ते = तव, नायकस्येति च गम्यते । सौभाग्यं = सुभागत्वं, व्यञ्जयन्ती = प्रकाशयन्ती, स खलु सुभगो यमङ्गनाः कामयन्त इति भावः । असौ = पूर्वोक्ता, सिन्धुः = नदी, निर्विन्ध्येति भावः । येन = यादृशेन, विधिना = व्यापारेण, कार्श्यं = स्वल्पसलिलत्वं, कृशत्वं वा । त्यजति = मुञ्चति, सः = तादृशः, विधिः = व्यापारः, जलवृष्ट्यात्मकः संभोगरूपो वा । त्वया एव = भवता एव, उपपाद्यः = कर्तव्यः ॥ २९ ॥

सरलार्थः—हे मेघ ! सा निर्विन्ध्या नदी त्वद्वियोगात् स्तोकजलेन कृशशरीरा तटोत्पन्नवृक्षाणां शुष्कपत्रैः पीतवर्णा च सती ते सौभाग्यं व्यञ्जयति । अतः सा यथा कृशत्वं मुञ्चति तथा त्वया करणीयम् ॥ २९ ॥

अनुवादः—हे सौभाग्यशालिन् मेघ ! वेणीके समान थोड़ा जलवाली तीरमें उगेहुए वृक्षोंसे गिरनेवाले सूखेहुए पत्तोंसे पीला वर्णवाली अतएव विरहकी अवस्थासे प्रवासस्थित तुम्हारे सौभाग्यको प्रकाशित करती हुई वह नदी (निर्विन्ध्या) जिस विधिसे कृशताको छोड़े उस विधिको तुम्हें ही करना चाहिए ॥ २९ ॥

टिप्पणी—सुभग = शोभनं भगं (भाग्यम्) यस्य स तत्सम्बुद्धौ (बहु०) । वेणीभूतप्रतनुसलिला = अवेणी वेणी यथा सम्पद्यते तथा भूतं वेणीभूतं, "कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः" इति वेणी + च्वि + भू + क्तः । तादृशं प्रतनु सलिलं यस्याः सा (बहु०) । तटरुहतरुभ्रंशिभिः = रोहन्तीति रुहाः "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इति कप्रत्ययः । रुह + कः = रुहाः । तटयो रुहाः (स० त०), ते च ते

तरवः (क० धा०) तटरुहतरुभ्यो भ्रश्यन्तीति तच्छीलानि तटरुहतरुभ्रंशीनि, तैः (णिनिः) (उपपदसमासः), जीर्णपर्णैः = जीर्णानि च तानि पर्णानि जीर्णपर्णानि (क० धा०), तैः। "जॄष् वयोहानौ" इस धातुसे "गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थाऽऽसवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च" इस सूत्रसे क्तप्रत्यय होकर "जीर्ण" शब्द सिद्ध होता है। पाण्डुच्छाया=पाण्डुः छाया यस्याः सा (बहु०)। विरहाऽवस्थया = विरहस्य अवस्था (ष० त०) तया। अतीतस्य=अति + इण् + क्त + ङस्। सौभाग्यं = शोभनं भगं (भाग्यम्) यस्य स सुभगः (बहु०)। सुभगस्य भावः कर्म वा, सुभग + ष्यञ्। व्यञ्जयती = वि + अञ्ज् + णिच् + लट् (शतृ) + ङीप्। सिन्धुः = सिन्धु शब्दमें कुछ मतभेद है। कुछ लोग—'वेणीभूतप्रतनुसलिला तामतीतस्य" ऐसा पाठान्तर स्वीकार कर "ताम्" पदका अर्थ करते हैं निर्विन्ध्याको, और 'अतीतस्य' का अर्थ करते हैं पार किये हुए। ते=तुम्हारा, इस प्रकार सिन्धु पदका अर्थ करते हैं–मालवदेशमें बहनेवाली "काला सिन्धु" नामकी नदी। परन्तु महोपाध्याय मल्लिनाथ सिन्धु पदसे सामान्य नदी-- निर्विन्ध्याका ग्रहण कर "सिन्धु नामकी कोई नदी है ही नहीं, अलबत्ता नद है जो कि काश्मीरमें है" ऐसा लिखते हैं। "देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम्।" इत्यमरः। विधिना = वि + धा + किः, करणे तृतीया। कार्श्यं = कृशस्य भावः, कृश + ष्यञ्। त्यजति = त्यज् + लट् + तिप्। उपपाद्यः = उप + पद् + णिच् + ण्यत्। इस श्लोकमें निर्विन्ध्या अथवा सिन्धु नदीकी पांचवीं कामाऽवस्थाका प्रदर्शन किया गया है, जैसा कि रतिरहस्यमें लिखा है :—

"नयनप्रीतिः प्रथमं, चित्ताऽऽसङ्गस्ततोऽथ सङ्कल्पः।
निद्राच्छेदस्तनुता, विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः॥
उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव स्युः।"

अर्थात् पहली कामाऽवस्था नेत्रप्रीति, दूसरी चित्तकी आसक्ति, तीसरी सङ्कल्प, चौथी निद्रानाश, पाँचवी कृशता, छठी शब्द-स्पर्श आदि विषयोंकी निवृत्ति, सातवीं लज्जानाश, आठवीं पागलपन, नवीं मूर्च्छा और दशवीं कामाऽवस्था मृत्यु है। इनमें भारतीय साहित्यसिद्धान्तके अनुसार रसविच्छेद होनेके कारण मृत्युका वर्णन नहीं किया जाता है।

इस श्लोकमें लिङ्गसाम्यसे निर्विन्ध्यासे नायिकाके और मेघसे नायकके व्यवहारका समारोप होनेसे समासोक्ति अलंकार है॥ २९॥

प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्
पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम् ।
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत् खण्डमेकम् ।। ३० ।।

अन्वयः—उदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान् अवन्तीन् प्राप्य सुचरितफले स्वल्पीभूते गां गतानां स्वर्गिणां शेषैः पुण्यैः हृतं कान्तिमत् एकं दिवः खण्डम् इव पूर्वोद्दिष्टां श्रीविशालां विशालां पुरीम् अनुसर ।। ३० ।।

व्याख्या—(हे मेघ !) उदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्=वत्सराजोपाख्यानतत्त्वज्ञसंवसथवृद्धान्, अवन्तीन्=मालवदेशान्, प्राप्य=आसाद्य, सुचरितफले=पुण्यफले, स्वल्पीभूते=क्षीणे सति, गां=भूमिं, गतानां=प्राप्तानां, "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" इति स्मृतेरिति भावः । स्वर्गिणां=स्वर्गवतां जनानां, शेषैः=भुक्ताऽवशिष्टैः, पुण्यैः=सुकृतैः, हृतम्=आनीतं, कान्तिमत्=उज्ज्वलं, सारभूतामिति भावः । एकम्=अन्यत्, दिवः=स्वर्गस्य, खण्डम् इव=शकलम् इव, पूर्वोद्दिष्टां=प्रागुक्तां "सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः १–२७" इत्युक्तम् । श्रीविशालां=सम्पत्तिमतीं, विशालाम्=उज्जयिनीं, पुरी=नगरीम्, अनुसर=व्रज ।। ३० ।।

सरलार्थः—हे मेघ ! वत्सराजोपाख्यानाऽभिज्ञवृद्धजनयुक्तान् मालवान् प्राप्य पुण्यफले स्तोकाऽवशिष्टे पृथिवीस्थानां स्वर्गोपभोगिनामवशिष्टैः सुकृतैरानीतमुज्ज्वलं स्वर्गस्यैकं खण्डमिव पूर्वाभिहितां प्रचुरसम्पत्तियुतामुज्जयिनीं व्रज ।।३०।।

अनुवादः—हे मेघ ! जहाँके गाँवके बूढ़े लोग उदयनकी कथाके जानकार है वैसे अवन्तिदेशमें पहुँचकर पुण्यफलके क्षीण होनेपर पृथ्वीमें आए हुए स्वर्गका उपभोग करनेवालोंके अवशिष्ट पुण्योंसे लाये गए उज्ज्वल स्वर्गके एक टुकड़ेको समान पहले कही गई सम्पत्तिसम्पन्न उज्जयिनी पुरीका अनुसरण करो ।।३०।।

टिप्पणी—उदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्=उदयनस्य कथा (ष० त०) विदन्तीति विदाः, विद्+कः । ओकसः (वैद्यस्थानस्य) विदाः कोविदाः, "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" इस नियमके अनुसार ओकारका लोप करके मल्लिनाथजी "कोविद" शब्दकी सिद्धि करते हैं, अर्थात् जो वेद्यस्थानके जानकार हैं वे "कोविद" कहलाते है । उदयनकथायां कोविदाः (स० त०) । ग्रामे वृद्धाः (स० त०) उदयनकथाकोविदा ग्रामवृद्धा येषु, तान् (बहु०) । वत्सराज उदयनकी कथा बृहत्कथा (पैशाचीभाषामें लिखित ग्रन्थ जो अभी उपलब्ध नहीं), बृहत्कथा-

मञ्जरी और कथासरित्सागर, स्वप्नवासवदत्ता, रत्नावली आदि ग्रन्थोंमें पाई जाती है। उदयनकथाकी कुछ चर्चा महाकवि कालिदासने आगेके श्लोकमें भी की है। उदयनकी कथा कहनेसे वासवदत्ताके हरण आदि कथा ली जाती हैं। अवन्तीन्=अवन्तीनां (क्षत्रियाणाम्) निवासो जनपदः "तस्य निवासः" इस सूत्रसे अवन्ति शब्दसे अण् प्रत्यय, "जनपदे लुप्" इससे उसका लुप् (अदर्शन) और "लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने" इससे प्रकृति अवन्तिसे समान लिङ्ग और वचन हुआ है। "अवन्ति" मालवका एक अंश है, इसकी राजधानी उज्जयिनी है। प्राप्य=प्र+आप्+क्त्वा (ल्यप्)। सुचरितफले=शोभनं चरितं सुचरितम् "कुगतिप्रादयः" इससे समास हुआ है। सुचरितस्य फलं (ष० त०) तस्मिन्। स्वल्पीभूते=अस्वल्पं स्वल्पं यथा संपद्यते तथा भूतं स्वल्पीभूतं, स्वल्प +च्विः (अभूततद्भावे)+भू+क्तः, तस्मिन्, भावे सप्तमी। गां="गौरिला कुम्भिनी क्षमा" इत्यमरः। गतानां=गम्+क्तः+आम् (कर्तरि)। स्वर्गिणां= स्वर्गोऽस्ति येषां ते स्वर्गिणः, तेषाम् स्वर्ग+इनिः। शेषैः=शिष्+घञ् (कर्मणि)। पुण्यैः=करणे तृतीया। हृतं=हृ+क्तः (कर्मणि)। कान्तिमत्=कान्ति+ मतुप्। एकम्="एके मुख्याऽन्यकेवलाः" इत्यमरः। स्वर्गके एक खण्डके समान कहनेसे उज्जयिनी भूलोकमें संपूर्ण पुरियोंमें श्रेष्ठ है ऐसी प्रतीति होती है। पूर्वोद्दिष्टां=पूर्वम् उद्दिष्टा, ताम्, "सुप् सुपा" समासः। उद्+दिश्+क्तः+ टाप्=उद्दिष्टा। श्रीविशालां=श्रिया विशाला, ताम् (तृ० त०)। "सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च" इत्यमरः। विशालां=विविधाः शालाः (भवनानि) यस्यां सा (बहु०), जिसमें बहुतसी शालाएं (भवन) हैं वह "विशाला" है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार उज्जयिनीका वाचक विशाला शब्द योगरूढ है। "विशालोज्जयिनी समे" इत्यमरः। अनुसर=अनु+सृ+लोट्+सिप्।

यहाँपर प्रकृत (प्रकरणोपात्त) विशालामें "दिवः खण्डम् इव" कहकर स्वर्गखण्डकी संभावना करनेसे उत्प्रेक्षा अलङ्कार हैं और "श्रीविशालां विशालाम्" यहाँपर यमक है, इन दोनोंका संसृष्टि अलङ्कार है॥ ३०॥

दीर्घीकुर्वन् पटु मदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः॥ ३१॥

अन्वयः---यत्र प्रत्यूषेषु पटु मदकलं सारसानां कूजितं दीर्घीकुर्वन् स्फुटित-

कमलाऽऽमोदमैत्रीकषायः अङ्गाऽनुकूलः शिप्रावातः प्रार्थनाचाटुकारः प्रियतम इव स्त्रीणां सुरतग्लानिं हरति ॥ ३१ ॥

व्याख्या—यत्र = विशालायां, प्रत्यूषेषु = प्रातःकालेषु, पटु = प्रस्फुटं, मदकलं = मदाऽव्यक्तमधुरं, सारसानां = पुष्कराह्वयानां वा हंसानां, कूजितं = रुतं, दीर्घीकुर्वन् = विस्तारयन्, स्फुटितकमलाऽऽमोदमैत्रीकषायः = विजृम्भितपद्मपरिमलसंसर्गसुरभिः, अङ्गाऽनुकूलः = शरीराऽनुगुणः, देहसुखस्पर्श इति भावः। शिप्रावातः = शिप्रानदीवायुः। प्रार्थनाचाटुकारः = पुनः सुरतार्थं प्रियवचनप्रयोक्ता, प्रियतम इव = वल्लभ इव, स्त्रीणां = नारीणां, सुरतग्लानिं = सम्भोगखेदं, हरति = निवारयति, कान्ताऽनुनयेन पूर्वं रतिखेदं विस्मृत्य नार्यो वल्लभाऽभिलाषं सफलयन्तीति भावः ॥ ३१ ॥

सरलाऽर्थः—यस्यामुज्जयिन्यां प्रातः श्रुतिमधुरं सारसरवं विस्तारयन् विकसितकमलसंसर्गसुरभिः सुखस्पर्शः शिप्रानदीवायुः सुरतप्रार्थनायामनुनयशीलः प्रियतम इव ललनानां रतिपरिश्रमं निवारयति ॥ ३१ ॥

अनुवादः—जिस उज्जयिनीमें प्रातःकालमें प्रस्फुट और मदसे अव्यक्त मधुर सारसोंके शब्दको फैलाता हुआ विकसित कमलोंके परिमलके सम्पर्कसे सुगन्धित और सुख स्पर्शवाला शिप्रा नदीका वायु रमणकी प्रार्थनामें खुशामद करनेवाले प्रियतमके समान स्त्रियोंकी रतिक्रीडाके परिश्रमको हटाता है ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—प्रत्यूषेषु = "प्रत्यूषोऽहर्मुखं कल्यम्" इत्यमरः। मदकलं = मदेन कलं, तत् (तृ० त०)। सारसानां = सरसि भवाः सारसास्तेषां, "तत्र भव" इत्यण्, सरस् + अण्। "पुष्कराह्वस्तु सारस" इत्यमरः। यद्वा "चक्राऽङ्गः सारसो हंस" इति शब्दाऽर्णवः। कूजितं = "कूज अव्यक्ते शब्दे" इस धातुसे क्तप्रत्यय हुआ है। दीर्घीकुर्वन् = अदीर्घं दीर्घं यथा सम्पद्यते तथा कुर्वन्, दीर्घ + च्वि + कृ + लट् (शतृ) स्फुटितकमलाऽऽमोदमैत्रीकषायः = स्फुटितानि च तानि कमलानि (क० धा०)। स्फुट + क्तः (कर्तरि)। स्फुटितकमलानाम् आमोदः (ष० त०), तेन मैत्री (तृ० त०), तया कषायः (तृ० त०) मित्रस्य भावः कर्म वा मैत्री, मित्र + ष्यञ्, "हलस्तद्धितस्य" इस सूत्रसे "य"का लोप हुआ और "षिद्गौरादिभ्यश्च" इस सूत्रसे ङीष् हो गया है "रागद्रव्ये कषायोऽस्त्री निर्यासे सौरभे रसे" इति यादवः। "विमर्दोत्थ परिमलो गन्धे जनमनोहरे। आमोदः सोऽतिनिर्हारी" इत्यमरः।

अङ्गाऽनुकूलः = अङ्गेषु अनुकूलः (स० त०)। "अङ्गानुकूल" शब्दको

वायुका विशेषण माननेसे शरीरमें सुखजनक स्पर्शवाला ऐसा अर्थ होता है, और प्रियतमका विशेषण माननेसे गाढं आलिङ्गनसे शरीरको दाबनेवाला ऐसा अर्थ करना चाहिए। इसी तरह भवभूतिने भी उत्तररामचरितमें रामचन्द्रजीकी उक्तिके रूपमें "अशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि" ऐसा लिखा हैं। इसी बातको महाकविने आगे जाकर लिखा है—"संभोगाऽन्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनानाम्"। शिप्रावातः=शिप्रायाः वातः=(ष० त०)। उज्जयिनीके समीप एक प्रसिद्ध नदीका नाम शिप्रा है। प्रार्थनाचाटुकारः=प्रार्थनं प्रार्थना, प्र+अर्थ+युच्+टाप्। चाटु करोतीति चाटु+कृ+अण्=चाटुकारः। प्रार्थनायां चाटुकारः (स० त०)। प्रियतमः=प्रीणातीति, प्री+कः=प्रियः। अतिशयेन प्रियः "अतिशायने तमबिष्ठनौ" इस सूत्रसे प्रियशब्दसे तमप् प्रत्यय होकर प्रियतम शब्दकी सिद्धि होती है। सुरतग्लानिम्=शोभनं रतं, सु+रम्+क्तः=सुरतम् (गतिसमासः)। ग्लै+क्तिन्=ग्लानिः। सुरतस्य ग्लानिः, ताम् (ष० त०)। हरति=हृ+लट्+तिप्। "प्रार्थनाचाटुकारः" इस पदके ऊपर कुछ व्याख्याताओंने इस श्लोकमें खण्डिता नायिकाके अनुभवकी कल्पना की है। साहित्यदर्पणमें खण्डिता नायिकाका लक्षण दिया है--

"पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसंयोगचिह्नितः।
सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता॥"

अर्थात् दूसरी स्त्रीसे संयोगसे चिह्नित होकर प्रिय जिसके पास जाता है। ईर्ष्यासे युक्त उस नायिकाको "खण्डिता" कहते हैं।

मल्लिनाथजीने पूर्वोक्त खण्डिता नायिकाके अनुनयका खण्डन किया है। वे कहते हैं खण्डिता नायिकाकी जब पहले रतिक्रीडा ही नहीं हुई तो पीछे उसकी ग्लानिके हरणकी बात ही नहीं उठती इसलिए यह व्याख्यान ठीक नहीं है। इस श्लोकमें प्रकृत शिप्रावातका अप्रकृत प्रियतमसे संभावना करनेसे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है॥ ३१॥

[हारांस्तारांस्तरलगुटिकान् कोटिशः शङ्खशुक्तीः
शष्पश्यामान् मरकतमणीनुन्मयूखप्ररोहान्।
दृष्ट्वा यस्यां विपणिरचितान् विद्रुमाणां च भङ्गान्
संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः॥ १॥]

अन्वयः-यस्यां कोटिशो विपणिरचितान् तारान् तरलगुटिकान् हारान् शङ्ख-

शुक्ती: शष्पश्यामान् उन्मयूखप्ररोहान् मरकतमणीन् विद्रुमाणां भङ्गांश्च दृष्ट्वा सलिलनिधयः तोयमात्राऽवशेषाः संलक्ष्यन्ते ॥ १ ॥

व्याख्या—साम्प्रतमुज्जयिनीसमृद्धिं वर्णयति—हारानिति । यस्याम्=उज्जयिन्यां, कोटिशः=अपरिमितान्, विपणिरचितान्=पण्यवीथिकाप्रसारितान्, देहलीदीपन्यायेनेदं विशेषणं यथालिङ्गं सर्वत्र सम्बद्धयन्ते । तारान्=शुद्धान्, सरलगुटिकान्=मध्यमणीभूतमहारत्नान्, हारान्=मुक्तावलीः, शङ्खशुक्तीः=कम्बुमुक्तास्फोटान्, शष्पश्यामलान्=बालतृणश्यामलान्, उन्मयूखप्ररोहान्=उद्गतसुन्दराऽङ्कुरान्, मरकतमणीन्=गारुडरत्नानि, विद्रुमाणां=प्रवालानां, भङ्गांश्च=खण्डांश्च, दृष्ट्वा=विलोक्य, सलिलनिधयः=समुद्राः, तोयमात्रावशेषाः=जलमात्राऽवशिष्टाः, संलक्ष्यन्ते=उन्नीयन्ते । अत्र रत्नादीनां तादृशीं समृद्धिं वीक्ष्य रत्नाकरो जलमात्राऽवशिष्टः स्यादित्यनुमीयत इति भावः । प्रक्षिप्तत्वेऽपि श्लोकत्रयमन्यैष्टीककारैर्व्याख्यातत्वात् संक्षेपेण व्याख्यातम् ॥ १ ॥

सरलाऽर्थः—यत्र पण्यवीथिकाप्रसारितानि अपरिमितान्युत्कृष्टमुक्तामाल्यानि शङ्खान् मुक्तास्फोटान् नीलवर्णान् मनोहराऽङ्कुरान् गारुत्मतमणीन् प्रवालखण्डांश्चाऽवलोक्य समुद्रा जलमात्रशेषाः सञ्जाता इत्यनुमीयते ॥ १ ॥

अनुवादः—जिस उज्जयिनीमें बाजारोंमें रक्खे गये मध्यभागमें महारत्नोंसे सुसज्जित करोड़ों असली मुक्तावलियोंको शङ्खों और सीपियोंको, घासके समान हरे ऊपर जानेवाली सुन्दर किरणोंसे सम्पन्न पन्ना नामके रत्नोंको तथा मूंगोंके टुकड़ोंको देखकर समुद्रमें खाली जलमात्र बाकी रह गया है ऐसा मालूम पड़ता है ॥ १ ॥

टिप्पणी—कोटिशः=कोटि+शस् । विपणिरचितान्=विपणिषु रचितास्तान् (म० त०) । तरलगुटिकान्=तरला गुटिका येषु ते, तान् (बहु०) । शङ्खशुक्तीः=शङ्खाश्च शुक्तयश्च ताः (द्वन्द्वः) । शष्पश्यामान्=शष्पाणि इव श्यामास्तान् (उपमितकर्मधारयः) ।

उन्मयूखप्ररोहान्=उद्गता मयूखप्ररोहा येषां ते, तान् (बहु०) । मरकतमणीन्=मरकतानि च ते मणयस्तान् (क० धा०) । तोयमात्राऽवशेषाः=तोयम् एव तोयमात्रम् (रूपकसमासः) तत् अवशेषो येषां ते (बहु०) । संलक्ष्यन्ते=सं+लक्ष+णिच् (कर्मणि) लट्+झ । इस श्लोकको अन्य टीकाकारोंने उत्तरमेघमें अलकावर्णनके प्रसङ्गमें ११ वें श्लोकके बाद दिया है । इस श्लोकमें समृद्ध वस्तुओंका वर्णन होनेसे उदात्त अलङ्कार है ॥ १ ॥

[प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे
हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः ।
अत्रोद्भ्रान्तः किल नलगिरिः स्तम्भमुत्पाट्य दर्पा-
दित्यागन्तून् रमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः ॥ २ ॥]

अन्वयः—"अत्र वत्सराजः प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं जह्रे । अत्र तस्यैव राज्ञो हैमं तालद्रुमवनम् अभूत् । अत्र नलगिरिः दर्पात् स्तम्भम् उत्पाट्य उद्भ्रान्तः किल" इति अभिज्ञो जन आगन्तून् बन्धून् यत्र रमयति ॥ २ ॥

व्याख्या—अत्र=इह, उज्जयिन्याम्, वत्सराजः=वत्सदेशाऽधीश्वरः, उदयन इत्यर्थः । प्रद्योतस्य=प्रद्योतनामकस्योज्जयिनीश्वरस्य, प्रियदुहितरम्=अभीष्टपुत्रीं, वासवदत्तामित्यर्थः । जह्रे=अपहृतवान् । अत्र=इह, स्थले । तस्यैव=पूर्वोक्तस्यैव । राज्ञः=भूपस्य, प्रद्योतस्येति भावः । हैमं=सौवर्णं, तालद्रुमवनं=तालवृक्षविपिनम्, अभूत्=आसीत्, अत्र=इह, नलगिरिः=नलगिरिनामकः, इन्द्रदत्तः प्रद्योतस्य गज इति भावः । दर्पात्=मदात्, स्तम्भम्=आलानम्, उत्पाट्य=उद्धृत्य उद्भ्रान्तः=भ्रमणं कृतवान्, किलेत्यैतिह्ये । इति=इत्थम्भूताभिः कथाभिः, अभिज्ञः=पूर्वोक्तकथाया ज्ञाता, जनः=पुरुषः. आगन्तून्=देशान्तरादागतान्, बन्धून्=बान्धवान्, यत्र=उज्जयिन्यां, रमयति=विनोदयति ॥ २ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! उदयन इह वासवदत्तामपजहार । अत्र प्रदेशे प्रद्योतस्य राज्ञः सौवर्णं तालवृक्षविपिनमासीत् । अस्मिन प्रदेशे च इन्द्रदत्तो नीलगिरिनामकः प्रद्योतगजो मदादालानमुन्मूल्य भ्रमण कृतवानिति उज्जयिनीस्थः पूर्वोक्तकथाभिज्ञो जनो देशान्तरादागतान् बान्धवान् विनोदयति ॥ २ ॥

अनुवादः—यहांपर वत्सराज (उदयन) ने उज्जयिनीके महाराज प्रद्योतकी प्रियपुत्री वासवदत्ताका अपहरण किया था । यहाँपर उन्हीं प्रद्योतका सुनहरा तालवृक्षोंका वन था । इस स्थानपर नलगिरिनामक इन्द्रसे दिया गया प्रद्योतका हाथी, मदसे बन्धनस्तम्भको उखाड़कर घूम रहा था, इस प्रकारसे कथाका जानकार पुरुष दूसरे देशसे आये हुए बान्धवोंका मनोविनोद करता है ॥ २ ॥

टिप्पणी—वत्सराजः=वत्सानां (वत्सदेशानाम्) राजा (ष० त०) "राजाऽहःसखिभ्यष्टच्" इस सूत्रसे समासाऽन्त टच् प्रत्यय हुआ है । वत्सदेशके राजाका नाम उदयन है । प्रद्योतस्य=उज्जयिनीके राजा प्रद्योतका दूसरा नाम "चण्डमहासेन" भी है । प्रियदुहितरं=प्रिया चाऽसौ दुहिता, ताम् (क० धा०) । जह्रे=हृञ्+लिट्+त । हैमं=हेम्नो विकारः, हेमन्+अण् । अभूत्+भू+

लुङ् + तिप् । दर्पात् = हेतौ पञ्चमी । उत्पाट्य + उद् + पट् + णिच् + क्त्वा (ल्यप्) । उद्भ्रान्तः = उद् + भ्रम् + क्तः (कर्तरि) । अभिज्ञः + अभिजानातीति "आतश्चोपसर्गे" इति कः । अभि + ज्ञा + कः । आगन्तून् = आङ् + गम् + तुम् (औणादिकः) । रमयति = रम् + णिच् + लट् + तिप् । इस श्लोकमें बीते हुए वृत्तान्तका साक्षात् दर्शनके समान वर्णन और उदाहरण लिखा है इसलिए भाविक अलङ्कार है । चन्द्रालोकमें इसका लक्षण और उदाहरण लिखा हैं—

"भाविकं भूतभाव्यर्थसाक्षाद्दर्शनवर्णनम् ।
अलं विलोकयाऽद्यापि युध्यन्तेऽत्र सुराऽसुराः ॥"

**[पत्रश्यामा दिनकरहयस्पर्धिनो यत्र वाहाः
शैलोदग्रास्त्वमिव करिणो वृष्टिमन्तः प्रभेदात् ।
योधाग्रण्यः प्रतिदशमुखं संयुगे तस्थिवांसः
प्रत्यादिष्टाभरणरुचयश्चन्द्रहासव्रणाङ्कैः ॥ ३ ॥]**

अन्वयः—यत्र वाहाः पत्रश्यामाः दिनकरहयस्पर्धिनः । शैलोदग्राः करिणः प्रभेदात् त्वमिव वृष्टिमन्तः । योधाऽग्रण्यः संयुगे प्रतिदशमुखं तस्थिवांसः चन्द्रहासव्रणाऽङ्कैः प्रत्यादिष्टाऽऽभरणरुचयः ॥ ३ ॥

व्याख्या--(हे मेघ !) यत्र=उज्जयिन्यां, वाहाः = अश्वाः, पत्रश्यामाः = पर्णश्यामलाः, अत एव, दिनकरहयस्पर्धिनः=सूर्याश्वसंघर्षशीलाः, वर्णतो वेगतश्च सूर्याऽश्वसदृशा इति भावः । शैलोदग्राः = पर्वतसमोन्नताः, करिणः = हस्तिनः, प्रभेदात् = मदस्रावाद्धेतोः, त्वमिव = भवानिव, वृष्टिमन्तः=वर्षशीलाः । योधाऽग्रण्यः = भटश्रेष्ठाः, संयुगे = युद्धे, प्रतिदशमुखं = रावणसम्मुखं, तस्थिवांसः = स्थितवन्तः, अत एव चन्द्रहासव्रणाऽङ्कैः=रावणखड्गक्षतचिह्नैः, प्रत्यादिष्टाऽऽभरणरुचयः = प्रत्याख्यातभूषणकान्तयः, सन्तीति शेषः ॥ ३ ॥

सरलाऽर्थः—(हे मेघ!) यत्रोज्जयिन्यामश्वाः वर्णतः श्यामला वेगतश्च सूर्याश्वस्पर्धाशालिनो वर्तन्ते । पर्वतसमोन्नता हस्तिनो मदस्रावात् त्वादृशा मदवृष्टियुक्ता विद्यन्ते । यत्रत्या भटश्रेष्ठाश्च युद्धे रावणाभिमुखं स्थायिनः, ततो रावणखड्गक्षतलाञ्छनैर्भूषिततनवः सन्ति ॥ ३ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! जिस उज्जयिनीमें घोड़े पत्तोंके समान श्याम वर्णवाले और सूर्यके घोड़ोंके साथ स्पर्धा (संघर्ष) करनेवाले हैं । पर्वतके सदृश ऊंचे हाथी मद गिरनेसे तुम्हारे समान वृष्टि करनेवाले हैं । श्रेष्ठ योद्धालोग युद्धमें रावणके

सम्मुख उठनेवाले और उसके खड्गके घावोंके चिह्नोंसे भूषणोंकी कान्तियोंका प्रत्याख्यान करनेवाले हैं ॥ ३ ॥

टिप्पणी—वाहाः=वहन्तीति वह + घञ् । दिनकरहयस्पर्धिनः=दिनं करोतीति दिनकरः, दिन + कृ + टः । तस्य हयाः (ष० त०) । तैः स्पर्धन्ते तच्छीलाः, दिनकर + हय + स्पर्ध + णिनिः, त्वमिव वृष्टिमन्तः=यहाँपर उपमानवाचक पद "त्वम्" एकवचनाऽन्त और उपमेयवाचक "करिणः" बहुवचन होनेसे "ज्योत्स्ना इव सिता कीर्तिः" इसके समान भग्नप्रक्रम दोष हुआ है । चन्द्रहासव्रणाऽङ्कैः=चन्द्रहासस्य व्रणानि (ष० त०), तान्येव अङ्कास्तैः (रूपकसमासः) । प्रत्यादिष्टाऽऽभरणरुचयः=आभरणानां रुचय (ष० त०), प्रत्यादिष्टा आभरणरुचयो यैस्तै (बहु०) । इस श्लोकको भी कतिपय टीकाकारोंने उत्तरमेघमें अलकावर्णनके प्रसङ्गमें १२वें श्लोकमें रखा है । इस श्लोकमें उपमा अलङ्कार है ॥ ३ ॥

जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपै-
र्बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः ।
हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखेदं नयेथा
लक्ष्मीं पश्यँल्ललितवनितापादरागाङ्कितेषु ॥ ३२ ॥

अन्वयः—जालोद्गीर्णैः केशसस्कारधूपैः उपचितवपुः, बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिः दत्तनृत्योपहारः, कुसुमसुरभिषु ललितवनितापादरागाऽङ्कितेषु हर्म्येषु अस्या लक्ष्मीं पश्यन् अध्वखेदं नयेथाः ।

व्याख्या—(हे मेघ !) जालोद्गीर्णैः=गवाक्षनिर्गतैः, केशसंस्कारधूपैः=शिरोरुहसंस्कृतिधूपैः । स्त्रीकेशवासनाऽर्थैर्गन्धद्रव्यधूपैरित्यर्थः । उपचितवपुः=परिपुष्टशरीरः, वन्धुप्रीत्या=बान्धवप्रणयेन, भवनशिखिभिः=गृहमयूरैः, दत्तनृत्योपहारः=वितीर्णनर्त्तनोपायनः, कुसुमसुरभिषु=पुष्पसुगन्धिषु, ललितवनितापादरागाऽङ्कितेषु=अङ्गनाचरणलाक्षारसचिह्नितेषु, हर्म्येषु=धनिकभवनेषु, अस्याः=उज्जयिन्याः, लक्ष्मीं=शोभां, पश्यन्=विलोकयन्, अध्वखेदं=मार्गपरिश्रमं, नयेथाः=अपनय ॥ ३२ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! तत्रोज्जयिन्यां गवाक्षमार्गनिर्गतैः सीमन्तिनीनां केशवासनाऽर्थैर्गन्धद्रव्यधूपैः परिपुष्टदेहो भवनमयूरैर्नृत्येन संभावितः, पुष्पसुगन्धिषु प्रमदालाक्षारसचिह्नितेषु धनिकभवनेषूज्जयिन्याः शोभां विलोकयंस्त्वं मार्गश्रममपनय ॥ ३२ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! खिड़कियोंके मार्गोंसे निकले हुए स्त्रियोंके केशोंको

सुगन्धित करनेवाले धूपोंसे परिपुष्ट शरीरवाले तथा बन्धुके आगमनकी प्रीतिसे भवनके मयूरोंसे नृत्यरूप उपहार प्राप्त करते हुए तुम, फूलोंसे सुगन्धित, सुन्दरियोंके चरणोंके लाक्षारागसे चिह्नित धनियोंके भवनोंमें उज्जयिनीकी शोभाको देखते हुए मार्गके परिश्रमको दूर करो ॥ ३२ ॥

टिप्पणी—जालोद्गीर्णैः=जालेभ्य उद्गीर्णास्तैः (प० त०)। उद्+गॄ+क्तः=उद्गीर्णः। केशसंस्कारधूपैः=संस्करणं संस्कारः, सम्+कृ+घञ्, यहाँपर "संपरिभ्यां करोतौ भूषणे" इस सूत्रसे सुट् आगम हुआ है। केशानां संस्कारः (ष० त०), तस्य धूपास्तैः (ष० त०)। यहाँपर संस्कार और धूपका तादर्थ्य होनेपर भी "यूपदारु" के समान "प्रकृति-विकृतिभाव" न होनेसे चतुर्थी तत्पुरुष नहीं हुआ।

उपचितवपुः=उपचितं वपुर्यस्य सः (बहु०)। उप+चि+क्तः (कर्तरि) =उपचितम्।

बन्धुप्रीत्या=बन्धोः प्रीतिस्तया (ष० त०)। प्री+क्तिन्=प्रीतिः। मेघके शब्दको सुनकर बन्धुरूप उसके आगमनकी प्रीतिसे मयूर नृत्य करते हैं, इसी बातको कवि यहाँ दिखलाते हैं। भवनशिखिभिः=शिखा (चूडा) अस्ति येषां ते शिखिनः, यहाँपर शिखा शब्दसे "व्रीह्यादिभ्यश्च" इस सूत्रसे इनि प्रत्यय हुआ है। भवनेषु शिखिनस्तैः (स० त०)। दत्तनृत्योपहारः=नृत्यमेवोपहारः (रूपकसमासः)। नर्तनं नृत्यं, "नृती गात्रविक्षेपे" इस धातुसे यहाँपर "ऋदुपधाच्चाऽक्लृपिचृतेः" इस सूत्रसे क्यप् प्रत्यय हुआ। लास्य, नृत्य और नृत्त ये शब्द "ताण्डवं नटनं नाट्यं लास्यं नृत्यं च नर्तने।" अमरसिंहकी इस उक्तिके अनुसार सामान्य नृत्यके बोधक हैं, तथाऽपि स्थल-विशेषमें ये विशेष अर्थका बोधन करते हैं। जैसे कि—वाक्याऽर्थके अभिनयको "नाट्य", पदार्थके अभिनयको "नृत्य" और शरीरविक्षेपमात्रको "नृत्त" कहते हैं। अर्थात् पारिभाषिक रूपमें ये शब्द योगरूढ हैं, परन्तु महाकविने यहाँपर "नृत्य" शब्दका यौगिक (अवयवार्थबोधक) के रूपमें प्रयोग किया है, अतः "नृत्त" रूप पाठान्तरकी क्लिष्ट कल्पना करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। उप+हृ+घञ्=उपहारः। दत्तो नृत्योपहारो यस्मै सः (बहु०)। कुसुमसुरभिषु=कुसुमैः सुरभीणि, तेषु (तृ० त०)। ललितवनितापादरागाऽङ्कितेषु=ललिताश्च ता वनिताः (क० धा०)। पादयो रागः (स० त०)। रञ्ज+घञ्=रागः। ललितवनितानां पादरागः (ष० त०), तेन अङ्कितानि, तेषु (तृ० त०)। "ललितं त्रिषु सुन्दरम्" इति

शब्दाऽर्णवः । लक्ष्मीं = लक्ष् + ई + (मुट्) । पश्यन् = पश्यतीति, दृश् + लट् (शतृ) । अध्वखेदम् = अध्वनः खेदस्तम् (ष० त०) । खिद् + घञ् = खेदः । नयेथाः = "णीञ् प्रापणे" इस धातुसे लिङ्के मध्यम पुरुषका रूप है । यहाँपर ञित् धातु णी (नी) ञ् क्रियाका फल कर्तृगामी होनेसे आत्मनेपदी हुआ है ।

इस श्लोकमें "अध्वखेदं नयेथाः" इस पाठके स्थानपर "अध्वखिन्नाऽन्तरात्मा" ऐसा पाठान्तर कुछ टीकाकार करते हैं, उनके मताऽनुसार यहाँ वाक्यपूरक क्रियापद न होनेसे आगामिश्लोकके साथ इसका सम्बन्ध होकर "युग्मक" मान लेना पड़ता है ।। ३२ ।।

भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः
पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य ।
धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या-
स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ।। ३३ ।।

अन्वयः—भर्तुः कण्ठच्छविः इति गणैः साऽऽदरं वीक्ष्यमाणः कुवलयरजोगन्धिभिः तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैः गन्धवत्या मरुद्भिः धूतोद्यानं त्रिभुवनगुरोः चण्डीश्वरस्य पुण्यं धाम यायाः ।। ३३ ।।

व्याख्या—(हे मेघ !) भर्तुः = स्वामिनः, नीलकण्ठस्येति भावः । कण्ठच्छविः = गलकान्तिः, इति = अस्मात्कारणात्, गणैः = प्रमथैः, साऽऽदरम् = आदरपूर्वकं, वीक्ष्यमाणः = दृश्यमानः सन्, कुवलयरजोगन्धिभिः = उत्पलपरागसौरभयुक्तैः, तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैः = जलक्रीडाऽऽसक्ततरुणीचन्दनादिसुरभिभिः, गन्धवत्याः = गन्धवतीनाम्न्यास्तत्रत्याया नद्याः, मरुद्भिः = वायुभिः, धूतोद्यानं = कम्पिताऽऽक्रीडं, त्रिभुवनगुरोः = त्रैलोक्यनायकस्य, चण्डीश्वरस्य = गौरीपतेः, पुण्यं = पवित्रं, धाम = स्थानं, महाकालाऽऽख्यमिति भावः । यायाः = गच्छ, कल्याणोत्पादकत्वात्सर्वथा तत्र गन्तव्यमिति भावः ।। ३३ ।।

सरलार्थः—हे मेघ ! शिवकण्ठसमकान्तिकं त्वां शिवगणा उज्जयिन्यां सादरं द्रक्ष्यन्ति । त्वं च तत्रोत्पलपरागसौरभयुक्तैः जलक्रीडासक्तानां तरुणीनां चन्दनादिगन्धद्रव्येण सुरभिभिर्गन्धवत्या नद्या वातैः कम्पितोद्यानं महाकालेश्वरस्य पावनं स्थानं गच्छ ।। ३३ ।।

अनुवादः—हे मेघ ! महादेवके कण्ठके समान कान्तिवाले होनेसे उनके गणोंसे आदरपूर्वक देखे जाते हुए तुम पद्मपरागोंके सुगन्धसे सम्पन्न और जलक्रीडामें तत्पर युवतियोंके चन्दन आदि पदार्थोंसे सुगन्धित गन्धवती नामकी नदीके

वायुसे कम्पित उद्यानवाले त्रिभुवनके स्वामी महादेवजीके महाकालनामक पवित्र स्थानको जाओ ॥ ३३ ॥

टिप्पणी--भर्तु: = भृ + तृच् । कण्ठच्छवि: = कण्ठस्येव छविर्यस्य स: यहाँ-पर "सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ" इस सूत्रमें "सप्तमी" पदसे ज्ञापित व्यधिकरण बहुव्रीहि समास हुआ है । "भर्तु:" इस पदका कण्ठपदमें सापेक्षता होनेपर भी गमक (वृत्ति और विग्रहमें समान प्रकारकी उपस्थिति) होनेसे "कण्ठच्छवि:" यहाँपर समास हुआ है । इति = यह हेत्वर्थक अव्यय है । सादरम् = आदरेण सहितं यथा तथा (तुल्ययोग-बहुव्रीहि:) यह क्रियाविशेषण है । वीक्ष्यमाण: = वीक्ष्यत इति वि + ईक्ष=लट् (शानच्) कर्मणि । लोकको रक्षाके लिए समुद्रके मथनेसे **उत्पन्न** कालकूट नामके महाविषको महादेवने भक्षण कर लिया था, जिससे उनका कण्ठ नीलवर्णवाला हो गया, अतः उनका नाम "नीलकण्ठ" पड़ गया । **कुवलयरजोगन्धिभि:** = कुवलयानां रजांसि (ष० त०) तेषां गन्ध: (ष० त०) सोऽस्ति **एषां ते** (कुवलयरजोगन्ध + इनि: =) कुवलयरजोगन्धिन:, तै: । **तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तै:** = तोये क्रीडा (स० त०), तस्यां निरता: (स० त०), ताश्च ता **युवतय:** (क० धा०) युवन् + ति: = युवति: । स्नाति अनेनेति स्नानं, स्ना + ल्युट् (करणे) । तोयक्रीडानिरतयुवतीनां स्नानं (ष० त०), तेन तिक्तास्तै: (तृ० त०) । "स्नानीयेऽभिषवे स्नानम्" इति यादव: । "कटुतिक्त-कषायास्तु सौरभे च प्रकीर्तिता: ।" इति हलायुध: । गन्धवत्या:=प्रशस्तो गन्धोऽस्ति यस्यास्तस्या:, गन्ध + मतुप् + ङीप् । मालव देशकी एक नदीका नाम "गन्धवती" है । धूतोद्यानं=धूतम् उद्यानं यस्मिस्तत्, तत् (बहु०) । धूञ् + क्त: (कर्मणि) =धूतम्, त्रिभुवनगुरो:=त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनम्, यहांपर "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इस सूत्रसे समास हुआ और उसकी "संख्यापूर्वो द्विगु:" इस सूत्रसे द्विगुसंज्ञा हुई, उत्तरपद अकाराऽन्त होनेसे स्त्रीत्वकी प्राप्ति थी पर भुवन शब्दका पात्रादि गणमें पाठ होनेसे "त्रिभुवन" शब्द नपुंसकलिङ्गी हुआ । त्रिभुवनस्य गुरुस्तस्य (ष० त०) । चण्डीश्वरस्य=चण्डया ईश्वरस्तस्य (ष० त०) । चण्डीश्वर कहनेसे यहांपर उज्जयिनी पुरीमें स्थित महाकालेश्वरमें अभिप्राय है । कहीं कहीं "चण्डेश्वरस्य" ऐसा भी पाठ मिलता है, उनमें चण्डस्य ईश्वर: ऐसा विग्रह करके षष्ठीतत्पुरुष समास करना चाहिए । चण्ड नामके गणके ईश्वर (स्वामी) यह अर्थ है । अथवा चण्डश्चासौ ईश्वर: ऐसा विग्रह करके कर्मधारय समास करना चाहिए । अत्यन्त कोपशील ईश्वर यह अर्थ है । याया: = "या प्रापणे" धातुका विध्यर्थक लिङ्का रूप है ।

इस श्लोकमें प्रसिद्ध नीलपदार्थ मेघके उपमेयत्वकी कल्पनासे प्रतीप अलङ्कार है ॥ ३३ ॥

अप्यन्यस्मिञ्जलधर ! महाकालमासाद्य काले
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः ।
कुर्वन्संध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया-
मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—हे जलधर! महाकालम् अन्यस्मिन् अपि काले आसाद्य यावत् भानुः नयनविषयम् अत्येति (तावत्) ते स्थातव्यम् । श्लाघनीयां शूलिनः सन्ध्याबलिपटहतां कुर्वन् आमन्द्राणां गर्जितानाम् अविकलं फलं लप्स्यसे ॥ ३४ ॥

व्याख्या—हे जलधर !=हे मेघ!, महाकालं=चण्डीश्वरस्थानम्, अन्यस्मिन् अपि=अपरस्मिन् अपि, सन्ध्याऽतिरिक्तेऽपीति भावः । काले=समये, आसाद्य=प्राप्य, यावत्=यावता कालेन, भानुः=सूर्यः, नयनविषयं=नेत्रपथम्, अत्येति=अतिक्रामति । (तावत्=तत्कालपर्यन्तम्) ते=त्वया, स्थातव्यं=स्थानीयम्, सूर्यास्तमयकालपर्यन्तं त्वया स्थातव्यमिति भावः । किमर्थमत आह—कुर्वन्निति । श्लाघनीयां प्रशंसनीयां, शूलिनः=शिवस्य, सन्ध्याबलिपटहतां=सायङ्कालिकपूजाऽऽनकत्वं, कुर्वन्=सम्पादयन्, त्वमिति शेषः । आमन्द्राणाम्=ईषद्गम्भीराणां, गर्जितानां=स्तनितानाम्, अविकलम्=अखण्डं, फलं=पुण्यं, लप्स्यसे=प्राप्स्यसि, महाकालेश्वरपूजापटहत्वेन विनियोगात्त्वद्गर्जितस्य साफल्यं स्यादिति भावः ॥ ३४ ॥

सरलार्थः—हे मेघ! सन्ध्याऽतिरिक्तायामपि वेलायां महाकालेश्वरं प्राप्तस्त्वं सूर्यास्तमयकालपर्यन्तं प्रतीक्षस्व । सन्ध्यायां शङ्करस्य पूजासमय ईषद्गम्भीरं गर्जंस्त्वं पटहभावं प्राप्य गर्जितानां समग्रं फलं प्राप्स्यसि ॥ ३४ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! सन्ध्याके अतिरिक्त कालमें भी तुम महाकालके मन्दिरको प्राप्त कर जब तक सूर्य अस्त नहीं होते हैं तब तक ठहरो । सन्ध्याकालमें महादेवकी पूजामें प्रशंसनीय नगाड़ेके कामको सम्पादित करते हुए तुम अपने कुछ गम्भीर गर्जनोंके अखण्ड फलको प्राप्त कर लोगे ॥ ३४ ॥

टिप्पणी—जलधर=धरतीति धरः, यहाँपर "धृञ् धारणे" धातुसे पचाद्यच् हुआ है, धृ+अच्=धरः । जलानां धरो जलधरस्तत्सम्बुद्धौ (ष० त०) । जलं धरतीति ऐसा विग्रह कर उपपद समास करेंगे तो "कर्मण्यम्" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय होकर "जलधार" ऐसा रूप बनेगा । महाकालम्=उज्जयिनीमें एक

पवित्र स्थानका नाम "महाकाल है, जिसमें महाकालेश्वर महादेवकी मूर्ति है। ये द्वादश ज्योतिर्लिङ्गोंमें अन्यतम हैं। कालिदासने रघुवंशमें भी इनकी चर्चाकी है। आसाद्य = आङ् + सद् + णिच् + क्त्वा (ल्यप्)। नयनविषयं = नयनयोर्विषयस्तम् (ष० त०)। अत्येति = अति + इण् + लट् + ति। ते="स्थातव्यम्" इस कृत्वप्रत्ययाऽन्त पदके योगसे "कृत्यानां कर्तरि वा" इस सूत्रसे षष्ठी हुई है, षष्ठीके वैकल्पिक होनेसे एक पक्षमें तृतीया भी होती हैं। युष्मद् और अस्मद् शब्दके "ते" "मे" आदि आदेश वाक्यके आदिमें नहीं होते हैं। यावत् = "यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे।" इत्यमरः। स्थातव्यम् = स्था + तव्यत्। श्लाघनीयां = श्लाघ + अनीयर्। शूलिनः=शूल + इनिः। सन्ध्याबलिपटहतां = सम्यग्ध्यायन्त्यस्यां सा सन्ध्या, "आतश्चोपसर्गे" इत्यङ्। सं ध्यै + अङ् + टाप् = सन्ध्या। सन्ध्यायां बलिः (स० त०)। पटहस्य भावः पटहता (पटह + तल् + टाप्)। सन्ध्यावलेः पटहता, ताम् (ष० त०)। कुर्वन् = कृ + लट् (शतृ)। आमन्द्राणाम् = ईषत् मन्द्राणि, आमन्द्राणि, तेषां "कुगतिप्रादय" इति समासः। गर्जितानि = गर्जनानि, "नपुंसके भावे क्त" इति क्तः (गर्ज + क्तः), तेषाम्। अविकलं = विगता कला यस्मात्तत् विकलं (बहु०), न विकलम् अविकलं, तत् (नञ्०)। लप्स्यसे = लभ् + लट् + थास् (से), इसमें पूर्वार्द्धस्थित स्थितिके प्रति उत्तरार्द्धस्थित वाक्यार्थके हेतु होनेसे काव्यलिङ्ग अलङ्कार है॥ ३४॥

पादन्यासैः क्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै-
रत्नच्छायाखचितबलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान् प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू-
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—तत्र पादन्यासैः क्वणितरशनाः लीलाऽवधूतैः रत्नच्छायाखचितवलिभिः चामरैः क्लान्तहस्ताः वेश्याः त्वत्तः नखपदसुखान् वर्षाऽग्रबिन्दून् प्राप्य त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान् कटाक्षान् आमोक्ष्यन्ते॥ ३५॥

व्याख्या—(हे मेघ!) तत्र=सन्ध्याकाले, पादन्यासैः=चरणनिक्षेपैः, क्वणितरशनाः=शब्दितमेखलाः, लीलाऽवधूतैः=विलासकम्पितैः, रत्नच्छायाखचितवलिभिः=कङ्कणमणिकान्तिरूषितदण्डैः, चामरैः=प्रकीर्णकैः, वालव्यजनैरित्यर्थः। क्लान्तहस्ताः=खिन्नकराः, वेश्याः=गणिकाः, महाकालेश्वरमुपेत्य नृत्यन्त्य इति शेषः। त्वत्तः=भवतः, नखपदसुखान्=नखरक्षतसुखकरान्, वर्षाऽग्रबिन्दून्=वृष्टि-

प्रथमबिन्दून् प्राप्य=आसाद्य, त्वयि=भवति, मधुकरश्रेणिदीर्घान्=भ्रमरपङ्क्तयायतान्, कटाक्षान्=अपाङ्गान्, आमोक्ष्यन्ते=परित्यक्ष्यन्ति, सकटाक्षं त्वां निरीक्षिष्यन्त इत्यर्थः "परैरुपकृताः सन्तः सद्यः प्रत्युपकुर्वत" इति स्मरणादिति भावः। कामिनीदर्शनीयत्वलक्षणं शिवाऽऽराधनफलं सद्यः प्राप्स्यसीति ध्वनिः ॥ ३५ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! उज्जयिन्यां सन्ध्यासमये महाकालनाथमुपेत्य नृत्यन्त्यो गणिकाः भवतो नखक्षतस्थानेषु सुखजनकान् वृष्टेः प्रथमबिन्दूननुभूय भवन्तं सकटाक्षं निरीक्षिष्यन्ते ॥ ३५ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! सन्ध्या समयमें महाकालके मन्दिरमें नृत्यके अवसरपर चरणन्यासोंमें जिनकी मेखलाएँ शब्द करती हैं, विलाससे कम्पित तथा रत्नोंसे खचित दण्डवाले चामरोंको लेनेसे जिनके हाथ थक गये हैं वैसी वेश्याएँ तुमसे नखक्षतवाले अङ्गोंको सुख देनेवाले, वृष्टिके प्रथम बिन्दुओंको पाकर भ्रमरोंकी पङ्क्तियोंके समान दीर्घ कटाक्षोंको तुमपर छोड़ेंगी ॥ ३५ ॥

टिप्पणी—पादन्यासैः=न्यसनानि न्यासाः, "भावे" इति घञ्। नि+अस्+घञ्=न्यासः। पादयोर्न्यासास्तैः (ष० त०)। करणे तृतीया। क्वणितरशनाः=क्वणिता रशना यासां ताः (बहु०)। क्वण+क्तः (कर्तरि)+टाप्=क्वणिता। यहाँपर "क्वण" धातुके अकर्मक होनेसे "गत्यर्थाऽकर्मकश्लिषशीङ्स्थाऽऽसवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च" सूत्रसे कर्त्तामें क्त प्रत्यथ हुआ। लीलाऽवधूतैः=लीलया अवधूतानि, तैः (तृ० त०)। अव+धूञ्+क्तः=अवधूतम्। रत्नच्छायाखचितबलिभिः=रत्नानां छाया (ष० त०) यहाँपर "विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्" इस सूत्रके वैकल्पिक होनेसे नपुंसकलिङ्ग नहीं हुआ। रत्नच्छायया खचिता (तृ० त०), खच्+क्तः (कर्मणि)+खचिताः। रत्नच्छायाखचिता बलयो येषां तानि, तैः (बहु०)। "बलिश्चामरदण्डे च जराविश्लथचर्मणि।" इति विश्वः। क्लान्तहस्ताः=क्लान्ता हस्ता यासां ताः (बहु०)। क्लम्+क्तः=क्लान्तः। नृत्योंके अनेक भेद होते हैं, यहाँपर हाथमें चँवर लेकर नृत्य करनेके कारण यह देशिक नृत्य है, जैसे कि 'नृत्यसर्वस्व' में लिखा गया है:—

"खड्गकन्दुकवस्त्रादिदण्डिकाचामरस्रजः ।
वीणां च धृत्वा यत्कुर्युर्नृत्यं तद्देशिकं भवेत् ॥"

अर्थात् हाथमें खड्ग, कन्दुक (गेंद), वस्त्र आदि, दण्डिका (छोटादण्ड), चामर, फूलोंकी माला अथवा वीणाको लेकर जो नृत्य किया जाता है उसे "देशिक" कहते हैं। देश्याः=वेशेन (नेपथ्येन) शोभन्त इति "कर्मवेशाद्यत्"

इति यत् । वेश + यत् + टाप् = वेश्या । त्वत्तः=त्वदिति "पञ्चम्यास्तसिल्" इस सूत्रसे युष्मद्-शब्दसे तसिल् प्रत्यय और उसके परे रहते युष्मद् शब्दके स्थानमें "प्रत्ययोत्तरपदयोश्च" इस सूत्रसे "त्वत्" आदेश हुआ है । नखपदसुखान् = नखानां पदानि (ष० त०) । यहाँपर नखपदसे नखक्षत रूप अर्थमें लक्षणा होती है । पदका अर्थ हुआ स्थान अर्थात् नखक्षतवाले अङ्ग । सुखयन्तीति सुखाः, सुख + अच् + (पचाद्यच्) । "सुखहेतौ सुखे सुखम्" इति शब्दार्णवः । नखपदेषु सुखास्तान् (स० त०) । वर्षाऽग्रविन्दून् = अग्राश्च ते विन्दवः (क० धा०), वर्षस्याग्रविन्दवस्तान् (ष० त०) । प्राप्य = प्र + आप् + क्त्वा (ल्यप्) । मधुकरश्रेणिदीर्घान् = मधु कुर्वन्तीति तच्छीलाः "कृञो हेतुताच्छील्याऽऽनुलोम्येषु" इति ताच्छील्ये टः । मधु + कृ + ट + जस् = मधुकराः । मधुकराणां श्रेणयः (ष० त०), ता इव दीर्घास्तान् । "उपमानानि सामान्यवचनैः" इति समासः । कटाक्षान् = कटम् (गण्डम्) अक्षन्ति (व्याप्नुवन्ति) इति कटाक्षास्तान् "कर्मण्यण्" इति अण्, कट + अक्ष + अण् = जस् = कटाक्षाः "कटाक्षोऽपाङ्गदर्शने" इत्यमरः । आमोक्ष्यन्ते=आङ् + मुच् + लृट् + झ । इस श्लोकमें "मधुकरश्रेणिदीर्घान्" इस समस्त पदपर लुप्तोपमा अलङ्कार है ॥३५॥

पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः
सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः ।
नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या ॥ ३६ ॥

अन्वयः—पश्चात् नृत्याऽऽरम्भे प्रतिनवजपापुष्परक्तं सान्ध्यं तेजो दधानः उच्चैः भुजतरुवनं मण्डलेन अभिलीनो भवान्या शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिः (सन्) पशुपते आर्द्रनागाजिनेच्छां हर ॥ ३६ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) पश्चात्=सन्ध्यापूजाऽनन्तरं, नृत्याऽऽरम्भे = ताण्डवोपक्रमे पशुपतेरिति शेषः । प्रतिनवजपापुष्परक्तं=नूतनजपाकुसुमाऽरुणं, सान्ध्यं= सायङ्कालिकं, तेजः = प्रकाशं, दधानः = धारयन्, उच्चैः = उन्नतं, भुजतरुवनं= वाहुवृक्षाऽरण्यं, मण्डलेन = मण्डलाऽऽकारेण, अभिलीनः=अभिव्याप्तः सन्, भवान्या = भवपत्न्या, शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं = व्यतीतभयनिश्चललोचनं यथा तथा, दृष्टभक्तिः = अवलोकितपूज्याऽनुरागः सन्, पशुपतेः = शिवस्य, आर्द्रनागाऽजिनेच्छां = शोणितक्लिन्नगजचर्माऽभिलाषं, हर=निवर्तय, त्वमेव तत्स्थानस्थितो भवेति भावः ॥ ३६ ॥

सरलार्थः—हे मेघ ! सन्ध्यापूजाऽनन्तरं शिवताण्डवसमये सायङ्कालिकमरुणं तेजो धारयन् शिवस्योन्नतं बाहुवृक्षवनं मण्डलाऽऽकारेण व्याप्य शिवस्य शोणितक्लिन्नगजचर्माऽभिलाषं निवर्तय, तस्मिन्समये देवी भवानी गजाऽसुरचर्मदर्शनभयस्याऽपनयेन त्वदीयां भक्तिं द्रक्ष्यति ॥ ३६ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! सन्ध्यामें पूजाके अनन्तर शिवजीके नृत्यके आरम्भमें नये जपापुष्पके समान लाल सन्ध्याकालके तेजको धारण करते हुए शिवजीके ऊँचे बाहुवनको मण्डलाकारसे व्याप्त करते हुए तथा गजाऽसुरके चर्मको देखनेसे उत्पन्न भयके हट जानेसे पार्वतीसे निश्चल नेत्रोंसे जिसकी भक्ति देखी जाती है ऐसे तुम गजासुरके आर्द्र चर्मको धारण करनेकी शिवजीकी इच्छाको पूर्ण करो ॥३६॥

टिप्पणी–पश्चात्=अपरस्मिन् (काले) ऐसा विग्रह कर "पश्चात्" इस सूत्रसे अपर शब्दके स्थानमें पश्च आदेश और आति प्रत्ययका निपातन होकर "पश्चात्" शब्द बन जाता है। यह अव्यय है। नृत्याऽऽरम्भे=नृत्यस्य आरम्भस्तस्मिन् (ष० त०)। प्रतिनवजपापुष्परक्तं=प्रतिनवं च तत् जपापुष्पं (क० धा०)। तदिव रक्तम् (उपमानक० धा०)। सान्ध्यं=सन्ध्यायां भवं, "तत्र भव" इत्यण्, सन्ध्या + अण्। दधानः=धत्त इति, धा + लट् + शानच्। उच्चैः=यह अव्यय है अतः इसकी सुप् विभक्तिका "अव्ययादाप्सुपः" इस सूत्रसे लुक् होता है। भुजतरुवनं=भुजा एव तरवः (रूपक०)। भुजतरूणां वनं, तत् (ष० त०)। अभिलीनः=अभि + ली + क्तः (कर्तरि)। भवान्या=भवस्य पत्नी भवानी, तया 'इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमाऽरण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक्" इस सूत्रसे भवशब्दसे ङीप् प्रत्यय और आनुक् आगम हुआ है। शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं=शान्त उद्वेगो ययोस्ते शान्तोद्वेगे (बहु०)। शम् + क्तः (कर्तरि)=शान्तः। उद् + विज् + घञ्=उद्वेगः। शान्तोद्वेगे (अत एव) स्तिमिते नयने यस्मिन् (कर्मणि) तद् यथा तथा (बहु०)। यह क्रियाविशेषण है। दृष्टभक्तिः=दृष्टं भक्तिर्यस्य सः (बहु०), "सामान्ये नपुसकम्" इस सूत्रसे दृष्टपदमें नपुंसकलिङ्गता हुई। दृष्टा भक्तिर्यस्य सः ऐसा विग्रह करेंगे तो "स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाऽधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु" इस सूत्रमें "अपूरणीप्रियादिषु" कहा है, पर प्रिया आदि गणोंमें पठित भक्ति शब्दका पाठ होनेसे यहांपर "दृष्टा" पदका पुंवद्भाव नहीं होगा; और "दृष्टाभक्तिः" ऐसा रूप बनेगा जो कि अभीष्ट नहीं है।

रघुवंशमें भी "दृढभक्तिः" इस पदमें महोपाध्याय मल्लिनाथजीने इसी प्रकारसे

समाधान किया है । पशुपतेः=पशूनां पतिस्तस्य (ष० त०), यहाँपर "पतिः समास एव" इस नियमके अनुसार पति शब्दको समासमें घिसंज्ञा होनेसे पशुपति शब्दके रूप हरिशब्दके समान होते हैं । यहाँपर पशु शब्दसे सामान्य पशु विवक्षित नहीं है । शैव दर्शनमें पदार्थके तीन भेद हैं—पशु, पाश और पति । अविद्यापाशसे बद्ध जीवात्माको "पशु", पाशके समान बन्धन करनेके कारण अविद्याको "पाश" और अविद्यापाशसे मुक्त भगवान् शिवजीको "पति" कहते हैं । यहाँपर अविद्यापाशसे बद्ध पशुओंके भोग और अपवर्गके अधिष्ठाता भगवान् शङ्कर "पशुपति" शब्दसे विवक्षित हैं । आर्द्रनागाऽजिनेच्छाम्=नागस्याऽजिनम् (ष० त०) । आर्द्रं च तत् नागाजिनं (क० धा०), तस्य इच्छा, ताम् (ष० त०) "अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्री" इत्यमरः । हर=हृ+लोट्+सिप् गजाऽसुरका संहार करनेके अनन्तर भगवान् शिवजीने उसके आर्द्र चर्मको बाहुमण्डलसे धारण करके ताण्डव नृत्य किया था, इसी प्रसिद्धिका यहाँपर प्रदर्शन किया है । इस श्लोकमें "भुजतरुवनम्" यहाँपर भुजमें तरुका आरोप करनेसे रूपक अलङ्कार, "प्रतिनवजपापुष्परक्तम्" इस समस्त पदमें लुप्तोपमा, सन्ध्याके तेजको मेघके धारण करनेसे असंभवद्वस्तुसम्बन्धा निदर्शना इन तीन अलङ्कारोंकी निरपेक्षतया स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार हुआ है ॥ ३६ ॥

गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः ।
सौदामन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीं
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लवास्ताः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—तत्र नक्तं रमणवसतिं गच्छन्तीनां योषितां सूचिभेद्यैः तमोभिः रुद्धालोके नरपतिपथे कनकनिकषस्निग्धया सौदामन्या उर्वीं दर्शय । तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मास्म भूः, ताः विक्लवाः ॥ ३७ ॥

व्याख्या—इत्थं महाकालेश्वरस्य परिचरणप्रकारमभिधाय पुनरपि पुरसंचरणप्रकारमाह—गच्छन्तीनामिति । (हे मेघ !) तत्र=उज्जयिन्यां, नक्तं=रात्रौ, रमणवसतिं=प्रियभवनं, गच्छन्तीनां=व्रजन्तीनां, योषितां=स्त्रीणाम्, अभिसारिकाणामिति भावः । सूचिभेद्यैः=सूचिभेदनीयैः, निबिडैरिति भावः । तमोभिः=अन्धकारैः, रुद्धालोके=आवृतदृष्टिप्रसारे, नरपतिपथे=राजमार्गे, कनकनिकषस्निग्धया=सुवर्णशाणरेखातेजसा, सौदामन्या=विद्युता, उर्वीं=पृथिवीं, मार्गमिति भावः । दर्शय=आलोकय । तोयोत्सर्गस्तनितमुखरः=वृष्टिगर्जितशब्दाय-

मानः, मा स्म भूः=ना भव, कुत इत्यत आह–विक्लवास्ता इति। ताः=योषितः विक्लवाः=विह्वलाः,भयादिति शेषः। ततो दृष्टिगर्जिते न कार्ये इत्यर्थः ।। ३७ ।।

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! उज्जयिन्यां रात्रौ कान्तभवनं यान्तीनामभिसारिकाणां निबिडैरन्धकारै राजमार्गे दृष्टिसंचाररहिते सति विद्युत्प्रकाशेन मार्गं दर्शय; यतस्ता भीरवस्ततो वृष्टिगर्जिते न कार्ये ।। ३७ ।।

अनुवादः—हे मेघ ! उज्जयिनीमें रातको कान्तके भवनको जाती हुई अभिसारिकाओंके राजमार्ग जब गाढ़ अन्धकारसे प्रकाशहीन होगा तब सोना जाँचनेकी कसौटीकी रेखाके समान तेजवाली बिजलीसे मार्ग दिखलाओ। जलकी वृष्टि और गर्जनसे शब्दशील मत बनो, क्योंकि वे डरपोक होती हैं ।। ३७ ।।

टिप्पणी—नक्तम्=यह अव्यय है। रमणवसतिं=रमयतीति रमणः, रम्=णिच् + ल्युः (कर्तरि)। रमणस्य वसतिस्ताम् (ष० त०), गच्छन्तीनां=गम् + लट् (शतृ) + ङीप्। सूचिभेद्यैः=भेत्तुं योग्यानि भेद्यानि, भिद् + ण्यत्। सूच्या भेद्यानि, तैः (तृ० त०)। गाढ अन्धकारको सूचिभेद्य कहना कवियोंकी प्रसिद्धिके अनुसार है। रुद्धाऽऽलोके=रुद्ध आलोको यस्मिंस्तस्मिन् (बहु०)। रुध् + क्तः =रुद्धः। आङ् + लोक् + घञ्=आलोकः। नरपतिपथे=नराणां पतिः (ष० त०)। नरपतेः पन्था नरपतिपथस्तस्मिन् (ष० त०)। यहाँपर नरपतिपथिन् शब्दसे "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" इस सूत्रसे समासान्त "अ" प्रत्यय हो गया हैं। कनकनिकषस्निग्धया=निकष्यत इति निकषः, नि + कष्+अच्। इस व्युत्पत्तिसे निकष शब्दका अर्थ यहाँपर सोना जांचनेकी कसौटीकी रेखा ऐसा अर्थ होता है। कनकस्य निकषः (ष० त०), तस्य इव स्निग्धं (तेजः) यस्यास्तया (व्यधिकरण-बहु०) "स्निग्धं तु मसृणं सान्द्रे रम्ये क्लीबे च तेजसि।" इति शब्दार्णवः। सौदामन्या=सुदाम्ना अद्रिणा एकदिक् सौदामनी, तया "तेनैकदिक्"इत्यण् प्रत्ययः। सुदामन्=अण् + ङीप्=सौदामनी।"तडित्सौदामनी विद्युच्चञ्चला चपला अपि।"इत्यमरः। दर्शय=दृश् + णिच् + लोट् + सिप्। तोयोत्सर्गस्तनितमुखरः=उत्सर्जनम् उत्सर्गः, उद् + सृज + घञ् (भावे)। स्तननं स्तनितं, स्तन + क्तः, "नपुंसके भावे क्तः"। तोयोत्सर्गश्च स्तनितं च तोयोत्सर्गस्तनिते (द्वन्द्वः)। यहाँपर "अल्पाऽच्तरम्" इस नियमके अनुसार अल्पाच् होनेसे स्तनित शब्दका पूर्वनिपात होना इष्ट था परन्तु "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः"इस सूत्रमें अल्पाऽच् होनेसे हेतु शब्दका पूर्वनिपात इष्ट होनेपर भी अधिकाऽच् लक्षण शब्दका पूर्वनिपात देखनेसे पूर्वनिपात करनेवाले शास्त्रकी अनित्यता ज्ञापित होती है। मुखम् अस्ति यस्य स मुखरः "रप्रकरणे

खमुखकुञ्जेभ्य उपसंख्यानम्"इति रः। मुख + रः। तोयोत्सर्गस्तनिताभ्यां मुखरः (तृ० त०)। मा स्म भूः = "स्मोत्तरे लङ् च" इससे माङ्के बाद उत्तरपद "स्म"के परे रहते लङ् और "च"का पाठ होनेसे सर्वलकाराऽपवादी लुङ् भी होता है। प्रकृतके लुङ् हुआ है, "न माङ्योगे" इससे अट् आगमका निषेध हुआ। इस श्लोकमें "कनकनिकषस्निग्धया" इस पदमें लुप्तोपमा और मुखरत्वनिषेधके प्रति "विक्लवास्ताः" इस वाक्यार्थकी हेतुता होनेसे वाक्याऽर्थहेतुक काव्यलिङ्ग इस प्रकार इन दोनों अलङ्कारोंकी संसृष्टि हुई ॥ ३७ ॥

तां कस्यांचिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः।
दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान् वाहयेदध्वशेषं
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—चिरविलसनात् खिन्नविद्युत्कलत्रः भवान् सुप्तपारावतायां कस्यांचित् भवनवलभौ तां रात्रिं नीत्वा सूर्ये दृष्टे (सति) पुनरपि अध्वशेषं वाहयेत्; (तथा हि) सुहृदाम् अभ्युपेताऽर्थकृत्याः न मन्दायन्ते खलु ॥ ३८ ॥

व्याख्या—चिरविलसनात् = बहुसभयस्फुरणात्, खिन्नविद्युत्कलत्रः=क्लान्तसौदामनीभार्यः, भवान् = त्वं, सुप्तपारावतायां=निद्राणकपोतायां, विविक्तायामित्यर्थः। कस्यांचित् = कुत्रचित्, भवनवलभौ = गृहाच्छादनोपरिभागे, तां, रात्रिं = रजनीं, नीत्वा = यापयित्वा, सूर्ये = भास्करे, दृष्टे = अवलोकिते, सूर्ये उदिते सतीत्यर्थः। पुनरपि = भूयोऽपि, अध्वशेषं = मार्गशेषं, वाहयेत् = प्राप्नुयात्. उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति—मन्दायन्त इति। तथा हि—सुहृदां= मित्राणाम्, अभ्युपेताऽर्थकृत्याः = अङ्गीकृतप्रयोजनकार्याः, जना इति शेषः। न मन्दायन्ते = मन्दा न भवन्ति, खलु = निश्चयेन, सज्जना मित्रकृत्यसम्पादने न विलम्बन्त इति भावः ॥ ३८ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! उज्जयिन्यां बहुसमयपर्यन्तं स्फुरणात् क्लान्ततडिद्भार्यस्त्वं विविक्ते कस्मिंश्चिद्गृहाच्छादनोपरिभागे तां रात्रिं यापयित्वा सूर्योदये सति भूयोऽपि मार्गशेषं प्राप्नुयाः, यतो मित्राणामभीष्टकृत्यं स्वीकृत्य जना न विलम्बन्ते खलु ॥ ३८ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! बहुत समयतक चमकनेसे परिश्रान्त बिजली रूप पत्नीवाले आप सोये हुए कबूतरोंसे युक्त किसी घरकी छतपर उस रातको बिताकर

सूर्योदयके अनन्तर फिर भी शेष मार्गको पार करें, क्योंकि मित्रके कार्यको अङ्गीकार करनेवाले सज्जन बिलम्ब नहीं करते हैं ॥ ३८ ॥

टिप्पणी—चिरविलसनात्=चिरं विलसनं, तस्मात् (सुप्सुपा समासः)। हेतौ पञ्चमी । वि+लस्+ल्युट्=विलसनम् । विलसन पदका अर्थ चमकना और विलास करना है । खिन्नविद्युत्कलत्रः=विद्योतत इति विद्युत्, वि+द्युत् +क्विप् । विद्युदेव कलत्रम् (रूपकसमासः)। खिद्+क्तः (कर्तरि)=खिन्नम् । खिन्नं विद्युत्कलत्रं यस्य सः (बहु०)। भवान्=भातीति, भा+डवतुः । सुप्तपारावतायां=सुप्ताः पारावता यस्यां, तस्याम् (बहु०)। स्वप्+क्तः= सुप्तः । "पारावतः कलरवः कपोतः" इत्यमरः । भवनवलभौ=भवनस्य वलभिः, तस्याम् (ष० त०)। "आच्छादनं स्याद्वलभी गृहाणाम्" इति हलायुधः। नीत्वा=नी+क्त्वा । सूर्ये=सरति आकाश इति सूर्यः, तस्मिन् "राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याऽव्यथ्याः" इस सूत्रसे सृधातुमे क्यप् प्रत्यय और ऊत्वका निपातन हुआ है, सृ+क्यप् । अथवा सुवति=कर्मणि लोकं प्रेरयतीति सूर्यः, तस्मिन्, पूर्वोक्त सूत्रसे ही "षू प्रेरणे" इस तुदादिधातुसे क्यप् प्रत्यय और रुट्का निपातन होकर सूर्यपदकी सिद्धि होती है। दृष्टे=दृश्+क्तः। भावे सप्तमी। अध्वशेषम्=अध्वनः शेषस्तम् (ष० त०)। वाहयेत्=वह=णिच्+विधिलिङ्। सुहृदां=शोभनं हृदयं येषां ते सुहृदः, तेषाम् (बहु०)। "सुहृद्दुर्हृदौ मित्राऽमित्रयोः" इस सूत्रसे सु और दुर् उपसर्गसे परवर्ती हृदयके स्थानमें क्रमसे मित्र और अमित्रके अर्थमें हृद् आदेश होता है। सुहृत्=मित्र और दुर्हृत्=शत्रु। वास्तवमें "चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः ।" इस कोश-वचनके आधारपर "हृद्" शब्द जब हुई है तो फिर इतने प्रपञ्चकी क्या आवश्यकता है? अभ्युपेतार्थकृत्याः=करणं कृत्या, "डुकृञ् करणे" इस धातुसे "कृञः श च" इस सूत्रमें चकारके पाठसे क्यप् प्रत्यय हो गया है, "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" इससे तुक् आगम भी हुआ हैं। कृ+क्यप्+टाप् । अर्थस्य कृत्वा (ष० त०)। अभ्युपेता अर्थकृत्या यैस्ते (बहु०)। अभि+उप+इण्+क्तः+टाप्=अभ्युपेता। यहाँपर "सुहृदाम्" इस पदके साथ "अभ्युपेत" शब्दकी साऽपेक्षता होनेपर भी गमकत्वके कारण समास हुआ है। "कृत्या क्रियादेवतयोस्त्रिषु भेद्ये धनादिभिः।" इत्यमरः। मन्दायन्ते="मन्दा भवन्तीति" ऐसा विग्रह कर "लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्" इस सूत्रके अनुसार मन्दशब्दसे क्यष् प्रत्यय होकर "वा क्यषः" इससे वैकल्पिक आत्मनेपद हुआ है। मन्द=क्यष्+लट्+झ । एक पक्षमें "मन्दायन्ति"

ऐसा रूप भी बनता है। खलु = निश्चयार्थक अव्यय है। भर्तृहरिने भी ऐसे ही भावका श्लोक लिखा है—"प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति।" इस श्लोक में विद्युत्में कलत्रका आरोप शाब्द और मेघमें विद्युत्के पतित्वका आरोप आर्थ होकर एकदेशविवर्ति रूपक और सामान्यसे विशेषका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है, दोनों अलङ्कारोंमें अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार हुआ है ॥ ३८ ॥

तस्मिन्काले नयनसलिलं योषितां खण्डितानां
शान्ति नेयं प्रणयिभिरतो वर्त्म भानोस्त्यजाशु ।
प्रालेयास्रं कमलवदनात्सोऽपि हर्तुं नलिन्याः
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—तस्मिन् काले प्रणयिभिः खण्डितानां योषितां नयनसलिलं शान्ति नेयम्, अतो भानोः वर्त्म आशु त्यज। सोऽपि नलिन्याः कमलवदनात् प्रालेयाऽस्रं हर्तुं प्रत्यावृत्तः (सन्) त्वयि कररुधि अनल्पाऽभ्यसूयः स्यात् ॥ ३९ ॥

व्याख्या—तस्मिन्=पूर्वोक्ते, काले=समये, सूर्योदयवेलायामित्यर्थः। प्रणयिभिः वल्लभैः, खण्डितानां=नायिकाविशेषाणां, नयनसलिलम्=अश्रु, शान्ति=शमं, नेयं=नेतव्यं, कान्तैः खण्डितानां कान्तानामनुनयेन नयनजलं दूरीकरणीयमिति भावः। अतः=अस्मात् कारणात्, भानोः=सूर्यस्य, वर्त्म=मार्गम्, आशु=शीघ्रं, त्यज=मुञ्च, तस्याऽऽवरको मा भूरिति भावः। सूर्यमार्गाऽऽवरणेऽनिष्टमाह—प्रालेयास्रमिति। सोऽपि=भानुरपि, नलिन्याः=पद्मिन्याः, स्वकान्ताया इति भावः। कमलवदनात्=पद्ममुखात्, प्रालेयाऽस्रं=हिमरूपम् अश्रु, हर्तुं=शमयितुं, प्रत्यावृत्तः=प्रत्यागतः सन्, त्वयि=भवति, कररुधि=किरणरोधके, हस्तरोधके सतीति च गम्यते। अनल्पाऽभ्यसूयः=अधिकेर्ष्यः, स्यात्=भवेत्, कामिनां कामव्याघातात्प्रायेण द्वेषो रोषविशेषश्च भवतीति भावः ॥ ३९ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ! सूर्योदयसमये कान्तैः खण्डितानां कान्तानां नयनजलं शमनीयमतो भानुमार्गं शीघ्रं परिहर। सोऽपि स्वनायिकायाः कमलिन्याः कमलरूपान्मुखाद्धिमरूपमश्रु निवारयितुं प्रत्यागतस्तदा त्वयि तस्य कररोधके सति प्रचुरप्रद्वेषो भवेत् ॥ ३९ ॥

अनुवादः—हे मेघ! सूर्योदयके समयमें प्रणयी जनोंको खण्डिता नायिकाओंके आँसूका शमन करना चाहिए, इस कारण तुम सूर्यके मार्गको शीघ्र छोड़ो। वे भी

कमलिनीके कमलरूप मुखसे हिमरूप आँसूको हटानेके लिए आयेंगे। उस समय तुमसे किरणरूप हाथके रोके जानेपर वे अधिक ईर्ष्यावाले होंगे ॥ ३९ ॥

टिप्पणी—प्रणयिभिः=प्रणय+इनिः। खण्डितानां=खण्ड+क्तः। आठ प्रकारकी नायिकाओंमें खण्डिता भी अन्यतम नायिका है। मेघदूतके पूर्वमेघस्थ इकतीसवें श्लोकमें इसका लक्षण लिख चुके हैं। नयनसलिलं=नयनयोः सलिलम् (ष० त०) नी धातुके द्विकर्मक होनेसे "नयनसलिलम्" मुख्यकर्म और "शान्तिम्" गौणकर्म है। शान्ति=शम्+क्तिन्। नेयं=नी+यत्। अतः=इदम्+तसिल्। आशु=यह अवश्य है और त्याग क्रियाका विशेषण है। नलिन्याः=नलानि (कमलानि) यस्याः सन्तीति नलिनी, तस्याः। नल+इनि+ङीप्। "तृणेऽम्वुजे नलं, ना तु राज्ञि, नाले तु न स्त्रियाम्।" इति शब्दार्णवः। सूर्यके अस्ताचलमें दूसरी नलिनीके पास जानेमें नलिनी यहाँपर खण्डिता नायिका मानी गई है। कमलवदनात्=कमलमेव वदनं, तस्मात्(रूपकसमासः, अपादाने पञ्चमी)। प्रालेयाऽस्र=प्रलीयन्ते पदाऽर्था अस्मिन्निति प्रलयः, "एरच्" इत्यच्। प्र+ली+अच्=प्रलयः। जिसमें पदाऽर्थ लीन हो जाते हैं वह "प्रलय" अर्थात् हिमालय पर्वत है। प्रलयात् आगतं प्रालेयं, "तत आगत" इत्यण्। "केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरियः" इति यादेरियः। प्रलय+अण्=प्रालेयम्। प्रालेयम् एव अस्रं, तत् (रूपकसमासः)। हर्तुं=हृञ्+तुमुन्। प्रत्यावृत्तः=प्रति+आङ्+वृत्+क्तः। कररुधि=करान् (अंशून्) करं (हस्तम्) वा रुणद्धीति कररुत्, तस्मिन्। कर+रुध्+क्विप्=कररुध्। अनल्पाऽभ्यसूयः=न अल्पा अनल्पा (नञ्०)। अनल्पा अभ्यसूया यस्य सः (बहु०)। नलिनीके पास बढ़ाये हुए सूर्यके करको रोकनेसे सूर्य बहुत ईर्ष्याऽन्वित होंगे तथा उनके विद्वेषसे कल्याणका नाश और रौरव नरककी प्राप्ति होगी। इस श्लोकमें भानुके वर्त्म-त्यागके प्रति उत्तरार्द्धका वाक्यार्थ हेतु है इस लिए वाक्याऽर्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलंकार है और लिङ्ग-साम्यसे नलिनी और सूर्यमें नायिका और नायकके व्यवहारका आरोप होनेसे समासोक्ति है और "कररुधि" इस पदमें स्थित "कर" शब्दमें श्लेश है इसलिए इनमें अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलंकार हो गया है ॥३९॥

गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने
छायात्मापि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम्।
तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्या-
न्मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि ॥ ४० ॥

अन्वयः—गम्भीरायाः सरितः चेतसि इव प्रसन्ने पयसि प्रकृतिसुभगः ते छायाऽऽत्मा अपि प्रवेशं लप्स्यते ! तस्मात् अस्याः कुमुदविशदानि चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि त्वं धैर्यात् मोघीकर्तुं न अर्हसि ॥ ४० ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) गम्भीरायाः=तन्नाम्न्याः, सरितः=नद्याः, उदात्तनायिकायाश्चेति गम्यते । चेतसि इव=मानस इव, प्रसन्ने=अतिनिर्मले, अनुरक्तत्वाद्दोपरहिते च, पयसि=जले, प्रकृतिसुभगः=स्वभावसुन्दरः, ते=तव, छायाऽऽत्मा अपि=प्रतिबिम्बशरीरम् अपि, अपिशब्दात्प्रवेशमनिच्छोरपीति भावः। प्रवेशं=निवेशं, लप्स्यते=प्राप्स्यति । तस्मात्=कारणात्, छायाद्वाराऽपि त्वत्प्रवेशाऽवश्यम्भावित्वादिति भावः । अस्याः=गम्भीरायाः, कुमुदविशदानि=कैरवधवलानि, चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि=चञ्चलमीनोल्लुण्ठनाऽवलोकनानि, त्वं, धैर्यात्=धीरत्वाद्धेतोः मोघीकर्तुं=निष्फलीकर्तुं, न अर्हसि=न योग्यो भवसि, अनुरक्ता न वञ्चनीयेति भावः ॥ ४० ॥

सरलाऽर्थः—अतिनिर्मले जलेऽनिच्छयाऽपि छायारूपेण प्रविष्टं त्वां गम्भीरा नदी काचिदुदात्तनायिकेव चञ्चलमीनोल्लुण्ठनरूपैरवलोकनैरवलोकयिष्यति । त्वमपि धैर्यमाश्रित्य तद्विलोकनं मोघीकर्तुं न योग्योऽसि ॥ ४० ॥

अनुवादः—हे मेघ ! प्रसन्न चित्तके समान गम्भीरा नामकी नदीके निर्मल जलमें स्वभावसे सुन्दर तुम्हारा छायारूप प्रतिबिम्ब (परछांही) भी प्रवेशको प्राप्त करेगा । इस कारणसे कुमुदोंके सदृश उज्ज्वल और चञ्चल मछलियोंके उद्वर्तनोंके समान गम्भीरा नदीके निरीक्षणोंको तुम धैर्य लेकर निष्फल करनेके लिए योग्य नहीं हो ॥ ४० ॥

टिप्पणी—गम्भीरायः=मालव देशमें बहनेवाली एक नदीका नाम गम्भीरा है । कोई उदात्त नायिका भी ध्वनित होती है ।

प्रसन्ने=प्र+सद्+क्तः । प्रकृतिसुभगः=प्रकृत्या सुभगः, "प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्" इति तृतीया, ततस्तृतीयातत्पुरुषः । प्र+कृ+क्तिन्=प्रकृतिः । "सुन्दरेऽधिकभाग्ये च दुर्दिनेतरवासरे । तुरीयांऽशे श्रीमति च सुभगः" इति शब्दार्णवः । छायाऽऽत्मा=छाया चाऽसौ आत्मा (क० धा०) । प्रवेशं=प्र+विश्+घञ् । लप्स्यते=लभ्+लृट्+स्य+त । तस्मात्=हेतौ पञ्चमी । कुमुदविशदानि=कुमुदानि इव विशदानि, तानि, उपमानानि सामान्यवचनैः" इति समासः । इस पदमें "कुमुदवद्विशदानि" महोपाध्याय मल्लिनाथके इस विग्रहका विद्याविनोद सारदारञ्जन रायने खण्डन किया है । उनका कहना है कि मल्लि-

नाथजीके इस विग्रहमें "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः" इस सूत्रसे वति प्रत्यय हुआ है, अतः यहाँ क्रियाके न होनेसे यह प्रयोग अशुद्ध है। वास्तवमें यहाँपर रायजीकी राय ही ठीक नहीं है, महोपाध्यायजीने "कुमुदवत्" इस विग्रहमें वति प्रत्यय पूर्वोक्त सूत्रसे नहीं किया है बल्कि "तत्र तस्येव" इस सूत्रके अनुसार किया है। कुमुदेषु कुमुदानामिव कुमुदवत् अर्थात् कुमुदोंमे अथवा कुमुदोंके समान यहाँपर वति-प्रत्ययान्त पदका यह विग्रह है। "तत्र तस्येव" इस सूत्रमें पूर्वसूत्रसे "क्रिया"-की अनुवृत्ति नहीं होती है, अतः महोपाध्यायजीका विग्रह सर्वथा उपपन्न है।

चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि = शफराणामुद्वर्तनानि (ष० त०)। उद् + वृत् + ल्युट् = उद्वर्तनानि। चटुलानि च तानि शफरोद्वर्तनानि (क० धा०)। चटुलशफरोद्वर्तनान्येव प्रेक्षिताजि, तानि (रूपक०)। प्र + ईक्ष + क्तः (भावे)= प्रेक्षितम्। धैर्यात् = धीरस्य भावः कर्म वा धैर्यं, तस्मात्, धीर + ष्यञ्, यहाँपर "आश्रित्य" इस ल्यप् प्रत्ययाऽन्त पदका लोप होनेभर "ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च" इस वार्तिकसे पञ्चमी हुई है। यहाँपर धैर्यका मल्लिनाथजीने धार्ष्टर्य अर्थ जो किया है दह मूल पद धीरके अर्थके अनुरूप नहीं है, और उन्होंने अपने अर्थके उपादानके लिए किसी कोषान्तरका भी प्रमाण नहीं दिया है। मोघीकर्तुम् = अमोघानि मोघानि यथा सम्पद्यन्ते तथा कर्तुम्, मोघ + च्विः (अभूततद्भावे) कृ + तुमुन्। अर्हसि = अर्ह + लट् + सिप्। इस श्लोकमें "पयः"का "चेतः"के साथ प्रेक्षितोंका कुमुदोंके साथ सादृश्य होनेसे उपमा शाब्द और गम्भीराका नायिकाके साथ सादृश्य अर्थ होनेसे यह एकदेशविवर्तिनी उपमा हुई और "कुमुदविशदानि" इस पदमें लुप्तोपमा और उद्वर्तनोंमें प्रेक्षितोंका आरोप होनेसे रूपक, इस प्रकार इनका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ४० ॥

तस्याः किंचित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
नीत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधो नितम्बम्।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे ! लम्बमानस्य भावि
ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—हे सखे ! प्राप्तवानीरशाखं किञ्चित्करधृतम् इव मुक्तरोधोनितम्बं नीलं तस्याः सलिलवसनं नीत्वा लम्बमानस्य ते प्रस्थानं कथमपि भावि, ज्ञाताऽऽस्वादः को विवृतजघनां विहातुं समर्थः ॥ ४१ ॥

व्याख्या—हे सखे = हे मित्र !, प्राप्तवानीरशाखं = आसादितवेतसविटपं

किञ्चित्=ईषत्, करधृतम्, इव=हस्ताऽवलम्बितम् इव, स्थितमिति शेषः। मुक्तरोधोनितम्बं=त्यक्ततटकटि, नीलं=कृष्णवर्णं,तस्याः=गम्भीरायाः, सलिलवसनं=जलवस्त्रं, नीत्वा=अपनीय, "हृत्वा" इति पाठेऽप्ययमेवाऽर्थः। प्रस्थानकाले प्रेयसीवस्त्रग्रहणं विरहतापाऽपनयनाऽर्थमिति प्रसिद्धम्। लम्बमानस्य=अवस्रंसमानस्य, ते=तव, प्रस्थानं=प्रयाणं, कथमपि=केनाऽपि प्रकारेण, कष्टेनेति भावः, भावि=भविष्यतीति भावः। तत्र हेतुमाह–ज्ञातेति। ज्ञाताऽऽस्वादः=अनुभूतरसः, कः=पुरुषः, विवृतजघनां=प्रकटितकटिपूर्वभागां, "विपुलजघनाम्" इति पाठान्तरे विशालकटिपूर्वभागामित्यर्थः। विहातुं=त्यक्तुं, समर्थः=शक्तः, न कोऽपीत्यर्थः॥ ४१॥

सरलार्थः––हे मित्र! गम्भीराया नद्या वेतसशाखाप्राप्त्या किञ्चिद्धस्ताऽवलम्बितमिव त्यक्ततटरूपनितम्बं नीलं जलमेव वस्त्रमपनीय स्थितस्त ते प्रस्थानं कष्टेन भविष्यति; यतोऽनुभूतरसः को नरः प्रकटितजघनां नारीं त्यक्तुं शक्तो भवेत्॥ ४१॥

अनुवादः––हे सखे! बेतकी शाखातक पहुँचे हुए और हाथसे कुछ पकड़े गयेके समान तटरूप नितम्बको छोड़नेवाले नीलवर्णयुक्त गम्भीरा नदीसे जलरूप वस्त्रको हटाकर ठहरे हुए तुम्हारा प्रस्थान कष्टसे होगा; क्योंकि रसका अनुभव किया हुआ कौन-सा पुरुष जघनको प्रकट करनेवाली स्त्रीका त्याग करनेमें समर्थ होगा?॥ ४१॥

टिप्पणी––प्राप्तवानीरशाखं=प्राप्ता वानीरशाखा येन तत् (बहु०)। करधृतं=करेण धृतं, तत् (तृ० त०)। मुक्तरोधोनितम्बं=रोध एव नितम्बः (रूपक०)। "पश्चान्नितम्बः स्त्रीकट्याः क्लीबे तु जघनं पुरः।" इत्यमरः। मुक्तो रोधो नितम्बो येन, तत् (बहु०)। सलिलवसनं=सलिलमेव वसनं, तत् (रूपक०)। नीत्वा=नी+क्त्वा। लम्बमानस्य=लबि+लट् (शानच्)। प्रस्थानं=प्र+स्था+ल्युट् (अनः)। भावि=भविष्यतीति, भू+णिनिः,

ज्ञाताऽऽस्वादः=ज्ञात आस्वादो येन सः (बहु०)। ज्ञा+क्तः=ज्ञातः विवृतं जघनं यस्याः, ताम् (बहु०)। वि+वृ+क्तः=विवृतम्। विहातुं=वि+हा+तुमुन्। इस श्लोकमें "करधृतम् इव" यहाँपर उत्प्रेक्षा, रोधमें नितम्ब का आरोप करनेसे और सलिलमें वसनका आरोप करनेसे शाब्द रूपक तथा गम्भीरामें नायिकाका आरोप आर्थ होनेसे एकदेशविवर्ति रूपक अलङ्कार है;

चतुर्थ चरणसे तीन चरणोंके अर्थका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। इन अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार हुआ है ॥ ४१ ॥

त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसंपर्करम्यः
स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगं दन्तिभिः पीयमानः।
नीचैर्वास्यत्युपजिगमिषोर्देवपूर्वं गिरिं ते
शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम् ॥ ४२ ॥

अन्वयः—त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसंपर्करम्यः स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगं दन्तिभिः पीयमानः काननोदुम्बराणां परिणमयिता शीतो वायुः देवपूर्वं गिरिम् उपजिगमिषोः ते नीचैः वास्यति ॥ ४२ ॥

व्याख्या—(हे मेघ!) त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसम्पर्करम्यः=त्वद्वृष्ट्युपबृंहितभूमिगन्धसम्बन्धसुरभिः, स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगं=नासाऽग्रकुहरशब्दमनोहरं यथा तथा, दन्तिभिः=हस्तिभिः, पीयमानः=क्रियमाणपानः, वसुधागन्धलोभादाघ्रायमाण इत्यर्थः। अनेन मान्द्यमुच्यते। काननोदुम्बराणां=वनजन्तुफलानां, परिणमयिता=परिपाकयिता। तादृशः शीतः=शीतलः, वायुः=वातः, देवपूर्वं गिरिं=देवशब्दपूर्वकं गिरिं, देवगिरिमित्यर्थः। उपजिगमिषोः=उपगन्तुमिच्छोः, ते=तव, नीचैः=शनैः, वास्यति=गमिष्यति, त्वां वीजयिष्यतीति भावः ॥ ४२ ॥

सरलार्थः-हे मेघ! देवगिरिमुपगन्तुमिच्छोस्ते वृष्ट्युपबृंहितभूमिसौरभयुक्तो हस्तिभिः नासाऽग्रशब्दपूर्वकमाघ्रायमाणः आरण्यकोदुम्बरफलानां परिपाकयिता शीतलो वातस्त्वां वीजयिष्यति ॥ ४२ ॥

अनुवादः—हे मेघ! तुम्हारे बरसनेसे भूमिके गन्धके सम्पर्कसे सुगन्धित, सूँड़से शब्दपूर्वक अच्छी तरह हाथियोंसे सूँघा गया और जङ्गलके गूलरोंको परिपक्व करनेवाला शीतल वायु देवगिरिको जानेकी इच्छा करनेवाले तुमको पङ्खा झलेगा ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—त्वन्निष्यन्देत्यादिः=निष्यन्दनं निष्यन्दः, "भावे घञ्"। नि+स्यन्द+घञ्। यहाँ पर "अनुविपर्यभिनिभ्यः स्यन्दतेरप्राणिषु" इस सूत्रसे एक पक्षमें णत्व हुआ है। तव निष्यन्दः (ष० त०), तेन उच्छ्वसिता (तृ० त०)। उद्+श्वस्+क्तः (कर्मणि)+टाप्=उच्छ्वसिता। त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसिता चाऽसौ वसुधा (क० धा०), तस्या गन्धः (ष० त०), तस्य सम्पर्कः (ष० त०), तेन रम्यः (तृ० त०), सं+पृच्+घञ्=सम्पर्कः। स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगं=स्रोतसो रन्ध्राणि (ष० त०), तेषां ध्वनित (ष० त०), तेन सुभगं

यथा तथा (तृ० त०) समस्त पद क्रियाविशेषण है। "स्रोतोऽम्बुवेगेन्द्रिययोः" इस अमरोक्तिके अनुसार इन्द्रियवाचक स्रोतः-शब्दसे इन्द्रियविशेष घ्राण इन्द्रिय लक्षित होता है। दन्तिभिः=दन्त+इनिः। पीयमानः=पा+लट् (शानच्) (कर्मणि)। काननोदुम्बराणां=कानन उदुम्बरास्तेषाम् (स० त०) "कर्तृकर्मणोः कृति" इति कर्मणि षष्ठी। "उदुम्बरो जन्तुफलो यज्ञाऽङ्गो हेमदुग्धकः।" इत्यमरः। परिणमयिता=परिणमयतीति, परि+नम+णिच्+तृच् (कर्तरि)। यहाँपर "मितां ह्रस्वः" इस सूत्रसे ह्रस्व हुआ है। शीतः=शीतमस्याऽस्तीति "अर्शआदिभ्योऽच्" इत्यच्। शीत शब्द गुणके अर्थमें नपुंसकलिङ्गी है और शीतगुणवाले अर्थमें पूर्वसूत्रसे विशेष्यनिघ्न (विशेषण) होकर गुणी (विशेष्य) के अनुसार तीनों लिङ्गोंमें रहता है। वायुः=वातीति, ऐसा विग्रह कर "कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्" इस औणादिक सूत्रसे वा धातुसे उण् प्रत्यय और "आतो युक् चिण्कृतोः" इस सूत्रसे युक् आगम होकर "वायु" शब्द निष्पन्न होता है।

देवपूर्वं=देवः पूर्वो यस्मिन्, तम् (वहु०)। यहाँपर महोपाध्याय मल्लिनाथजीने एकावलीका हवाला देकर महाकविका "देवपूर्वो गिरिः देवगिरिः" ऐसा कहनेपर "अवाच्यवचन" नामके दोषकी उद्भावना की है। उन्होंने "स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया" इस न्यायसे किसी प्रकार दोषका समाधानका प्रयास भी किया है, परन्तु बहुतसे महाकवि ऐसे प्रयोग कई स्थानोंपर किये हैं, और छन्दके अनुरोधसे ऐसे प्रयोगोंका औचित्य सिद्ध होनेसे साथ साथ अभीष्ट अर्थके वोधमें कुछ अड़चन नहीं पड़ती। उदाहरणके लिए महाकवि कालिदासके ही—"दशपूर्वरथं यमाख्यया" रघुवंश ८-२९ तथा महाकवि भारविके—"धनुरुपपदमस्मै वेदमभ्यादिदेश।" (किराताऽर्जुनीय १८-४४) और महाकवि माघके "हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते।" (शिशुपालवध १-४२) इत्यादि कई प्रयोग दिखलाये जा सकते हैं। अलवत्ता पर्यायवाचक शब्द देकर ऐसे संज्ञावाचक शब्दका संकेत करनेमें अभीष्ट अर्थके वोधमें विलम्ब प्रतिभासमान होनेसे अवाच्यवचन दोष माना जा सकता है, उदाहरणके लिए महाकवि माघके "तुरङ्गकान्तामुखहव्यवाहज्वालेव भित्त्वा जलमुल्ललास" (शिशुपालवध) यहाँपर वडवाग्निको कहनेके लिए "तुरङ्गकान्तामुखहव्यवाह" कहा गया है अर्थात् तुरङ्गका अर्थ है घोड़ा उसकी कान्ता घोड़ी अर्थात् वडवा वह आदिमें जिसका ऐसा हव्यवाह (अग्नि) याने "वडवाग्नि" यहाँ पर "अवाच्यवचन" वा क्लिष्ट दोष भी कह सकते हैं। ऐसे प्रयोगमें अभीष्ट अर्थकी

प्रतीति सर्वसाधारणको होनेमें सन्देह है, किसी तरह होनेपर भी विलम्ब होना स्वाभाविक है। अतः ऐसा प्रयोग अभीष्ट नहीं। "देवगिरि" कहनेसे कुछ विद्वान्-लोग आधुनिक देवगढ़ जो कि चम्बलके दक्षिणमें मालवके मध्यमें और झाँसीके दक्षिण पश्चिममें विद्यमान है, यह स्थान मेघके रास्तेमें पड़ता है ऐसा कहते हैं। वहाँपर कार्त्तिकेयका मन्दिर है। उपजिगमिषोः=उपगन्तुमिच्छुः, तस्य। उप=गम्+सन्+उः+ङस् नीचैः=यह अव्यय तथा यहाँपर क्रियाविशेषण है। वास्यति=वा+लृट्+स्य=ति ॥ ४२ ॥

तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगङ्गाजलाऽऽर्द्रैः।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना-
मत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—तत्र नियतवसतिं स्कन्दं पुष्पमेघीकृतात्मा भवान् व्योमगङ्गाजलाऽऽर्द्रैः पुष्पाऽऽसारैः स्नपयतु। हि तत् वासवीनां चमूनां रक्षाहेतोः नवशशिभृता हुतवहमुखे संभृतम् अत्यादित्यं तेजः ॥ ४३ ॥

व्याख्या—(हे मेघ!) तत्र=देवगिरौ, नियतवसतिं=निश्चलाऽवस्थानं, नित्यसंनिहितमिति भावः। स्कन्दं=कार्त्तिकेयं, पुष्पमेघीकृतात्मा=पुष्पवर्षुकमेघीकृतविग्रहः, कामरूपत्वादिति शेषः। भवान्=मेघः, स्वयमेवेत्यर्थः। व्योमगङ्गाजलाऽऽर्द्रैः=आकाशगङ्गासलिलक्लिन्नैः, पुष्पाऽऽसारैः=कुसुमसंपातैः, स्नपयतु=अभिषिञ्चतु। उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति—रक्षाहेतोरिति। हि=यतः, तत्=भगवान् स्कन्दः, वासवीनाम्=ऐन्द्रीणां, चमूनां=सेनानां, रक्षाहेतोः=रक्षणाऽर्थं, नवशशिभृता=नूतनचन्द्रधारिणा, भगवता चन्द्रशेखरेणेत्यर्थः। हुतवहमुखे=अग्निमुखे, संभृतं=सञ्चितम्, अत्यादित्यं=सूर्याऽतिशायि, तेजः=प्रतापः, चन्द्रशेखरस्यैव रूपान्तरमिति भाव, अस्तीति शेषः ॥ ४३ ॥

सरलार्थः—हे मेघ! देवगिरौ पुष्पमेघीकृतशरीरो भवान् सुरसैन्यरक्षणाऽर्थं भगवता चन्द्रशेखरेण पुरा वैश्वानरमुखे सञ्चितं सूर्याऽतिशायिनं आत्मवीर्यसंभूतं भगवन्तं कार्तिकेयं मन्दाकिनीजलाऽऽर्द्रैः पुष्पसम्पातैरभिषिञ्चत ॥ ४३ ॥

अनुवादः—हे मेघ! देवगिरिमें नित्य निवास करनेवाले स्कन्दजीको फूलोंकी वृष्टि करनेवाले मेघके समान शरीरको धारण करते हुए आप आकाशगङ्गाके जलसे भीगे हुए फूलोंकी वृष्टिसे अभिषेक करें, क्योंकि वे (स्कन्द) इन्द्रके सैन्यों-

की रक्षाके लिए भगवान् चन्द्रशेखरसे अग्निके मुखमें सञ्चित तथा सूर्यको भी अतिक्रमण करनेवाले तेज हैं ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—नियतवसतिं=नियता वसतिर्यस्य सः, तम् (बहु०)। नि+यम्+क्तः (कर्तरि)+टाप्=नियता। पूर्वकालमें तारकाऽसुरके संहारसे सन्तुष्ट होकर भगवान् स्कन्द देवताओंकी प्रार्थनासे "इस स्थानमें मैं पार्वती और परमेश्वरके साथ निवास करता हूँ" ऐसा कहकर रहते हैं, पुराणकी ऐसी प्रसिद्धि है।

पुष्पमेघीकृताऽऽत्मा=पुष्पाणां मेघः (ष० त०)। अपुष्पमेघः पुष्पमेघो यथा सम्पद्यते तथा कृतः पुष्पमेघीकृतः, पुष्पमेघ+च्वि+कृ+क्तः (कर्मणि), तथाविध आत्मा (स्वरूपम्) यस्य सः (बहु०)। व्योमगङ्गाजलाऽऽर्द्रैः=व्योम्नि गङ्गा (स० त०), तस्या जलं (ष० त०), तेन आर्द्राः, तैः (तृ० त०)। पुष्पाऽऽसारैः=पुष्पाणाम् आसाराः, तैः (ष० त०)। स्नपयतु=स्ना+णिच्+लोट्+तिप्,यहाँपर णिजन्त होनेसे "स्नापयतु" यही रूप होना इष्ट था, परन्तु अनुपसर्ग होनेसे "ग्लास्नावनुवमां च" इस सूत्रसे वैकल्पिक मित्त्व होनेके कारण "मितां ह्रस्वः" इस सूत्रसे ह्रस्व होकर ऐसा रूप बन गया है। देवताकी पूजा स्वयम् ही करनेसे उसका विशेष फल माना गया है। जैसा कि शम्भु-रहस्यमें है–

"स्वयं यजति चेद् देवमुत्तमा, सोदराऽऽत्मजैः।
मध्यमा, या यजेद् भृत्यैरधमा याजनक्रिया ॥"

देवताकी स्वयं पूजा करना उत्तम,सहोदर (भाई) वा पुत्रोंसे कराना मध्यम और नौकरोंसे कराना अधम है। तत्=विधेय तेज होनेसे नपुंसकलिङ्गका निर्देश हुआ है। वासवीनां=वासवस्य इमा वासव्यः, तासां, "तस्येदम्" इत्यण्।

वासव+अण्+ङीप्=वासवी। रक्षाहेतोः=रक्षाया हेतोः "षष्ठी हेतुप्रयोगे" इति षष्ठी,ततः षष्ठीसमासः। नवशशिभृता=शशोऽस्यास्तीति शशी, शश+इनिः, इवश्चाऽसौ शशी (क० धा०)। नवशशिनं बिभर्तीति नवशशिभृत्, तेन, नवशशिन्+भृ+क्विप् (उपपद०)। अष्टमीके चन्द्रकी कलाको धारण करनेके कारण महादेवको चंद्रशेखर, चन्द्रमौलि इत्यादि पदोंसे अभिधान किया जाता है। हुतवहमुखे=वहतीति वहः, "वह प्रापण" इति धातोः पचाद्यच्। हुतस्य वहः (ष० त०)। हुतवहस्य मुखं, तस्मिन् (ष० त०)। तारकाऽसुरके वधके लिए देवताओंकी प्रार्थनाके अनुसार महादेवने अपने वीर्यको पार्वतीमें आधान किया, जब वे उसको धारण करनेमें असमर्थ हुई तो उन्होंने अग्निके मुखमें उसको रख दिया इस पौराणिक कथाके अनुसार यह उक्ति है। अनन्तर अग्नि

भी उस शिववीर्यको धारण करनेमें जब असमर्थ हुए तब उन्होंने उसे गङ्गातट-में शरोंके वनमें रक्खा, तब छः कृत्तिकाओंने उनका पालन पोषण किया। इसीसे उनका नाम "कार्त्तिकेय", शरोंके वनमें उत्पन्न होनेसे "शरजन्मा" छः मुखवाले होनेसे "षडानन" अथवा "षण्मुख" और देवताओंके सेनापति होनेसे "सेनानी" भी उनका नाम रहा।

"हुतवहमुखे" इस पदमें मुखग्रहण शुद्धत्वकी सूचनाके लिए है, जैसा कि शम्भुरहस्यमें बतलाया गया है—गौओंका पृष्ठभाग, ब्राह्मणका चरण, योगियोंका हृदय, कविका वचन और स्त्री, अग्नि और घोडेका मुख अधिक पवित्र जानना चाहिए। संभृतं=सं+भृ+क्तः। अत्यादित्यम्=आदित्यम् अतिक्रान्तम्, "अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया" इति समासः। श्लोकमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ ४३ ॥

ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी
पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति।
धौताऽपाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य वर्हं भवानी पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति, हरशशिरुचा धौताऽपाङ्गं पावकेः तं मयूरं पश्चात् अद्रिग्रहणगुरुभिः गर्जितैः नर्तयेथाः ॥ ४४ ॥

व्याख्या—ज्योतिर्लेखावलयि=तेजःपङ्क्तिमण्डलयुक्तं, गलितं=पतितं, न तु लौल्यात्, स्वयं छिन्नमिति शेषः। यस्य=मयूरस्य। वर्हं=पिच्छं, भवानी=गौरी, पुत्रप्रेम्णा=तनयस्नेहेन, कुवलयदलप्रापि=नीलकमलपत्रप्रापकं यथा तथा, कर्णे=श्रोत्रे, करोति=विदधाति, कर्णे धारयतीति भावः। हरशशिरुचा=शिवशिरश्चन्द्रिकया, धौताऽपाङ्गं=धवलितनेत्रप्रान्तं, पावकेः=अग्निभुवः, कार्त्तिकेयस्येत्यर्थः। तं=पूर्वोक्तं, मयूरं=शिखिनं, पश्चात्=पुष्पाऽभिषेचनान्तरम्, अद्रिग्रहणगुरुभिः=देवगिरिसंक्रमणमहद्भिः, देवगिरिगुहाप्रतिध्वनिदीर्घैरिति भावः। गर्जितैः=स्तनितैः, नर्तयेथाः=नृत्यं कारय। मृदङ्गवादकत्वेन भगवन्तं कार्त्तिकेयं सेवस्वेति भावः ॥ ४४ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ! तत्र कार्तिकेयवाहनं मयूरं देवगिरिगुहाप्रतिध्वनिदीर्घैः स्वगर्जनैः नर्तयेथाः पतितं वहुवर्णं यस्य पिच्छं भगवती गौरी पुत्रस्नेहेन स्वकर्णाऽभरणं विदधाति ॥ ४४ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! अनेक वर्णोंवाले गिरे हुए जिसके पंखको भगवती गौरी पुत्रके स्नेहसे नीलकमलके पत्तोंसे शोभित अपने कानमें धारण करती हैं। तुम शिवजीके शिरःस्थ चन्द्रकी चन्द्रिकासे उज्ज्वल नेत्रप्रान्तोंसे युक्त कार्तिकेय-वाहन उस मयूरको पुष्पोंसे अभिषेकके अनन्तर देवगिरिकी गुफामें प्रतिध्वनित होनेसे दीर्घ अपने गर्जनोंसे नचाओ ॥ ४४ ॥

टिप्पणी—ज्योतिर्लेखावलयि=ज्योतिषो लेखाः (ष० त०), तासां वलयं (ष० त०), तद् अस्याऽस्तीति—ज्योतिर्लेखावलय+इनिः (मत्वर्थे)। गलितं=गल+क्तः (कर्तरि)। बर्हं="पिच्छबर्हे नपुंसके" इत्यमरः। भवानी=भवस्य पत्नी, भव+आनुक्+ङीष्। पुत्रप्रेम्णा=पुत्रस्य प्रेम, तेन (ष० त०)। कुवलयदलप्रापि=कुवलयस्य दलं (ष० त०), तत्प्राप्नोतीति, तद्यथा तथा कुवलयदल+प्र+आप्+णिनिः। इस व्युत्पत्तिके अनुसार पार्वती जिसके पंखको नीलकमलके पत्तेके साथ अपने कानमें धारण करती हैं, यह अर्थ हुआ। अथवा कुवलयदलं प्राप्नोतीति कुवलयप्राप्, तस्मिन्, कुवलयदल+प्र+आप्+क्विप् (कर्तरि)। इस व्युत्पत्तिसे यह पद सप्तम्यन्त "कर्णे" का विशेषण हुआ। इसका तात्पर्य हुआ भगवती गौरी नीलकमलके पत्तेको छोड़कर उसके स्थानमें मयूरके पंखको धारण करती हैं।

टीकाकार मल्लिनाथने नाथसंमत "कुवलयदलक्षेपि" ऐसा पाठ भी लिखा है, इस पाठमें कुवलयदलं क्षिपति=अपसारयतीति तच्छीलम् ऐसी व्युत्पत्ति होती है। कुवलयदल+क्षिप्+णिनिः इसका अर्थ हुआ नीलकमलके पत्तेको निन्दा करनेवाला अथवा हटानेवाला, इस प्रकार यह "बर्हं" का विशेषण हो जाता है। सरस्वतीतीर्थने "प्रापि" के स्थानमें "स्पर्धि" ऐसा पाठ दिया है इसकी व्युत्पत्ति हुई कुवलयदलं स्पर्धते तच्छीलं, कुवलयदल+स्पर्ध+णिनिः इसका अर्थ हुआ नीलकमलके पत्तेसे स्पर्धा (संघर्ष) करनेवाला, इस व्युत्पत्तिमें भी यह पद बर्हका विशेषण है। हरशशिरुचा=हरतीति हरः, हृ+अच् (पचाद्यच्)। हरस्य शशी (ष० त०), तस्य रुक्, तया (ष० त०)।

धौताऽपाङ्गं=धौतौ अपाङ्गौ यस्य, तम् (बहु०)। "अपाङ्गौ नेत्रयोरन्तौ" इत्यमरः। पावकेः=पावकस्य अपत्यं पुमान्, तस्य "अत इञ्" इति इञ्। अद्रिग्रहणगुरुभिः=अद्रेः ग्रहणं (ष० त०), तेन गुरूणि, तैः (तृ० त०)। ग्रह+ल्युट्=ग्रहणम्। गर्जितैः=गर्ज+क्तः (भावे)। नर्तयेथाः=नृत्+णिच्+लिङ्+थास्। यहाँपर नृत धातु चित्तवान् कर्तासे युक्त तथा चलनाऽर्थक भी है

अतः "अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्" इस सूत्रसे और "निगरणचलनार्थेभ्यश्च" इस सूत्रसे भी परस्मैपदकी प्राप्ति थी पर "न पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरुचिनृतिवदवसः" इस सूत्रसे उसका निषेध होनेसे "णिचश्च" इस सूत्रसे आत्मनेपद हुआ ॥ ४४ ॥

आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लङ्घिताध्वा
सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्गः ।
व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ॥ ४५ ॥

अन्वयः—एनं शरवणभवं देवम् आराध्य वाणिभिः सिद्धद्वन्द्वैः जलकणभयात् मुक्तमार्गः (सन्) उल्लङ्घिताऽध्वा सुरभितनयाऽऽलम्भजां भुवि स्रोतोमूर्त्या परिणतां रन्तिदेवरय कीर्ति मानयिष्यन् व्यालम्देथाः ॥ ४५ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) एनं=पूर्वोक्तं, शरवणभवं=बाणतृणोत्पन्नं, देवं=सुरं, स्कन्दमिति भावः । आराध्य=उपास्य, वीणिभिः=वीणावद्भिः, सिद्धद्वन्द्वैः=सिद्धमिथुनैः, जलकणभयात्=अम्बुलवभीतेः, जलसेकस्य वीणाक्वणनप्रतिबन्धकत्वादिति भावः । मुक्तमार्गः=त्यक्तपथः सन्, उल्लङ्घिताऽध्वा=अतिक्रान्तमार्गः, कियन्तमध्वानं गत इत्यर्थः । सुरभितनयाऽऽलम्भजां=गोसंज्ञपनजातां, भुवि=पृथिव्यां, स्रोतोमूर्त्या=प्रवाहरूपेण, परिणतां=रूपान्तरमापन्नां, रन्तिदेवस्य=तन्नामकस्य दशपुराऽधीशमहाराजस्य, कीर्तिं=समज्ञां, चर्मण्वतीनामधेयां नदीमिति भावः । मानयिष्यन्=सत्कारयिष्यन्, व्यालम्बेथाः=आलम्ब्य अवतरेरित्यर्थः ॥ ४५ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! एवं भगवन्तं स्कन्दमुपास्य तदुपासनाऽर्थमायातैर्वीणाधारिभिः जलपतनभीतैः सिद्धमिथुनैस्त्यक्तपथः सन् दशपुराऽधीशस्य रन्तिदेवस्य यज्ञे गवालम्भनजां चर्मण्वतीं नाम नदीमालम्ब्य अवतरेः ॥ ४५ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! भगवान् स्कन्दकी उपासना करके तुम वीणाको लेनेवाले सिद्धदम्पतियोंके जलबिन्दुओंके गिरनेके भयसे तुम्हारा रास्ता छोड़ देनेपर कुछ आगे जाकर गौओंके आलम्भनसे उत्पन्न तथा पृथिवीमें प्रवाहके रूपसे परिणत महाराज रन्तिदेवकी कीर्तिरूप चर्मण्वती (चम्बल) नदीका सत्कार करते हुए उतरो ॥ ४५ ॥

टिप्पणी—एनम्=अन्वादेशमें इदम् शब्दके स्थानमें "द्वितीयाटौस्स्वेनः"

इस सूत्रसे "एन" आदेश हुआ है। शरवणभवं=शराणां वनं शरवणम्' (ष० त०), "प्रनिरन्तःशरेक्षुप्लक्षाऽऽम्रकार्ष्यखदिरपीयूक्षाभ्योऽसंज्ञायामपि' इस सूत्रसे णत्व हुआ। भवनं भवः "ऋदोरप्" इति भावे अप्, भू+अप्। "भवः क्षेमेशसंसारे सत्तायां प्राप्तिजन्मनोः।" इति मेदिनी। शरवणे भवः (जन्म) यस्य, तम् (व्यधिकरणबहु०)। वामनाचार्यके 'अवर्ज्यो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदः" इस नियमके अनुसार जन्म आदिके उत्तरपद होनेपर और कोई गति न होनेसे व्यधिकरण बहुव्रीहि करना चाहिए। अग्निने शिवजीके वीर्यको शरोंके वनमें छोड़ दिया था और वहींसे उत्पन्न होनेके कारण यहाँपर कार्त्तिकेयको "शरवणभव" कहा गया है। आराध्य=आङ्+राध+क्त्वा (ल्यप्)। वीणिभिः=वीणाऽस्ति येषां तानि, वीणीनिः' तैः। वीणा+इनिः। यहाँपर "व्रीह्यादिभ्यश्च" इस सूत्रसे इनि प्रत्यय हुआ है। सिद्धद्वन्द्वैः=सिद्धाश्च (स्त्रियः) सिद्धाश्च; (पुरुषाः) च सिद्धाः, यहाँपर "पुमान् स्त्रिया" इस सूत्रसे एकशेष समास हुआ है। सिद्धानां द्वन्द्वानि, तैः (ष० त०)। जलकणभयात्= जलस्य कणाः (ष० त०), तेभ्यो भयं, तस्मात् (ष० त०, हेतौ पञ्चमी)। जलकी बूंद पड़नेसे बीनके शब्दमें प्रतिबन्ध होनेसे यह इसका तात्पर्य हुआ। मुक्तमार्गः=मुक्तो मार्गो यस्य सः (बहु०)। मुच्+क्तः (कर्मणि)=मुक्तः। उल्लङ्घिताऽऽध्वा=उल्लङ्घितः अध्वा येन सः (बहु०)। उद्+लघि+क्तः (कर्मणि)=उल्लङ्घितः। सुरभितनयाऽऽलम्भजां=सुरभेः तनयाः (पुत्र्यः) (ष० त०), तासाम् आलम्भः (ष० त०), तस्माज्जाता, ताम्। सुरभितनयाऽऽलम्भ+जन्+डः (उपपदसमासः)। पूर्वकालमें महाराज रन्तिदेवके यज्ञमें गौओंके आलम्भनमें चर्मराशिसे बहते हुए रक्तसे जो नदी निकली उसका नाम "चर्मण्वती" पड़ गया, ऐसी कथा पुराणोंमें मिलती है। चर्मण्वतीको आजकल "चम्बल" कहते हैं। स्रोतोमूर्त्या=स्रोतसो मूर्तिस्तया (ष० त०)। परिणतां= परि+णम्+क्तः (कर्तरि)+टाप्। रन्तिदेवस्य=पूर्वकालमें राजा रन्तिदेव दशपुरमें राज्य करते थे, वे भरतवंशमें उत्पन्न संकृतिके पुत्र थे, बड़े प्रतापी, दाता और याज्ञिक थे, कई दिनोंतक सपरिवार स्वयम् भूखे रहकर दूसरोंको दान देते थे, उनकी कीर्तिका पुराणोंमें सविस्तार वर्णन है। मानयिष्यन्= मान+णिच्+लृट् (शतृ)। व्यालम्बेथाः=वि+आङ्+लबि+लिङ्+थास्। यहाँपर कीर्ति और चर्मण्वती नदीका भेद होनेपर भी अभेदका अध्यवसाय होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है॥ ४५॥

त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे
तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम् ।
प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टी-
रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ।। ४६ ।।

अन्वयः--शार्ङ्गिणो वर्णचौरे त्वयि जलम् आदातुम् अवनते (सति) पृथुम् अपि दूरभावात् तनुं तस्याः सिन्धोः प्रवाहं गगनगतयो दृष्टीः आवर्ज्य एकं स्थूलमध्येन्द्रनीलं भुवो मुक्तागुणम् इव प्रेक्षिष्यन्ते नूनम् ।। ४६ ।।

व्याख्या--(हे मेघ !) शार्ङ्गिणः=कृष्णस्य, वर्णचौरे=कान्त्यपहारके, नीलवर्णे इति भावः। त्वयि=भवति, जलं सलिलम्, आदातुं=ग्रहीतुम्, अवनते=लम्बमाने सति, पृथुम् अपि=स्थूलम् अपि, दूरभावात्=विप्रकृष्टत्वात्, तनुं=सूक्ष्मतया प्रतीयमानं, तस्याः=पूर्वोक्तायाः, सिन्धोः=नद्याः, चर्मण्वत्या इत्यर्थः। प्रवाहं=प्रवृत्तिं, गगनगतयः=आकाशचारिणः सिद्धगन्धर्वादय इति भावः। दृष्टीः=नेत्राणि, आवर्ज्य=नमयित्वा, एकम्=एकयष्टिकं, स्थूलमध्येन्द्रनीलं=पीवरमध्यमणीभूतेन्द्रनीलं, भुवः=पृथिव्याः, मुक्तागुणम् इव=हारम् इव, प्रेक्षिष्यन्ते=द्रक्ष्यन्ति, नूनं=सत्यम् ।। ४६ ।।

सरलार्थः--हे मेघ ! नीलवर्णे त्वयि जलग्रहणार्थमानते सति स्थूलमपि दूरत्वात् सूक्ष्मतया प्रतीयमानं चर्मण्वत्याः प्रवाहं खेचराः सिद्धगन्धर्वादयः नेत्राणि नमयित्वा एकयष्टिकं स्थूलेन्द्रनीलमध्यरत्नयुक्तं भुवो मौक्तिकहारमिव द्रक्ष्यन्ति नूनम् ।। ४६ ।।

अनुवादः--हे मेघ ! श्रीकृष्णके वर्णको चुरानेवाले (नील वर्णवाले) तुम जब चर्मण्वतीके जलको लेनेके लिए झुकोगे तब स्थूल होनेपर भी दूरताके कारण सूक्ष्म रूपसे प्रतीयमान उसके प्रवाहको आकाशमें विचरण करनेवाले सिद्ध आदि नेत्रोंको नीचे लगाकर एक लड़ीवाली और मध्यमें स्थूल इन्द्रनीलमणिसे युक्त पृथिवीकी मोतियोंकी मालाके समान देखेंगे ।। ४६ ।।

व्युत्पत्तिः—शार्ङ्गिणः=शृङ्गस्य विकारः शार्ङ्गम्, “तस्य विकारः” इति अण्। शार्ङ्गम् अस्याऽस्तीति शार्ङ्गी, तस्य। शार्ङ्ग+इनिः। वर्णचौरे=चोरणं चुरा, “चुर स्तेये” इस धातुसे “अ प्रत्ययात्” इस सूत्रसे अ प्रत्यय होकर “अजाद्यतष्टाप्” इस सूत्रसे टाप् प्रत्यय हुआ। संज्ञापूर्वक होनेसे गुण न होकर “चुरा” ऐसा रूप बना। चुरा शीलमस्य ऐसा विग्रह कर “छत्रादिभ्यो णः” इस सूत्रसे णप्रत्यय होकर “चौर” रूप हुआ। अथवा चोरयतीति चोरः, चुर+

णिच् + अच् (कर्तरि)। चोर एव चौरः ऐसा विग्रह कर स्वार्थ (प्रकृत्यर्थ) में "प्रज्ञादिभ्यश्च" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय होकर भी "चौर" शब्द निष्पन्न होता है। वर्णस्य चौरस्तस्मिन् (ष० त०)। आदातुम्=आङ् + दा + तुमुन्। अवनते=अव + नम् + क्तः, भावे सप्तमी। दूरभावात्=भवनं भावः, "भावे" इस सूत्र से घञ्। भू + घञ्। दूरस्य भावः, तस्मात् (ष० त०, हेतौ पञ्चमी) प्रवाहं=प्र + वह + घञ्। "प्रवाहस्तु प्रवृत्तिः स्यात्" इत्यमरः। गगनगतयः= गमनं गतिः, "स्त्रियां क्तिन्" गम् + क्तिन्। गगने गतिः येषां ते (व्यधिकरण-बहु०)। यहाँपर भी पूर्वश्लोकके "शरवणभव" पदके समान समास हुआ है। दृष्टीः=दृश् + क्तिन् + शस्। आवर्ज्य=आङ् + वृज् + णिच् + क्त्वा (ल्यप्)। स्थूलमध्येन्द्रनीलं=स्थूलो मध्य इन्द्रनीलो यस्य सः, तम् (बहु०), यह मुक्ता-गुणका विशेषण है। मुक्तागुणं=मुक्तानां गुणस्तम् (ष० त०)। प्रेक्षिष्यन्ते= प्र + ईक्ष + लृट् + झ।

इस श्लोकमें एकका वर्ण दूसरा कैसे चुराता है? इस प्रकार वस्तुसम्बन्ध असम्भव होता हुआ शार्ङ्गी (कृष्ण) के वर्णके समान वर्णका प्रतिपादन करनेसे निदर्शना अलङ्कार और अत्यन्त नीलवर्णवाले मेघसे सङ्गत चर्मण्वतीके प्रवाहमें पृथ्वीके कण्ठमें स्थित मध्यमें स्थूल इन्द्रनील मणिवाले मुक्ताहारकी संभावना करनेसे "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है। यहाँपर उत्प्रेक्षाका वाचक "नूनम्" पद है, जैसे कि कहा गया है :—

> "मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः।
> उत्प्रेक्षावाचकाः शब्दा इवशब्दोऽपि तादृशः॥"

इस प्रकार दोनों अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है॥४६

तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
पक्ष्मोत्क्षेपादुपरिविलसत्कृष्णशारप्रभाणाम्।
कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बं
पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् ॥ ४७ ॥

अन्वयः—ताम् उत्तीर्य आत्मबिम्बं परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां पक्ष्मोत्क्षेपात् उपरिविलसत्कृष्णशारप्रभाणां कुन्दक्षेपाऽनुगमधुकरश्रीमुषां दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानां पात्रीकुर्वन् व्रज ॥ ४७ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) ताम्=चर्मण्वतीम्, उत्तीर्य=उत्तरणं कृत्वा, आत्मबिम्बं=स्वमूर्तिं, परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां=ज्ञातभ्रूवल्लीविलासानां, पक्ष्मो-

त्क्षेपात्=नेत्रलोमोन्नमनाद्धेतोः, उपरिविलसत्कृष्णशारप्रभाणाम्=ऊर्ध्वशोभमाननीलशबलकान्तीनां, कुन्दक्षेपाऽनुगमधुकरश्रीमुषां=माध्यकुसुमेतस्ततश्चलनाऽनुगभ्रमरसदृशानां, दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानां=रन्तिदेवनगरनारीनयनाऽभिलाषाणां, पात्रीकुर्वन्=भाजनीकुर्दन्, व्रज=गच्छ ॥ ४७ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! चर्मण्वतीमुत्तीर्य त्वदवलोकनाऽर्थमूर्ध्वाननानां दशपुरवनितानां नयनकुतूहलं संवर्धयन् गच्छ ॥ ४७ ॥

अनुवादः–हे मेघ! चर्मण्वती नदीको पार करके तुम अपनी मूर्तिको, भ्रूलताके विलासोंको जाननेवाले, पलकोंको ऊँचे करनेसे ऊपर नील और रङ्ग-विरङ्गी कान्तियोंसे शोभित, कुन्दपुष्पोंके चारोंओर घूमनेवाले भ्रमरोंकी शोभाको चुरानेवाले दशपुरकी स्त्रियोंके नेत्रोंके अभिलाषोंके पात्र बनाते हुए जाओ ॥ ४७ ॥

टिप्पणी—उत्तीर्य=उद्+तॄ+क्त्वा (ल्यप्)। आत्मबिम्बम्=आत्मनो बिम्बः, तम् (ष० त०)। परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां=भ्रुवो लता इव भ्रूलताः (उपमितकर्मधारयः)। भ्रूलतानां विभ्रमाः (ष० त०)। परिचिता भ्रूलताविभ्रमा येषु, तानि परिचितभ्रूलताविभ्रमाणि, तेषाम् (बहु०)। पक्ष्मोत्क्षेपात्=उत्क्षेपणम् उत्क्षेपः, उद्+क्षिप्+घञ् (भावे)। पक्ष्मणाम् उत्क्षेपः, तस्मात् (ष० त०)। "पक्ष्म सूत्रे च सूक्ष्मांऽशे किञ्जल्के नेत्रलोमनि।" इति विश्वः। उपरिविलसत्कृष्णशारप्रभाणाम्=कृष्णाश्च ताः शाराः, "वर्णौ वर्णेन" इति कर्मधारयसमासः। "कृष्णरक्तसिताः शाराः" इति यादवः। काला,लाल और सफेद वर्णको "शार" कहते हैं। "शार" कहनेसे ही कृष्ण वर्णका होनेपर भी फिर "कृष्ण" पद देना कृष्णताकी प्रधानताके लिए है। उपरि विलसन्त्यः (सुप्सुपा समासः)। उपरिविलसन्त्यः कृष्णशाराः प्रभा येषां तानि, तेषाम् (बहु०)। कुन्दक्षेपाऽनुगमधुकरश्रीमुषां=क्षेपणं क्षेपः, क्षिप्+घङ् (भावे)। कुन्दानां क्षेपः (ष० त०) अनुगच्छन्तीति अनुगाः, "अन्यत्राऽपि दृश्यत इति वक्तव्यम्" इतिः डः, अनु+गम्+डः। कुन्दक्षेपस्य अनुगाः,(ष० त०)। कुन्दक्षेपाऽनुगाश्च ते मधुकराः (क० धा०)। तेषां श्रीः (ष० त०) तां मुष्णन्तीति कुन्दक्षेपाऽनुगमधुकरश्रीमूंषि, तेषां, कुन्दक्षेपाऽनुगमधुकरश्री+मुष्+क्विप् (कर्तरि), उपपदसमासः। यहांपर कुन्दक्षपानुग० मुषः लिखना अशुद्ध है क्योंकि यह पद "दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम्" इसका विशेषण है, और "कौतूहल" पद नपुंसकलिङ्गी है। दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानां=दश पुराणि यस्मिस्तत् दशपुरम् (बहु०)। "दशपुर"को आजकल "मन्दसोर" वा "दसोर" कहते हैं, यह

मालवके पश्चिम भागका मुख्य नगर है। दशपुरे वध्वः (स० त०)। तासां नेत्राणि (ष० त०)तेषां कौतूहलानि, तेषाम् (ष० त०)। पात्रीकुर्वन्=अपात्रं पात्रं यथा सम्पद्यते तथा कुर्वन्, पात्र+च्वि+कृ+लट् (शतृ)। व्रज=व्रज+लोट्+सिप्। इस श्लोकमें भी एककी शोभाको दूसरे कैसे हरण करते हैं? इस तरह वस्तुसम्बन्ध असम्भव होकर शोभाकी सदृश शोभा इस प्रकार सादृश्यका बोधन करनेसे निदर्शना अलङ्कार है। कुन्द पुष्प सफेद होता है और भ्रमर काला, इसीतरह दशपुरकी वधुओंके नेत्र भी सफेद हैं। ओर उनकी पुतलियाँ काली, इस प्रकार कुन्द-पुष्पस्थित भ्रमर और वधुओंके नेत्रोंका सादृश्य होनेसे उपमा अलङ्कार है, किसीका ऐसा मत है ॥ ४७ ॥

ब्रह्मावर्तं जनपदमथ च्छायया गाहमानः
क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्भजेथाः।
राजन्यानां शितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा
धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि ॥ ४८ ॥

अन्वयः—अथ ब्रह्मावर्तं जनपदं छायया गाहमानः क्षत्रप्रधनपिशुनं तत् कौरवं क्षेत्रं भजेथाः। यत्र गाण्डीवधन्वा शितशरशतैः राजन्यानां मुखानि त्वं धारापातैः कमलानि इव अभ्यवर्षत् ॥ ४८ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) अथ=अनन्तरं, ब्रह्मावर्त=ब्रह्मावर्तनामकं, जनपदं=देशं, छायया=अनातपमण्डलेन, न तु स्वरूपेणेति भावः। विलम्बनिवारणार्थंमेघोक्तिर्बोध्या। गाहमानः=प्रविशन्, क्षत्रप्रधनपिशुनं=राजन्ययुद्धसूचकं, सम्प्रत्यपि कपालाद्युपलब्ध्या पाण्डवकौरवयुद्धद्योतकमिति भावः। तत्=प्रसिद्धं कौरवं=कुरूणां, क्षेत्रं=स्थानं, कुरुक्षेत्रमिति भावः। भजेथाः=सेवस्व, कुरुक्षेत्रं गच्छेति भावः। यत्र=कुरुक्षेत्रे, गाण्डीवधन्वा=अर्जुनः, शितशरशतैः=प्रचुरतीक्ष्णबाणैः, राजन्यानां=क्षत्रियाणां, मुखानि=आननानि, त्वं=मेघः, धारापातैः=आसारैः, कमलानि इव=पद्मानि इव, अभ्यवर्षत्=अभिमुखं वृष्टवान्, शरवृष्ट्या शिरांसि छिन्नवानिति भावः ॥ ४८ ॥

सरलार्थः—हे मेघ ! ततस्त्वं छायारूपेण ब्रह्मावर्तं प्रविश्य कुरुक्षेत्रं गच्छ, यत्राऽर्जुनस्तीक्ष्णबाणैः क्षत्रियाणां मुखानि, त्वं निरन्तरवृष्टिभिः कमलानीव अभ्यवर्षत् ॥ ४८ ॥

अनुवादः—हे मेघ! तदनन्तर ब्रह्मावर्तमें छायारूपसे प्रवेश करके क्षत्रियोंके युद्धकी सूचना करनेवाले प्रख्यात कुरुक्षेत्रको तुम जाओ। जैसे तुम कमलोंपर

मूसलधार वृष्टि करते हो, वैसे ही जहाँपर गाण्डीवधारी अर्जुनने राजाओंके मुखोंपर तीखे बाणोंकी वृष्टि की थी ॥ ४८ ॥

टिप्पणी—ब्रह्मावर्तम्=आवर्तनम् आवर्तः, आङ् + वृतु + घञ् (भावे)= आवर्तः । ब्रह्मण आवर्तः(सृष्टिः) यस्मिन् स ब्रह्मावर्तः, तम् (व्यधिकरणबहु०) । जिस देशमें बैठकर ब्रह्माजीने सृष्टिका आरम्भ किया था उसे "ब्रह्मावर्त" कहते हैं।

"सरस्वती-दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥" (२–१७) ।

यह मनुका वचन है । अर्थात् सरस्वती और दृषद्वती देवनदियोंका जो मध्य भाग है, देवता (ब्रह्माजी) से रचित उस देशको "ब्रह्मावर्त" कहते हैं । जनपदं=जनः पदं (वस्तु) यस्य सः जनपदस्तं (बहु०) । "नीवृज्जनपदः" इत्यमरः । गाहमानः=गाह + लट् (शानच्) । क्षत्रप्रधनपिशुनं=क्षत्राणां प्रधनं (ष० त०), तस्य पिशुनम् (ष० त०) । "पिशुनौ खलसूचकौ" इस कोशकी उक्तिके अनुसार यहाँपर पिशुन शब्दका सूचक अर्थ लेना चाहिए । तत्= यद् और तद् शब्दका नित्यसम्बन्ध होता है । जहाँपर इसका व्यतिक्रम होता है वहाँपर अविमृष्टविधेयांऽश वा विधेयाऽविमर्श नामका दोष उत्पन्न होता है,परन्तु यहाँपर तद् शब्दके प्रसिद्ध अर्थमें होनेसे यह दोष नहीं होता है । जैसे कि आलङ्कारिकोंका कहना है कि "प्रक्रान्तप्रसिद्धाऽनुभूतार्थकस्तच्छब्दो यच्छब्दोपादानं नाऽपेक्षते" अर्थात् पूर्ववर्णित पदार्थमें, प्रसिद्ध अर्थमें और अनुभूत अर्थमें प्रयुक्त तद् शब्द यद् शब्दकी अपेक्षा नहीं रखता है । पूर्वोक्त अर्थोंमें प्रयुक्त तद्शब्दसे यद् शब्दके न रहनेपर भी विधेयाऽविमर्श दोष नहीं होता है यह इसका तात्पर्य है । कौरवं+कुरूणामिदं कौरवं तत्, यहाँपर "तस्येदम्" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय हुआ है, कुरु+अण् । "कुरुक्षेत्र" यह बहुत पवित्र क्षेत्र है, यहांपर पाण्डवों और कौरवोंका लोकप्रसिद्ध युद्ध हुआ था, और यहींपर परशुरामजीने इक्कीसवार क्षत्रियोंका संहार करके स्यमन्तपञ्चक क्षेत्रका स्थापन किया था । यह स्थान इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) के पास है । धर्मशास्त्रोंमें ग्रहणमें इस क्षेत्रमें स्नान आदिके बहुत ही माहात्म्यका वर्णन किया गया है ।

भजेथाः = भज + लिङ् (विधौ) + थास् । यत्र=यस्मिन्निति यद् + त्रल् । गाण्डीवधन्वा=गाण्डी (ग्रन्थिः) अस्याऽस्तीति गाण्डीवः, यहाँपर गाण्डी शब्दसे "गाण्ड्यजगात्संज्ञायाम्" इस सूत्रसे व प्रत्यय हुआ है । गाण्डीव और गाण्डिव दोनों रूप बनते हैं । यह अर्जुनका धनु है । 'कपिध्वजस्य गाण्डीवगाण्डिवौ पुन-

पुंसकौ ।" गाण्डीवो धनुर्यस्य सः (बहु०) । यहाँपर "वा संज्ञायाम्" इस सूत्रसे वैकल्पिक समासान्त अनङ् हुआ है । अनङ्के अभावमें "गाण्डीवधनुः" ऐसा रूप भी बनता है । शितशरशतैः=शिताश्च ते शराः (क० धा०), तेषां शतानि, तैः (ष० त०) । शो+क्तः+जस्=शिताः । "शो तनूकरणे" धातुसे क्तप्रत्यय और "शाच्छोरन्यतरस्याम्" इससे इत्व हुआ है । यहाँपर शतशब्द निर्दिष्ट शतसंख्याका बाधक न होकर बहुत्वका द्योतक है । राजन्यानां=राज्ञाम् अपत्यानि राजन्यास्तेषाम्, यहाँपर राजन्शब्दसे "राजश्वशुराद्यत्" इस सूत्रसे यत् प्रत्यय हुआ और "ये चाऽभावकर्मणोः" इस सूत्रसे टि (अन्) का प्रकृतिभाव हुआ, राजन्+यत् । "मूर्धाऽभिषिक्तो राजन्यो बाहुजः क्षत्रियो विराट् ।" इत्यमरः । धारापातैः=धाराणां पातास्तैः (ष० त०) । अभ्यवर्षत्+अभि=वृष्+लङ्+तिप् । यहाँपर अर्जुनकी बाणवृष्टिका सादृश्य मेघकी जलवृष्टिमें होनेसे उपमा अलङ्कार है ॥ ४८ ॥

हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां
बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली याः सिषेवे ।
कृत्वा तासामभिगममपां सौम्य ! सारस्वतीना-
मन्तः शुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः ॥ ४९ ॥

अन्वयः-बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली अभिमतरसां रेवतीलोचनाऽङ्कां हालां हित्वा याः सिषेवे । हे सौम्य ! त्वम् अपि तासां सारस्वतीनाम् अपाम् अभिगमं कृत्वा अन्तःशुद्धो वर्णमात्रेण कृष्णो भविता ॥ ४९ ॥

व्याख्या--बन्धुप्रीत्या=बान्धवस्नेहेन, पाण्डवकौरवस्नेहेनेत्यर्थः, न तु भयेनेति भावः । समरविमुखः=युद्धपराङ्मुखः, लाङ्गली=हलधरः, बलराम इत्यर्थः । अभिमतरसाम्=अभीष्टस्वादां, रेवतीलोचनाऽङ्कां=स्वप्रियानयनचिह्नां, हालां=सुरां, हित्वा=त्यक्त्वा, दुस्त्यजामपीति भावः । याः=सारस्वतीः अपः, सिषेवे=सेवितवान् । हे सौम्य=हे सज्जन !, त्वं=मेघः, अपि, तासां=पूर्वोक्तानां, सारस्वतीनां=सरस्वतीसम्बन्धिनीनाम्, अपां=जलानाम्, अभिगम=सम्मुखगमनं, सेवामिति भावः । कृत्वा=विधाय, अन्तःशुद्धः=निर्मलाऽन्तःकरणः सन्, वर्णमात्रेण=रूपेणैव, कृष्णः=श्यामः, न तु पापेनेति भावः । भविता=भविष्यसीत्यर्थः ॥ ४९ ॥

सरलाऽर्थः-बान्धवानां कौरवपाण्डवानां स्नेहेन बलदेवो युद्धविमुखो भूत्वाऽभीष्टरसां सुरामपि विहाय यस्याः सरस्वतीनद्या जलं सेवितवान् । हे सौम्य !

त्वमपि तस्या एव सरितो जलमुपयुज्य शुद्धाऽन्तःकरणः सन् वर्णमात्रेण कृष्णो भविष्यसि ॥ ४९ ॥

अनुवादः—बान्धव—कौरव और पाण्डवोंके स्नेहसे बलरामजीने अभीष्ट स्वादवाली तथा अपनी प्रिया रेवतीके नेत्रोंके प्रतिबिम्बसे युक्त सुराको छोड़कर जिस सरस्वती नदीके जलकी सेवा की थी। हे सौम्य ! तुम भी उसी सरस्वतीके जलकी सेवा करके पवित्र अन्तःकरणवाले होकर वर्णमात्रसे श्याम हो जाओगे ॥ ४९ ॥

टिप्पणी--बन्धुप्रीत्या = बन्धूनां प्रीतिः, तया (ष० त०)। महाभारतके युद्धमें बलरामजीने बान्धव कौरवों और पाण्डवोंकी प्रीतिसे किसीके पक्षमें भी सम्मिलित न होकर तीर्थयात्रा की थी।

समरविमुखः = विपरीतं मुखं यस्य स विमुखः (बहु०)। समरे विमुखः (स० त०)। लाङ्गली = लाङ्गलम् अस्याऽस्तीति, लाङ्गल + इनिः। लाङ्गल अर्थात् हल बलरामका अस्त्र है, इसीसे बलरामजीको लाङ्गली वा हली भी कहते हैं। ये वसुदेवकी रोहिणी नामकी पत्नीसे उत्पन्न हुए थे, अतः इनको "रौहिणेय" भी कहते हैं; ये श्रीकृष्णजीके बड़े भाई थे।

अभिमतरसाम्=अभिमतो रसो यस्याः सा, ताम्, (बहु०)। रेवतीलोचनाऽङ्कां = रेवत्या लोचने (ष० त०), रेवतीलोचने एव अङ्कः (प्रतिबिम्बितत्वाच्चिह्नम्) यस्याः सा, ताम् (बहु०) रेवती बलरामजीकी पत्नी थीं और वे पतिके साथ सुरापान करती थीं, उस समय रेवतीके नेत्रोंका प्रतिबिम्ब (परछाहीं) सुरामें पड़नेसे उसे "रेवतीलोचनाऽङ्का" कहा गया है।

हालां = "यह पद देशभाषाका होनेपर भी कविप्रयुक्त होनेसे साधु है" ऐसा वामनने लिखा है। हाला (सुरा) बलरामको अतिशय प्रिय थी, इसलिए उसे "हलिप्रिया" भी कहते हैं। "सुरा हलिप्रिया हाला" इत्यमरः। हित्वा= हा + क्त्वा। सिषेवे=सेव + लिट्। सौम्य=सोम इव सोमः। सोम (चन्द्र) के सदृश आह्लादक होनेसे सोम, यह लाक्षणिक प्रयोग है। सोम एव "चतुर्वर्णादिभ्यः स्वार्थे उपसंख्यानम्" इस वार्तिकसे स्वाऽर्थ (प्रकृत्यर्थ) में ष्यञ प्रत्यय हुआ। "सौम्यं तु सुन्दरे सोमदैवते।" इत्यमरः।

सारस्वतीनां=सरांसि सन्ति यस्यां सा, सरस् + मतुप् + ङीप् = सरस्वती। सरस्वत्या इमाः सारस्वत्यः, तासां, सरस्वती + अण् + ङीप्। यह "अपाम्" का विशेषण है। सरस्वती नदी वेद और पुराणोंमें महानदीके रूपमें मानी गई है। कहा

जाता है प्रयागमें गङ्गा, यमुना और सरस्वतीका संगम होता है। यह मरुभूमिमें लुप्त हो गई है। कुरुक्षेत्रमें इसका प्राशस्त्य है। जैसे कि कहा गया है :—

"गङ्गा कनखले पुण्या, कुरुक्षेत्रे सरस्वती।
ग्रामे वा यदि वाऽरण्ये पुण्या सर्वत्र नर्मदा॥"

अपाम् = "अभिगमम्" इस कृदन्त पदके योगमें कर्ममें षष्ठी हुई है।

अभिगमम् = अभिगमनम् अभिगमः, तम्। "ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च" इत्यप्। अभि + गम् + अप्। अन्तःशुद्धः=अन्तः (अन्तःकरणे) शुद्धः, "सुप्सुपा" समास। वर्णमात्रेण = वर्ण एव वर्णमात्रं, तेन "मयूरव्यंसकादयश्च" इति समासः। "प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्" इति तृतीया। कृष्णः = कृष्णः (वर्णः) अस्याऽस्तीति, वर्णवाचक कृष्णशब्दसे मतुप् प्रत्यय हुआ था, उसका "गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः" इससे मतुप्का लुक् हो गया। यह वैयाकरणोंका मत है। आलङ्कारिक और नैयायिकोंके मतमें गुणवाचक कृष्ण आदि शब्दका लक्षणासे गुणवान् अर्थ हो जाता है।

भविता = भविष्यतीति, भू धातुसे "ण्वुल्तृचौ" इस सूत्रसे तृच् प्रत्यय हुआ है। "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" इस सूत्रसे वर्तमानकालमें प्रत्यय हुआ है। अन्तःकरणकी शुद्धि ही प्रधान है केवल बाह्य शुद्धि नहीं। बाह्यशुद्धिसे सम्पन्न होते हुए भी सूतहत्याके प्रायश्चित्तके लिए सरस्वती नदीके जलकी सेवा करनेवाले भगवान् बलभद्रजी इसमें दृष्टान्त हैं। इस कारणसे तुम्हें भी सरस्वतीकी सेवा करनी चाहिए यह इसका तात्पर्य है। यहाँपर "त्वमपि भविता" इस पाठके स्थानमें कोई "त्वमसि भविता" ऐसा पाठ पढते हैं। उसमें "त्वं भविता असि" ऐसा अन्वय करना चाहिए। "भविता" तृच् प्रत्ययान्त है। "असि" यहाँपर "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" इस सूत्रसे वर्तमानसामीप्यमें भविष्यत्में लट् हुआ ऐसा मानना चाहिए॥ ४९॥

तस्माद् गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम्।
गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः
शंभोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता॥ ५०॥

अन्वयः—तस्मात् अनुकनखलं शैलराजाऽवतीर्णां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिं जह्नोः कन्यां गच्छेः। या गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां फेनैः विहस्य इव इन्दुलग्नोर्मिहस्ता (सती) शम्भोः केशग्रहणम् अकरोत्॥ ५०॥

व्याख्या—(हे मेघ !) तस्मात् = कुरुक्षेत्रात्, अनुकनखलं = कनखलपर्वतसमीपे, शैलराजाऽवतीर्णां=हिमालयावरूढां, सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम् = सगरपुत्रत्रिदिवारोहणनिःश्रेणीं, सगरसुतस्वर्गप्राप्तिसाधनभूतामिति भावः। जह्नोः = जह्नुनामकस्य राज्ञः, कन्यां = कुमारीं, जाह्नवीमित्यर्थः। गच्छेः = गच्छ। या जाह्नवी, गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां = पार्वतीमुखभ्रूभङ्गकरणं, सापत्न्यरोषादिति शेषः। फेनैः=डिण्डीरैः, विहस्य इव = अवहस्य इव, शौक्ल्यात्फेनानां हासत्वेनोत्प्रेक्षा। इन्दुलग्नोर्मिहस्ता = चन्द्रलग्नतरङ्गकरा (सती), शम्भोः = शिवस्य, केशग्रहणं = कचग्रहणम्, अकरोत् = कृतवती ॥ ५० ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! कुरुक्षेत्रात्कनखलपर्वतसमीपे हिमालयादवतीर्णां सगरपुत्राणां स्वर्गप्राप्तेः साधनभूतां भागीरथीं गच्छ। या फेनैः पार्वतीभ्रुकुटिरचनामवहस्येव शम्भोर्जटाजूटमशिश्रियत् ॥ ५० ॥

अनुवादः—हे मेघ ! कुरुक्षेत्रसे कनखल पर्वतके समीप हिमालय पर्वतसे उतरी हुई तथा महाराज सगरके पुत्रोंकी स्वर्गयात्रामें सीढीकी समान गङ्गाजीके पास जाओ। जिन गङ्गाजीने पार्वतीके मुखमें स्थित भ्रूभङ्गको मानों फेनोंसे हँसकर तरङ्गरूप हाथोंको चन्द्रमाके ऊपर लगाती हुई शिवजीके केशोंको पकड़ लिया ॥ ५० ॥

टिप्पणी—अनुकनखलं = कनखलस्य समीपे, "अनुर्यत्समया" इति अव्ययीभावः। जहाँपर गङ्गाजी पर्वतसे उतरकर निम्न स्थानपर बहती हैं हरद्वारके समीपस्थ उस स्थानको "कनखल" कहते हैं। स्कन्दपुराणमें इसकी ऐसी निरुक्ति दी गई है—

> "खलः को नाऽत्र मुक्तिं वै भजते तत्र मज्जनात्।
> अतः कनखलं तीर्थं नाम्ना चक्रुर्मुनीश्वराः ॥"

अर्थात् कः = कौनसा, खलः = दुर्जन, इसमें स्नान करनेसे मुक्तिको न = नहीं प्राप्त करता है ? अर्थात् सब कोई मुक्ति प्राप्त करता है, इसलिए मुनियोंने "कनखल" ऐसा नाम रक्खा, यह भाव है। शैलराजाऽवतीर्णां=शैलानां राजा शैलराजः, तस्मात् (ष० त०), "राजाहःसखिभ्यष्टच्" इति समासाऽन्तष्टच्। सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्ति=सगरस्य तनयाः सगरतनयाः (ष० त०)। सोपानानां पङ्क्तिः (ष० त०)। स्वर्गस्य सोपानपङ्क्तिः (ष० त०)। सगरतनयानां स्वर्गसोपानपङ्क्तिः, ताम् (ष० त०)। "सगर" सूर्यवंशमें उत्पन्न एक प्रतापी राजा हो गये हैं। जब ये गर्भमें थे इनकी विमाताने इनकी माताको गर

(विष) दे दिया था, एक मुनिके अनुग्रहसे ये सकुशल उत्पन्न हुए तभीसे उनका नाम "सगर" पड़ा। उनकी दो रानियां थीं केशिनी और सुमति। मुनिके वरसे केशिनीके "असमञ्जस" नामके एक पुत्र और सुमतिके ६०००० पुत्र उत्पन्न हुए। जब सगरने सौवां यज्ञ आरम्भ किया तब इन्द्रने अपने पदके अपहरणकी शङ्कासे इनके घोड़ेको चुराकर पातालमें कपिल मुनिके समीप बांध दिया। सगरके ६०००० पुत्र अश्वके अन्वेषणके प्रसङ्गमें पाताल पहुँचे और घोड़ेको देखकर उन्होंने कपिलमुनिको चोर समझकर उनका अपमान किया। तब कपिल मुनिके दृष्टिपातमात्रसे वे सब सगरसुत भस्मीभूत हो गये। उनके उद्धारके लिए सगरवंश-प्रसूत अंशुमान् आदि कई राजाओंने गङ्गाजीको मनुष्यलोकमें लानेका प्रयत्न किया, पर वे सब निष्फल हुए। अनन्तर सगरकुलमें उत्पन्न भगीरथ नामके महाराजने घोर तपस्या कर गङ्गाजीको मर्त्यलोकमें लाकर अपने पूर्वजोंका उद्धार किया। तभीसे भगीरथके ले आनेसे गङ्गाजीका नाम "भागीरथी" पड़ा। यह उपाख्यान वाल्मीकिरामायणके बालकाण्डमें है। जह्नोः कन्याम्=सूर्यवंशके राजा जह्नुने एक यज्ञ किया। गङ्गाजीने उनकी यज्ञशालाको जलमय बना डाला। तब राजाने कुपित होकर अपने तपोबलसे गङ्गाजीको पी लिया, अनन्तर देवताओंकी प्रार्थनासे अपने कर्णरन्ध्रसे गङ्गाजीको बाहर कर दिया, तभीसे गङ्गाजीका नाम "जाह्नवी" पड़ गया।

गच्छेः=गम्+विधिलिङ्+सिप्। गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां=भ्रुवोः कुटिः (कौटिल्यम्) भ्रुकुटिः (ष० त०)। यहांपर उत्तरपदके परे रहते "इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य" इस सूत्रसे भ्रूशब्दके ऊकारका ह्रस्वभाव प्राप्त था उसका "इयङुवङ्भाविनामव्ययानां च नेति वाच्यम्" इस वार्तिकसे निषेधका भी "अभ्रुकुंसादीनामिति वक्तव्यम्" इस वार्तिकसे निषेध होकर भ्रूशब्दके ऊकारका वैकल्पिक ह्रस्व हुआ। किसीने उक्त वार्तिकमें अकारका भी विधान किया, अतः तीन रूप होते हैं—भ्रुकुटि, भ्रूकुटि और भ्रकुटि। गौर्या वक्त्रम् (ष० त०)। भ्रुकुटेः रचना (ष० त०)। गौरीवक्त्रे भ्रुकुटिरचना, ताम् (स० त०)।

पहले पहल जब पृथ्वी गङ्गाजीके भारको ग्रहण करनेमें असमर्थ हुईं तब शिवजीने भगीरथकी प्रार्थनासे गङ्गाको अपने जटाजूटमें धारण किया। सौतको अपने पतिके शिरमें बैठी हुई देखकर गौरीने ईर्ष्यासे भौंहे चढ़ाईं, इस बातकी कविने उत्प्रेक्षा की है।

विहस्य=वि+हस्+क्त्वा (ल्यप्)। इन्दुलग्नोर्मिहस्ता=ऊर्मय एव हस्ताः

(रूपकसमासः) इन्दौ लग्नाः (स० त०) । इन्दुलग्ना ऊर्मिहस्ता यस्याः सा (बहु०) जैसे कोई प्रौढ नायिका अपनी सौतको न सहती हुई अपने ऊपर पतिके प्रेमको प्रकट करती हुई शिरके रत्नके साथ पतिके केशोंमें आकर्षण करती है उसी प्रकार गङ्गाजीने भी गौरीकी ईर्ष्यासे शिवजीके शिरमें स्थित चन्द्रमामें तरङ्गरूप हाथोंको लगाकर शिवजीका केशग्रहण कर लिया यह इसका "हम दोनों हिमालयसे उत्पन्न हुई हैं पर हे पार्वति ! तुम शिवजीके अर्धाङ्गको ही हरण करनेवाली हुई पर मैं उनके शिरमें रहनेवाली हो गई" इस अभिप्रायसे गङ्गाजी शिवजीके केशग्रहणसे कुपित पार्वतीको फेनके बहानेसे जैसे हँस रही हैं, यह श्लोकका तात्पर्य है ।

शम्भोः = शं (सुखम्) भावयतीति शम्भुः, तस्य । शंपूर्वक अन्तर्भावितण्यर्थ भूधातुसे "मितद्र्वादीनामुपसंख्यानम्" इस वार्तिकसे डुप्रत्यय हुआ ।

केशग्रहणं = केशानां ग्रहणम् (ष० त०), तत् । अकरोत् = कृ + लङ् + तिप् । ऐसे ही तात्पर्यका श्लोक मुद्राराक्षस नाटकमें भी है—"धन्या केयं स्थिता ते शिरसि ? शशिकला, किं नु नामैतदस्या नामैवास्यास्तदेतत्परिचितमपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः । नारीं पृच्छामि नेन्दुं कथयतु विजया न प्रमाणं यदीन्दुर्देव्या निह्नोतुमिच्छोरिति सुरसरितं शाठ्यमव्याद्विभोर्वः ।।

इस श्लोकमें "विहस्य इव" यहाँपर उत्प्रेक्षा, "ऊर्मय एव हस्ताः" यहाँपर रूपक होकर संसृष्टि अलङ्कार हुआ है ।। ५० ।।

तस्याः पातुं सुरगज इव व्योम्नि पश्चार्धलम्बी
त्वं चेदच्छस्फटिकविशदं तर्कयेस्तिर्यगम्भः ।
संसर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसि च्छाययाऽसौ
स्यादस्थानोपगतयमुनासङ्गमेवाभिरामा ।। ५१ ।।

अन्वयः—सुरगज इव व्योम्नि पश्चार्द्धलम्बी त्वम् अच्छस्फटिकविशदं तस्या अम्भः तिर्यक् पातुं तर्कयेः चेत्, सपदि स्रोतसि संसर्पन्त्या भवतः छायया असौ अस्थानोपगतयमुनासङ्गमा इव अभिरामा स्यात् ।। ५१ ।।

व्याख्या—(हे मेघ !) सुरगज इव = ऐरावत इन, व्योम्नि = आकाशे, पश्चार्द्धलम्बी=पश्चिमाऽर्धलम्बी, पश्चार्धभागेन व्योम्नि स्थित्वेति भावः, पूर्वार्धेन इत्यर्थः । त्वं=मेघः, अच्छस्फटिकविशदं=निर्मलस्फटिकोज्ज्वलं, तस्याः=गङ्गायाः, अम्भः=जलं, तिर्यक्=तिरश्चीनं यथा तथा, पातुं=पानं कर्तुं, तर्कयेः = विचारयेः, चेत्=यदि, सपदि = सद्यः, स्रोतसि = प्रवाहे, संसर्पन्त्या = संक्रामन्त्या, भवतः =

तव, छायया=प्रतिबिम्बेन, असौ=गङ्गा, अस्थानोपगतयमुनासङ्गमा इव=प्रयागेतरस्थानप्राप्तकालिन्दीसमागमा इव, अभिरामा=मनोहरा, स्यात्=भवेत् ॥ ५१ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! ऐरावत इव पश्चार्धभागेन व्योम्नि स्थित्वा पूर्वार्धेन जलोन्मुखस्त्वं निर्मलं गङ्गाजलं तिर्यक् पातुं विचारयेर्यदि,तर्हि गङ्गाप्रवाहे संक्रामन्त्या त्वच्छायया प्रयागेतरस्थाने यमुनासङ्गतेव गङ्गा जनचेतोहरा भवेत्॥५१॥

अनुवादः—हे मेघ ! ऐरावतके समान शरीरके पिछले भागसे आकाशमें और पूर्वभागसे जलके सम्मुख रहकर तिरछे होकर निर्मल स्फटिकके सदृश उज्ज्वल गङ्गाजीके जलको पीनेका विचार करोगे तो उसी क्षण प्रवाहमें पड़ती हुई तुम्हारी छायासे गङ्गाजी प्रयागसे भिन्न स्थानमें यमुनासे मिली हुईकी सदृश मनोहर प्रतीत होगी ॥ ५१ ॥

टिप्पणी—सुरगजः=सुराणां गजः (ष० त०)। "सुरगज" पदसे यहाँ ऐरावत हाथी अभीष्ट है। ऐरावत हाथी आठ दिग्गजोंमें अन्यतम है। आठ दिग्गजोंके नाम ये हैं--

"ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः।
पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः ॥"

पश्चार्द्धलम्बी=अपरं च तत् अर्धं पश्चार्द्धम् (क० धा०), "अपरस्याऽर्द्धे पश्चभावो वक्तव्यः" इस वार्तिकसे अपरके स्थानमें "पश्च" आदेश हुआ है। पश्चार्द्धेन लम्बते तच्छीलः (उपपदसमासः) पश्चार्द्ध+लबि+णिनिः। "पूर्वार्द्धलम्बी" ऐसा भी पाठान्तर है। अच्छस्फटिकविशदम्=अच्छश्चाऽसौ स्फटिकः (क० धा०)। अच्छस्फटिक इव विशदम् अच्छस्फटिकविशदं, तत् "उपमानानि सामान्यवचनैः" इति उपमान क० धा०। तिर्यक्=तिरः (वक्रम्) अञ्चति (गच्छति) इति, तिरस्+अञ्च+क्विन् (उपपदसमासः), "तिरसस्तिर्यलोपे" इस सूत्रसे यहाँपर तिरस् शब्दके स्थानमें 'तिरि' आदेश हुआ है। यहाँपर यह क्रियाविशेषण है।

पातुं=पा+तुमुन्। तर्कयेः=तर्क+णिच्+लिङ्+सिप्। सपदि="सद्यः सपदि तत्क्षणे" इत्यमरः। यह अव्यय है। संसर्पन्त्या=सं+सृप+लट् (शतृ)+ङीप्+टा।

अस्थानोपगतयमुनासङ्गमा=न स्थानम् अस्थानम् (नञ् समासः)। नञ्के छः अर्थोंमें यहाँ तदन्यरूप अर्थमें प्रयोग हुआ है। अस्थाने उपगतः

(स० त०)। यमुनायाः संगमः (ष० स०) अस्थानोपगतो यमुनासंगमो यस्याः सा (बहु०)।

ऐसे ही भावका श्लोक महाकविने रघुवंशमें भी दिया है—

“कलिन्दकन्या मथुरां गताऽपि गङ्गोर्मिसंसक्तजलेव भाति” (६–४८)।

अभिरामा=अभिरमन्ते अस्याम्, अभि+रम्+घञ् (अधिकरणे)+टाप् (स्त्रीत्वविवक्षायाम्)। स्यात्=अस+लिङ् (संभावनायाम्)। इस श्लोकमें सुरगजके साथ मेघका सादृश्य होनेसे श्रौती उपमा “अच्छस्फटिकविशदम्” इस पदमें लुप्तोपमा और “अस्थानोपगतयमुनासङ्गमा इव” यहाँपर उत्प्रेक्षा है इस प्रकारसे इन अलङ्कारोंकी निरपेक्षतासे स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है।।५१।।

आसीनानां सुरभितशिलं नाभिगन्धैर्मृगाणां
तस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः।
वक्ष्यस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निषण्णः
शोभां शुभ्रत्रिनयवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम् ॥ ५२ ॥

अन्वयः--आसीनानां मृगाणां नाभिगन्धैः सुरभितशिलं तस्या एव प्रभवं तुषारैः गौरम् अचलं प्राप्य अध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निषण्णः (सन्) शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयां शोभां वक्ष्यसि ॥ ५२ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) आसीनानाम्=उपविष्टानां, मृगाणां=हरिणानां, कस्तूरिकामृगाणामित्यर्थः। नाभिगन्धैः=कस्तूरीगन्धैः, सुरभितशिलं=सुगन्धितप्रस्तरं तस्या एव=गङ्गाया एव, प्रभवं=कारणं, तुषारैः=हिमैः, गौरं=शुभ्रम्, अचलं=पर्वतं, हिमालयमित्यर्थः। प्राप्य=आसाद्य, अध्वश्रमविनयने=मार्गपरिश्रमापनोदने, तस्य=हिमालयस्य, शृङ्गे=शिखरे, निषण्णः=उपविष्टः सन्, शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयां=शुक्लशिववृषभविदारितकर्दमसदृशीं, शोभां=कान्ति, वक्ष्यसि=धारयिष्यसि ॥ ५२ ॥

सरलाऽर्थः--हे मेघ ! तदनन्तरं मार्गश्रमनिवारणाय त्वमुपविष्टकस्तूरीमृगनाभिगन्धैः सुगन्धितपाषाणं भागीरथ्या उत्पत्तिकारणं तुहिनधवलं हिमाचलमासाद्य तच्छिखरोपविष्टः सन् विदारितकर्दमस्य शिवशुक्लवृषभस्य कान्तिं धारयिष्यसि ॥ ५२ ॥

अनुवादः–हे मेघ ! बैठे हुए कस्तूरीमृगोंकी नाभिके गन्धोंसे सुगन्धित पत्थरोंसे युक्त, गङ्गाजीके उत्पत्ति-कारण, हिमशुभ्र हिमालय पर्वतपर पहुँचकर मार्गके

परिश्रमको हटानेवाली उसकी चोटीपर बैठे हुए तुम शिवजीके सफेद साँड़से विदारित कीचड़की समान कान्तिको धारण कर लोगे ॥ ५२ ॥

टिप्पणी—आसीनानाम्=आसत इति आसीनास्तेषाम् । आङ्-उपसर्गपूर्वक "आस उपवेशने" इस अदादिधातुसे लट्के स्थानमें शानच् प्रत्यय और शानच्के आकारके स्थानमें "ईदासः" इस सूत्रसे ईकार हुआ है । आस + लट् + शानच्। मृगाणाम् = इस पदके साथ "नाभिगन्धैः" इस पदका सम्बन्ध होनेसे यहाँपर मृग पदका सामान्य मृग अर्थ न करके "कस्तूरीमृग" ऐसा अर्थ करना चाहिए । नाभिगन्धैः = नाभीनां गन्धाः, तैः (ष० त०) । "मृगनाभिर्मृगमदः कस्तूरी चे"त्यमरः । सुरभितशिलैः = सुरभिः संजातो यासां ताः सुरभिताः, "तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्" इति इतच्, सुरभि + इतच् + टाप् । सुरभिताः शिला यस्य तम् (बहु०) ।

प्रभवं=प्रभवति अस्मादिति प्रभवस्तम, 'ॠदोरप्" इत्यप् । प्र + भू + अप् । गौरम् = "अवदातः सितो गौर" इत्यमरः । अचलं=चलतीति चलः, "पचाद्यच्" । चल + अच् । न चलः अचलस्तम् (नञ्०) । प्राप्य = प्र + आप् + क्त्वा (ल्यप्) । अध्वश्रमविनयने=विनीयते अनेनेति विनयनं "करणाऽधिकरणयोश्च" इति करणे ल्युट्, वि + नी + ल्युट् (अन्) । अथवा विनयतीति "कृत्यल्युटो बहुलम्" इस सूत्रमें "बहुल" ग्रहण करनेके सामर्थ्यसे कर्ताके अर्थमें ल्युट् हुआ है ।

निषण्ण = नि + सद् + क्तः (कर्तरि) । शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयां= त्रीणि नयनानि यस्य स त्रिनयनः (बहु०) । "क्षुभ्नादिषु च" इससे निषेध होनेसे "पूर्वपदात्संज्ञायामगः" इससे णत्व नहीं हुआ है । महादेवके तीन नेत्र हैं—सूर्य, चन्द्र और अग्नि । इनमें तीसरा अग्निरूप नेत्र महादेवके ललाटमें है, जो प्रलय-कालमें संहारके लिए खुलता है । तीन नेत्र होनेसे महादेवको त्र्यम्बक, त्रिलोचन, विषमनेत्र और विरूपाक्ष इत्यादि पदोंसे अभिधान करते हैं । त्रिनयनस्य वृषः (ष० त०)। वृष (साँड़) महादेवका वाहन है, वह धर्मरूप माना गया है "सुकृते वृषभे वृषः" इत्यमरः । शुभ्रश्चाऽसौ त्रिनयनवृषः (क० धा०) । उद् + खन् + क्तः (कर्मणि) = उत्खातः । शुभ्रत्रिनयनवृषेण उत्खातः (तृ० त०), स चाऽसौ पङ्कः (क० धा०) । उपमातुं योग्या उपमेया, "अचो यत्" इति यत्, "ईद्यति" इति आत ईत्वम् । उप + मा + यत् । शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्केन उपमेया, ताम् (तृ० त०) । वक्ष्यसि=वह + लट् सिप् ।

जिस तरह हाथी कीचड़ खोदता है उसी तरह सफेद शिवजीके साँड़से खोदे-गए कीचड़की समान शोभाको धारण कर लोगे । तात्पर्य यह है कि सफेद हिमालय पर्वतकी चोटीपर रहकर तुम शिवजीके श्वेतवर्ण वृषभसे खोदे गये कीचड़के समान प्रतीत होगे । यहाँपर हिंमालय पर्वतकी शिवजीके साँड़से और मेघकी कीचड़से तुलना की गई है इसलिए उपमा अलङ्कार है ॥ ५२ ॥

तं चेद्वायौ सरति सरलस्कन्धसङ्घट्टजन्मा
बाधेतोल्काक्षपितचमरीवालभारो दवाग्निः ।
अर्हस्येनं शमयितुमलं वारिधारासहस्रै-
रापन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम् ॥ ५३ ॥

अन्वयः—वायौ सरति सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा उल्काक्षपितचमरीवालभारो दवाऽग्निः तं बाधेत चेत् (तर्हि) एनं वारिधारासहस्रैः अलं शमयितुम् अर्हसि; हि उत्तमानां सम्पदः आपन्नाऽऽर्तिप्रशमनफलाः (भवन्ति) ॥ ५३ ॥

व्याख्या—वायौ=वाते, वनवात इत्यर्थः । सरति=वाति सति, सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा=पीतद्रुप्रकाण्डसङ्घर्षणोत्पन्नः, उल्काक्षपितचमरीवालभारः=स्फुलिङ्गनिर्दग्धचमरीकेशसमूहः, दवाऽग्निः=वनवह्निः, तं=हिमाऽऽलयं, बाधेत चेत्=पीडयेत् यदि, (तर्हि=तदा) एनं=दवाऽग्निं, वारिधारासहस्रैः=जलधारासहस्रैः, अलं=पर्याप्तं यथा तथा, शमयितुं=निर्वापयितुम्, अर्हसि=योग्यो भवसि, उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति—आपन्नाऽऽर्तीति । हि=यतः, उत्तमानां=महतां, सम्पदः=समृद्धयः, आपन्नार्तिप्रशमनफलाः=आर्तपीडानिवारणप्रयोजनाः, भवन्तीति शेषः । अतो हिमालयस्य वनाऽनलस्त्वया निर्वापणीय इति भावः ॥ ५३ ॥

सरलार्थः—हे मेघ ! तत्र वनवातेनोपचितो देवदारुप्रकाण्डसंघर्षणजः स्फुलिङ्गदग्धचमरीकेशप्रचयो दवाऽनलो हिमालयं दहेच्चेत्तर्हि तं जलधाराभिर्निर्वापयः; यतो महतां समृद्धय आपद्ग्रस्तपीडानिवारिका भवन्ति ॥ ५३ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! वनकी हवाके वहनेपर सरल (चीड़) वृक्षोंके प्रकाण्डोंकी रगड़से उत्पन्न और उल्काओंसे चमरी गायोंके वालसमूहको जलाने वाली वनकी आग हिमालयको जला दे तो तुम उसे जलधाराओंसे पर्याप्तरूपसे बुझा देनेके लिए योग्य हो, क्योंकि बड़ोंकी समृद्धियाँ आपद्ग्रस्तोंकी पीड़ा दूर करनेवाली होती हैं ॥ ५३ ॥

टिप्पणी—वायौ = वातीति वायुस्तस्मिन्, वा + उण् (युक् आगमः)। (सरति = सृ + लट् (शतृ), भावे सप्तमी। सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा=सरलानां स्कन्धाः (ष० त०), "अस्त्री प्रकाण्डः स्कन्धः स्यान्मूलाच्छाखाऽवधेस्तरोः।" इत्यमरः। सरलस्कन्धानां संघट्टः (ष० त०), तस्माज्जन्म यस्य सः (व्यधिकरणबहुव्रीहिः)। "पीतद्रुः सरलः पूतिकाष्ठं चे" त्यमरः सरलका पर्याय मल्लिनाथजीने देवदारु लिखा है; वास्तवमें यह देवदारु नहीं है, इसके पर्यायवाचक शब्द "पीतद्रु" और "पूतिकाष्ठ" हैं। हिन्दीमें इसे चीड़ और नैपाली भाषामें "सल्लो" कहते हैं; इसका निर्यास सुगन्धित होता है। वृक्षोंके प्रकाण्डोंके संघर्षणसे आग उत्पन्न होकर जङ्गलको जला देती है। उल्काक्षपितचमरीवालभारः= क्षै + णिच् + क्तः (कर्मणि)=क्षपितः। उल्काभिः क्षपिताः (तृ० त०)। वालानां भाराः (ष० त०)। चमरीणां वालभाराः (ष० त०)। उल्काक्षपिताः चमरीवालभारा येन (वहु०)। "चमरी" पदसे चमरी गायका बोध होता है। जो कि हिमालयमें पर्याप्त पाई जाती है, इसके पुच्छमें वालोंका गुच्छ रहता है और यह अपने वालोंमें अतिशय ममता रखती है, देखिए कुमारसंभव—

"लज्जा तिरश्चां यदि चेतसि स्यादसंशयं पर्वतराजपुत्र्याः।
तं केशपाशं प्रसमीक्ष्य कुर्युर्वालप्रियत्वं शिथिलं चमर्यः॥" (१-४८)

दवाऽग्निः = दवस्य अग्निः (ष० त०), "वने च वनवह्नौ च दवो दाव इतीष्यते" इति यादवः। दुनोतीति दवः, "टु दु उपतापे" इति धातोः पचाद्यच्। दु + अच्। "दुन्योरनुपसर्गे" इति सूत्रेण णप्रत्यये तु दावः। बाधेत = बाध + लिङ् (संभावनायाम्)। एनम् = इदम् शब्दकी द्वितीयाके एकवचन अन्वादेशमें "द्वितीयाटौस्स्वेनः" इस सूत्रसे "एन" आदेश होता है। वारिधारासहस्रैः= वारीणां धाराः (ष० त०), तासां सहस्राणि, तैः (ष० त०)। दावानऽनलकी व्यापकताके कारण उसे हटानेके लिए जलकी भी प्रचुरता अभीष्ट होनेसे "धारासहस्रैः" लिखा गया है। उद्भूताऽवयव भेदकी विवक्षासे बहुवचन किया गया है। शमयितुं= शम + णिच् + तुमुन्। अर्हसि = अर्ह + लट् सिप्। सम्पदः + सं + पद् + क्विप् (भावे)। आपन्नाऽऽर्तिप्रशमनफलाः = आङ् + पद् + क्तः (कर्तरि) आपन्नाः, "आपन्न आपत्प्राप्तः स्यात्" इत्यमरः। आ + ऋ + क्तिन् = (भावे) + आर्तिः। आपन्नानाम् आर्तिः (ष० त०)। प्र + शम् + ल्युट् = प्रशमनम्। आपन्नाऽऽर्तीनां प्रशमनं (ष० त०), तदेव फलं यासां ताः (बहु०) यह "सम्पदः" का विधेय है। महाकविने इसी ढङ्गका प्रयोग अभि-

ज्ञानशाकुन्तलमें भी किया हैं :—"आपन्नाऽभयसत्रेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः ।" इस श्लोकमें चतुर्थ चरणसे तृतीय चरणके अर्थका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलंकार है। भाष्यकारकी "अस्तिर्भवन्तीत्यपरः प्रयुज्यमानोऽप्यस्ति" इस उक्तिके अनुसार यहाँपर "भवन्ति" इस पदका अध्याहार होता है ॥ ५३ ॥

ये संरम्भोत्पतनरभसाः स्वाङ्गभङ्गाय तस्मिन्
मुक्ताध्वानं सपदि शरभा लङ्घयेयुर्भवन्तम् ।
तान्कुर्वीथास्तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान्
के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—तस्मिन् संरम्भोत्पतनरभसाः ये शरभा मुक्ताऽध्वानं भवन्तं सपदि स्वाङ्गभङ्गाय लङ्घयेयुः । तान् तुमुलकरकावृष्टिपाताऽवकीर्णान् कुर्वीथाः । निष्फलाऽऽरभयत्नाः के वा परिभवपदं न स्युः ? ॥ ५४ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) तस्मिन्=हिमालये, संरम्भोत्पतनरभसाः=कोपोत्प्लवनवेगयुक्ताः, ये, शरभाः=अष्टापदमृगविशेषाः, मुक्ताऽध्वानं = त्यक्तशरभोत्पतनमार्गं, भवन्तं = त्वां, सपदि = तत्क्षणे, स्वाऽङ्गभङ्गाय = निजशरीरविनाशाय, लङ्घयेयुः = अतिक्रामेयुः । तान् = शरभान्, तुमुलकरकावृष्टिपाताऽवकीर्णान्=सङ्कुलवर्षोपलवर्षनिक्षिप्तान्, कुर्वीथाः=कुरुष्व । उत्क्रान्तमार्गः क्षुद्रोऽपि निवारणीय इति भावः । उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति—के वेति । निष्फलाऽऽरम्भयत्नाः = विफलकर्मप्रयासाः, के वा=प्राणिनः, परिभवपदं= तिरस्कारभाजनं, न स्युः=नो भवेयुः, निष्फलकर्मोद्यमाः सर्वेऽपि जनास्तिरस्कारपात्रत्वं भजन्तीति भावः ॥ ५४ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! तत्र हिमाऽचले शरभाणामुड्डयनमार्गं त्यजन्तमपि भवन्तं लङ्घयितुं ये शरभाः प्रयतेरन् । तान् संकुलवर्षोपलवर्षेणाऽङ्गभङ्गयुक्तानितस्ततो विक्षितांश्च विधेहि। विफलकर्मप्रयासाः सर्वेऽपि तिरस्कारपात्रत्वं प्राप्नुवन्ति।।

अनुवादः—हे मेघ ! वहाँ (हिमालयमें) कोपपूर्वक वेगसे उछलनेवाले जो शरभ, उनके मार्गको छोड़नेवाले आपको उसी क्षण अपने अङ्गोंका विनाश करनेके लिए लङ्घन करें तो उनको आप पर्याप्तरूपसे ओलोंकी वृष्टिसे तितर बितर कर डालें, निष्फल कर्ममें प्रयास करनेवाले कौन पुरुष तिरस्कारके पात्र न होंगे ? ॥ ५४ ॥

टिप्पणी—संरम्भोत्पतनरभसाः=संरम्भणं संरम्भः, सं + रभ + घञ् (भावे)। उद + पत + ल्युट् (भावे) = उत्पतनम् । संरम्भेण उत्पतनं (तृ० त०), तस्मिन्

रभसः (वेगः) येषां ते (व्यधिकरणबहु०) । "संरम्भः संभ्रमे कोपे" इति शब्दाऽर्णवः । "रभसो वेगहर्षयोः" इत्यमरः । शरभाः = "शरभः शलभे चाऽष्टापदे प्रोक्तो मृगान्तरे ।" इति विश्वः । आठ चरणोंसे युक्त मृगविशेषको "शरभ" कहते हैं । आज कल यह उपलब्ध नहीं हैं । कहते हैं कि इसके चार चरण अवाङ्मुख और चार चरण ऊर्ध्वमुख होते हैं । यह सिंहको भी मार डालता है । पुराणोंमें लिखा है कि भगवान् विष्णुने नृसिंहका अवतार धारण कर हिरण्यकशिपुको छातीमें नाखूनोंसे चीरकर मार डाला, इतनेपर भी उनका कोप शान्त नहीं हुआ और उनके कोपसे लोक-संहारका भय उपस्थित हुआ; तब देवताओंकी प्रार्थनासे भगवान् महादेवने शरभका रूप धारण कर नृसिंहको परास्त कर लोकका संरक्षण किया । पुराण और तन्त्रग्रन्थोंमें शरभकी उपासना लिखी है ।

मुक्ताध्वानं = मुच् + क्तः = मुक्तः । मुक्तः अध्वा येन, तम् (बहु०) । भवन्तं = भा + डवतुः ।

स्वाऽङ्गभङ्गाय = स्वस्य अङ्गानि (ष० त०), तेषां भङ्गः, (ष० त०) तस्मै, "तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या" इति चतुर्थी । मेघकी ऊँचाईके कारण शरभ उसपर आक्रमण नहीं कर सकेंगे, बल्कि उछलकूदमें उनके पैर टूट जायँगे । लङ्घयेयुः = लङ्घ + णिच् + लिङ् (संभावनायाम्) । तुमुलकरकावृष्टिपाताऽवकीर्णान् = तुमुलाश्च ताः करकाः (वर्षोपलाः), (क० धा०) तासां वृष्टिः (ष० त०), तस्याः पातः (ष० त०), तेन अवकीर्णाः, तान् (तृ० त०) । अव + कृ + क्तः = अवकीर्णाः । ओलेका वाचक करक शब्द पुंलिङ्ग और स्त्रीलिङ्गी भी है; इसीलिए रुद्रकोशमें स्पष्ट लिख दिया है :—वर्षोपलस्तु करका करकोऽपि च दृश्यते ।" कुर्वीथाः = "डुकृञ् करणे" इति धातोः विधिलिङि थासि रूपम् । यहाँपर क्रियाफलके कर्तृगामी होनेसे आत्मनेपद हुआ है ।

निष्फलाऽऽरम्भयत्नाः = आरभ्यत इत्यारम्भः, आङ् + रभ + घञ् (कर्मणि) । आरम्भस्य यत्नः (ष० त०) निर्गतं फलं यस्मात्स निष्फलः (बहु०), यद्वा फलान्निष्क्रान्तः, "निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या" इति समासः । निष्फल आरम्भयत्नो तेषां ते (बहु०) । परिभवपदं = परिभवस्य पदम् (ष० त०) । परि + भू + अप् (भावे) = परिभवः, "अनादरः परिभवः परीभावस्तिरस्क्रिया ।" इति "पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माऽङ्घ्रिवस्तुषु ।" इत्यप्यमरः । "परिभवपदम्" यह पद "के वा" इसका विधेयविशेष हैं, विधेयकी प्रधानतासे यहाँ नपुंसक-

लिङ्ग है। स्युः=अस्+लिङ्+(झिषी)। यहाँपर चतुर्थ चरणसे तृतीय चरणके अर्थका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार हुआ है ॥ ५४ ॥

तत्र व्यक्तं वृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौलेः
शश्वत्सिद्धैरुपचितबलिं भक्तिनम्रः परीयाः ।
यस्मिन्दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धूतपापाः
संकल्पन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः ॥ ५५ ॥

अन्वयः-तत्र दृषदि व्यक्तं सिद्धैः शश्वत् उपचितबलिम् अर्धेन्दुमौलेः चरणन्यासं भक्तिनम्रः (सन्) परीयाः। यस्मिन् दृष्टे (सति) उद्धूतपापाः (सन्तः) श्रद्दधानाः करणविगमात् ऊर्ध्वं स्थिरगणपदप्राप्तये सङ्कल्पन्ते ॥ ५५ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) तत्र=हिमालये, दृषदि=कस्मिंश्चित्पाषाणे, व्यक्तं=प्रकटं सिद्धैः=योगिभिः, शश्वत्=सदा, उपचितबलिं=रचितपूजाविधिम्, अर्द्धेन्दुमौलेः=चन्द्रशेखरस्य, चरणन्यासं,=पादविन्यासं, भक्तिनम्रः=पूजाऽनुरागेण नमनशीलः सन्, परीयाः=परित ईयाः, प्रदक्षिणं कुरु । इति भावः ।

किं तत्र फलमित्यत आह—यस्मिन्निति । यस्मिन्=चरणन्यासे, दृष्टे=अवलोकिते सति, उद्धूतपापाः=निरस्तकल्मषाः सन्तः श्रद्दधानाः=विश्वसन्तो जनाः, करणविगमात्=देहत्यागात्, ऊर्ध्वम्=अनन्तरं, स्थिरगणपदप्राप्तये=शाश्वतप्रमथस्थानाऽऽसादनाय, सङ्कल्पन्ते=समर्था भवन्ति ॥ ५५ ॥

सरलार्थः—हे मेघ ! तत्र (हिमाऽचले) कस्मिंश्चित्पाषाणे प्रकटं योगिभिर्नित्यं कृतपूजं शम्भोः पादन्यासं भक्तिपूर्वकं प्रदक्षिणीकुरु। यद्दर्शनान्निष्कल्मषाः सन्तः श्रद्धावन्तो जना देहत्यागाऽनन्तरं सनातनं प्रथमपदं लभन्ते ॥ ५५ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! हिमालयमें किसी शिलापर प्रकट और योगियोंसे निरन्तर पूजित शिवजीके चरणचिह्नको भक्तिसे नम्र होकर प्रदक्षिण करो। जिसका दर्शन होनेपर निष्पाप होकर श्रद्धा करवाले लोग शरीरत्यागके अनन्तर शिवजीके सनातन प्रमथपदको पानेके लिए समर्थ होते हैं ॥ ५५ ॥

टिप्पणी—दृषदि="पाषाणप्रस्तरग्रावोपलाऽश्मानः शिला दृषत्।"इत्यमरः। व्यक्तं=वि+अञ्ज+क्तः (कर्तरि)। सिद्धैः=सिध+क्तः (कर्तरि)। यहाँपर सिद्ध पदसे योगकी सिद्धिको पानेवाले अथवा देवयोनिविशेष दोनोंका ग्रहण कर सकते हैं। "सिद्धिर्निष्पत्तियोगयोः"इति विश्वः। शश्वत्="अभीक्ष्णं शश्वदनारते" इत्यमरः। यह अव्यय है। उपचितबलिम्=उपचितो बलिर्यस्य, तम् (बहु०)।

उप + चि + क्तः (कर्मणि)=उपचितः । "बलिः पूजोपहारयोः" इति यादवः । कहींपर "उपहृतबलिम्" ऐसा पाठान्तर है ।

इसमें भी व्युत्पत्ति पहलेकी समान है, उपहार दिये हुए यह अर्थ है ।

अर्धेन्दुमौलेः=अर्धश्चासौ इन्दुः अर्धेन्दुः (क० धा०)। अर्धेन्दुः मौलौ यस्य सः, तस्य (व्यधिकरणबहु०) । यहाँपर "सप्तमी विशेषणे बहुव्रीहौ" इस सूत्रके अनुसार मौलि पदका पूर्वनिपात अभीष्ट था, परन्तु गड्वादिके आकृतिगण होनेसे 'गड्वादेः परा सप्तमी" इस वार्तिकसे सप्तम्यन्त मौलिपदका परनिपात हो गया । चरणन्यासं=चरणयोः न्यासः, तम् (ष० त०) । नि + अस् + घञ् (भावे)=न्यासः । भक्तिनम्रः=नमनशीलो नम्रः, नम + रः । भक्त्या नम्रः (तृ० त०) । परीयाः=परि + इण् + लिङ् (विधौ) । यस्मिन् दृष्टे= भावे सप्तमी । उद्धूतपापाः=उद्धूतं पापं येभ्यः ते (बहु०) । उद्=धूञ् + क्तः (कर्मणि)=उद्धतम् । श्रद्दधानाः=श्रद्दधत इति, "श्रदन्तरोरुपसर्गवद्वृत्तिः" इस वार्तिकसे "श्रत्" इस अव्ययका उपसर्गत्वका अतिदेश होनेसे शानच् हुआ है । श्रत् + धा + लट् (शानच्) । करणविगमात्=क्रियते पापपुण्यादिकं कर्माऽनेन इति करणं, "करणाऽधिकरणयोश्चे"ति करणे ल्युट् । "करणं साधकतमं क्षेत्रगात्रेन्द्रियेष्वपि ।" इत्यमरः । करणस्य विगमः, तस्मात् (ष० त०) । वि + गम् + अप् (भावे)=विगमः । यहाँपर दिग्वाचक ऊर्ध्व पदके योगमें "अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाऽञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते" इस सूत्रसे पञ्चमी हो गई है । स्थिरगणपदप्राप्तये=गणानां पदं (ष० त०), "गणाः प्रमथसंख्यौघाः" इति वैजयन्ती । स्थिरं च तत् गणपदं (क० धा०), तस्य प्राप्तिः, तस्यै (ष० त०), यहाँपर "संकल्पन्ते" इस पदके योगमें "नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च" इस सूत्रसे चतुर्थी हो गई है । संकल्पन्ते=सं + कृप् + लट् + झ । "कल्पिष्यन्ते" ऐसे पाठान्तरमें समर्थ होगे ऐसा अर्थ करना चाहिये । शिवजीने अपने चरणन्यासको हिमालयमें व्यक्त किया, इस बातको शम्भुरहस्यमें निम्नलिखित श्लोकमें प्रदर्शन किया है ।

"अव्यक्तं व्यञ्जयामास शिवः श्रीचरणद्वयम् ।
हिमाऽद्रौ शाम्भवादीनां सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥
दृष्ट्वा श्रीचरणं सम्यक् साधकः स्थिरयेत्तनुम् ।
इच्छाऽधीनशरीरो हि विचरेच्च जगत्त्रयम् ॥"

विलसन हरद्वारके समीप हरकी पैड़ीमें इस स्थानकी संभावना करते हैं ॥५५॥

शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः ।
निर्ह्लादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्यात्
सङ्गीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—अनिलैः पूर्यमाणाः कीचकाः मधुरं शब्दायन्ते । संसक्ताभिः किन्नरीभिः त्रिपुरविजयो गीयते । कन्दरेषु ते निर्ह्लादो मुरजे ध्वनिः इव स्यात् चेत् (तर्हि) ततः पशुपतेः संगीताऽर्थः समग्रो भावी ननु ॥ ५६ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) अनिलैः=वायुभिः, पूर्यमाणाः=क्रियमाणपूरणाः, कीचकाः=वेणुविशेषाः, मधुरं=श्रुतिसुखं यथा तथा, शब्दायन्ते=स्वनन्ति । संसक्ताभिः=संयुक्ताभिः, वंशवाद्यानुषक्ताभिर्वा, "संरक्ताभिः" इति पाठान्तरे संरक्तकण्ठीभिरित्यर्थः । किन्नरीभिः=किन्नरस्त्रीभिः, त्रिपुरविजयः=त्रिपुरदाहाख्यः प्रबन्धः, गीयते=गानं क्रियते । कन्दरेषु=दरीषु, ते=तव, निर्ह्लादः=निर्घोषः, मुरजे=मृदङ्गे, ध्वनिः इव=शब्द इव, मुरजशब्द इव इत्यर्थः । स्यात् चेत्=भवेत् यदि, (तर्हि), तत्र=चरणन्याससमीपे, पशुपतेः=शिवस्य, नित्यसन्निहितस्येति भावः । संगीताऽर्थः=संगीतवस्तु समग्रः=सम्पूर्णः, भावी=भविष्यति, ननु=खलु ॥ ५६ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! वायुना पूर्यमाणाः सच्छिद्रवंशाः, श्रुतिसुखं स्वनन्ति । संयुक्ताः किन्नरस्त्रियस्त्रिपुरविजयं गायन्ति । दरीषु मृदङ्गध्वनिरिव ते निर्घोषो भवेद्यदि तर्हि शम्भोः संगीतं पूर्णं भविष्यति खलु ॥ ५६ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! वायुसे भरे हुए छेदवाले वंश मधुर शब्द करते हैं । किन्नरस्त्रियां संयुक्त होकर त्रिपुरविजय गाती हैं । कन्दराओंमें तुम्हारा शब्द पखावजके शब्दके सदृश होगा तो शिवजीका संगीत पूर्ण हो जायगा ॥ ५६ ॥

टिप्पणी—पूर्यमाणाः=पूर+णिच्+लट् (शानच्) (कर्मणि) । कीचकाः="कीचका वेणवस्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः ।" इत्यमरः । मधुरं=क्रियाविशेषणम् । शब्दायन्ते=शब्दं कुर्वन्ति, "शब्दवैरकलहाऽभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे" इति क्यङ् । शब्द+क्यङ्+लट्+झ । संसक्ताभिः=सं+सञ्ज+क्त+टाप् । "संरक्ताभिः" इति पाठान्तरे–सं+रञ्ज+क्त+टाप् । किन्नरीभिः=कुत्सिता नराः किन्नराः, "किं क्षेपे" इति समासः । किन्नराणां स्त्रियः किन्नर्यस्ताभिः । "पुंयोगादाख्यायाम्" इति किन्नरशब्दात् ङीष् । किन्नर भी देवताओं-

का एक भेद है। किन्नरके दो भेद हैं उनमें एकके मुँह मनुष्यके समान और अन्य अङ्ग घोड़ेके सदृश और दूसरेके मुँह घोड़ेके समान और अन्य अङ्ग मनुष्यके सदृश होते हैं। किन्नर जाति गानेमें बहुत प्रसिद्ध है, अतः देवराज इन्द्रकी सभामें किन्नर ही गान करते हैं। त्रिपुरविजयः=त्रयाणां पुराणां समाहारस्त्रिपुरं "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे चे"ति समासस्तस्य "संख्यापूर्वो द्विगुः" इति द्विगुसंज्ञा। पात्रादित्वान्नपुंसकत्वम्। त्रिपुरस्य विजयः (ष० त०)। गय दानवसे निर्मित तीन पुरों (शहरों) को "त्रिपुर" कहते हैं। मय दानवने पूर्वकालमें दैत्योंके संरक्षणके लिए सोना, चाँदी और लोहसे तीन पुरोंकी रचना की। तब त्रिपुरमें रहकर सुरक्षित होकर दैत्य देवताओंको सताने लगे, अनन्तर देवताओंकी प्रार्थनासे शिवजीने उनलोगोंपर बाणवृष्टि की। दैत्यलोग निष्प्राण होकर गिर पड़े। मयने त्रिपुरमें अवस्थित सिद्धाऽमृतरसके कूपमें उन्हें डाल दिया तब पुनः जीकर दृढशरीरवाले होकर वे दैत्य पूर्ववत् देवताओंको पीडित करने लगे। तदनन्तर विष्णु और ब्रह्माने गाय और बछड़ा होकर त्रिपुरमें प्रवेश कर पूर्वोक्त रसकूपाऽमृतको पी लिया, विष्णुमायासे मोहित होकर दैत्योंने भी उनका निवारण नहीं किया। संपूर्ण देवताओंके शिवजीकी युद्धसामग्रीको प्रस्तुत करनेपर शिवजीने रथमें चढ़कर धनुमें शरका सन्धान कर मध्याह्न समयमें त्रिपुरका दाह किया। यह वर्णन श्रीमद्भागवतमें सविस्तर है। यहाँपर त्रिपुर-विजयसे त्रिपुरदाहका प्रबन्ध गीत लिया जाता है।

गीयते=गै+लट् (कर्मणि)+यक्+त। कन्दरेषु="दरी तु कन्दरो वा स्त्री" इत्यमरः।

निर्ह्रादः=निर्+ह्राद+घञ्। पशुपतेः=पशूनां पतिः, तस्य (ष० त०)। संगीतार्थः=सम्यक् गीतं संगीतं "कुगतिप्रादय" इति समासः। तौर्यत्रिकं तु संगीतं न्यायारम्भे प्रसिद्धके। तूर्याणां त्रितये चे"ति शब्दार्णवः। संगीतम् एव अर्थः संगीतार्थः (रूपकसमासः)। "अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु।" इत्यमरः। भावी="भविष्यति गम्यादयः" इति भविष्यदर्थे भूधातोर्णिनिः। "गीतं वाद्यं च नृत्यं च संगीतं त्रयमुच्यते।" इस उक्तिके अनुसार यहाँपर किन्नरियोंके त्रिपुरविजयका गान और मेघध्वनिसे वादन दो तो जुट गये परन्तु नृत्य तो हुआ नहीं तब "संगीतार्थः समग्रो भावी" कहना उचित नहीं इस शङ्काका समाधान यह है कि यहाँपर भगवान् शङ्करके नृत्यका अध्याहार करनेसे न्यूनताका परिहरण हो जाता है।

ननु="प्रश्नाऽवधारणाऽनुज्ञाऽनुनयाऽऽमन्त्रणे ननु ।" इत्यमरः । यह यहाँपर निश्चयार्थक अव्यय है ।

ऐसे ही भावके श्लोक रघुवंश और कुमारसंभवमें भी हैं :—

"स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम् ।
शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः ॥"

रघुवंश २—१२

"यः पूरयन् कीचकरन्ध्रभागान्दरीमुखोत्थेन समीरणेन ।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ॥"

कुमारसंभव १—८ ।

इस श्लोकमें कीचकशब्द, किन्नरीगान और मेघनिर्ह्लाद इन तीनोंका एक शिवचरण चिह्नके समीपमें क्रमसे स्थिति होनेसे पर्याय और "मुरज इव" यहाँपर श्रौती उपमा हुई है; इस प्रकार इन दोनों अलङ्कारोंके अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ५६ ॥

प्रालेयाद्रेरुपतटमतिक्रम्य तांस्तान्विशेषान्
हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम् ।
तेनोदीचीं दिशमनुसरेस्तिर्यगायामशोभी
श्यामः पादो बलिनियमनाभ्युद्यतस्येव विष्णोः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—प्रालेयाऽद्रेः उपतटं तान् तान् विशेषान् अतिक्रम्य हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत् क्रौञ्चरन्ध्रं तेन बलिनियमनाऽभ्युद्यतस्य विष्णोः श्यामः पाद इव तिर्यगायामशोभी (सन्) उदीचीं दिशम् अनुसरेः ।। ५७ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) प्रालेयाद्रेः=हिमालयस्य, उपतटं=तटसमीपे, तान् तान्=प्रसिद्धान् प्रसिद्धान्, विशेषान्=द्रष्टव्यवस्तूनि, अतिक्रम्य=उल्लङ्घ्य, हंसद्वारं=चक्राऽङ्गप्रतीहारं, भृगुपतियशोवर्त्म=परशुरामकीर्तिमार्गभूतं, यत्, क्रौञ्चरन्ध्रं=क्रौञ्चपर्वतच्छिद्रम्, अस्तीति शेषः । तेन=क्रौञ्चरन्ध्रेण, बलिनियमनाऽभ्युद्यतस्य=बलिबन्धनतत्परस्य, विष्णोः=नारायणस्य, वामनस्येत्यर्थः । श्यामः=कृष्णवर्णः, पाद इव=चरण इव, तिर्यगायामशोभी=तिरश्चीनदैर्घ्यशोभी सन्, त्वमिति शेषः । उदीचीम्=उत्तरां, दिशं=काष्ठाम्, अनुसरेः=अनुगच्छ ॥ ५७ ॥

सरलार्थः—हे मेघ ! हिमाऽऽलयस्य तटसमीपे तानि तानि द्रष्टव्यवस्तूनि

उल्लङ्घ्य हंसद्वारभूतेन क्रौञ्चपर्वतच्छिद्रेण बलिबन्धनतत्परस्य भगवतो वामनस्य कृष्णवर्णश्चरण इव त्वं तिरश्चीनदैर्घ्यशोभी सन् उत्तरदिशमनुगच्छ ।। ५७ ।।

अनुवादः—हे मेघ ! हिमालय पर्वतके तटके समीप प्रसिद्ध प्रसिद्ध द्रष्टव्य पदार्थोंका लङ्घन करके मानस सरोवरमें जानेवाले हंसोंके द्वारभूत और परशुरामकी कीर्तिके मार्गस्वरूप क्रौञ्च पर्वतके छिद्रसे बलिका बन्धन करनेके लिए तत्पर भगवान् वामनके कृष्णवर्णवाले चरणके समान तुम तिरछे विस्तारसे शोभित होते हुए उत्तर दिशाकी ओर चले जाओ ।। ५७ ।।

टिप्पणी—प्रालेयाऽद्रेः=प्रलीयन्ते पदाऽर्था अत्र इति प्रलयः, प्रपूर्वकात् "लीङ् श्लेषणे" इति धातोः "एरच्" इत्यच् । जहाँपर पदाऽर्थ लीन हो जाते हैं उसे प्रलय कहते हैं । "प्रलय" पदसे यहाँपर हिमालय विवक्षित है । प्रलयात् आगतं प्रालेयं, "तत आगत" इत्यण्, "केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरियः" इति यादेरियः । प्रालेयस्य अद्रिः (ष० त०) तस्य । उपतटं=तटस्य समीपे (अव्ययीभावः) ।

तांस्तान्=तद् शब्दसे यहाँपर प्रसिद्ध अर्थ गृहीत है इसलिए यद् शब्दके न होनेपर भी विधेयाऽविमर्श दोष नहीं होता । यहाँपर वीप्सामें द्वित्व हुआ है ।

विशेषान्="विशेषोऽवयवे द्रव्ये द्रष्टव्योत्तमवस्तुनि ।" इति शब्दाऽर्णवः । यहाँपर विशेष वस्तु कहनेसे कनखलके निकटस्थ द्रष्टव्य वस्तु गङ्गा आदि ली जाती है । अतिक्रम्य=अति+क्रम+क्त्वा (ल्यप्) । हंसद्वारं=हंसानां द्वारं, तत् (ष० त०) । 'वर्षा समयमें मानस सरोवरमें प्रस्थान करनेवाले हंस क्रौञ्च पर्वतके रन्ध्र (छिद्र) से संचरण करते हैं' ऐसी प्रसिद्धिके अनुसार यहाँपर क्रौञ्चरन्ध्रको हंसद्वार कहा गया है ।

भृगुपतियशोवर्त्म=भृगोः अपत्यानि पुमांसो भृगवः, यहाँपर भृगुशब्दसे गोत्रापत्यके अर्थमें "ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च" इस सूत्रसे अण् होकर, एकवचन और द्विवचनमें "भार्गवः भार्गवौ" ऐसे रूप बनते है, परन्तु बहुत्वविवक्षामें "अत्रिभृगुकुत्सवसिष्ठगोतमाऽङ्गिरोभ्यश्च" इस सूत्रसे गोत्रप्रत्यय (अण्) का लुक् (अदर्शन) हुआ हैं । भृगूणां (भृगुगोत्रोत्पन्नानाम्) पतिः (श्रेष्ठः) (ष० त०), परशुराम इत्यर्थः, तस्य यशः (ष० त०), तस्य वर्त्म, तत् (ष० त०) । क्रौञ्चरन्ध्रं=क्रौञ्चस्य रन्ध्रम् (ष० त०) ।

पूर्वकाल में कार्तिकेयके साथ स्पर्धा करते हुए परशुरामजीने क्रौञ्चपर्वतमें छेद कर दिया, तभीसे उनके यशका विस्तार हुआ, पुराणोंमें ऐसी प्रसिद्धि है।

बलिनियमनाऽभ्युद्यतस्य = बलेः नियमनं (ष० त०), तस्मिन् अभ्युद्यतः, तस्य (स० त०)। नि + यम + ल्युट् (भावे) = नियमनम्। अभि + उद् + यत् + क्तः = अभ्युद्यतः।

प्रह्लादके पौत्र और विरोचनके पुत्र दैत्यराज बलिने अपने पराक्रमसे जब देवराज इन्द्रको स्वर्गसे निर्वासित कर दिया तब देवताओंकी प्रार्थनासे भगवान् विष्णुने वामन अवतार लेकर त्रिपादपरिमित भूमिकी याचना कर छलसे बलिको पातालमें निर्वासित कर डाला पुराणमें ऐसी कथा है।

विष्णोः=वेवेष्टीति विष्णुः, तस्य, विष् + नुः। विष्णु पदसे यहाँपर विष्णुके पञ्चम अवतार वामनको लेना चाहिए, क्योंकि उन्होंने बलिको बाँध लिया था।

तिर्यगायामशोभी=आयमनम् आयामः, आङ् + यम् + घञ् (भावे)। तिर्यक् चाऽसौ आयामः (क० धा०), तेन शोभते तच्छीलः, तिर्यगायाम + शुभ + णिनिः। उदीचीम् = उद् + अञ्च् + क्विन् + ङीप, "उद ईत्" इति अञ्चुधातोरकारस्य ईकारः। "उत्तरा दिगुदीची स्यात्" इत्यमरः। अनुसरेः= अनु + सृ = लिङ् (विधौ) + सिप्। इस श्लोकमें "यशोवर्त्म" इस पदपर रूपक और "विष्णोः पाद इव" यहाँपर श्रौती उपमा इस प्रकार इन दोनों अलङ्कारोंकी निरपेक्षतासे स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है॥ ५७॥

गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः।
शृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं
राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः॥ ५८॥

अन्वयः—ऊर्ध्वं च गत्वा दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः त्रिदशवनितादर्पणस्य कैलासस्य अतिथिः स्याः। यः कुमुदविशदैः शृङ्गोच्छ्रायैः खं वितत्य प्रतिदिनं राशीभूतः त्र्यम्बकस्य अट्टहास इव स्थितः॥ ५८॥

व्याख्या—(हे मेघ!) ऊर्ध्वं च=उपरि च, क्रौञ्चबिलनिर्गमाऽनन्तरमिति शेषः। गत्वा=व्रजित्वा, दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः=रावणबाहुविश्लेषितसानुसन्धेः, एतेन नेत्रकौतुकसद्भाव उक्तः। त्रिदशवनितादर्पणस्य=देवललनामुकुरभूतस्य, कैलासपर्वतस्य स्फटिकमयत्वाद्राजतत्वाद्वा बिम्बग्राहकत्वेन इयमुक्तिः। कैलासस्य=शिवपर्वतस्य, अतिथिः=आगन्तुकः, स्याः=भवेः। यः=कैलासः,

कुमुदविशदैः = कैरवनिर्मलैः, शृङ्गोच्छ्रायैः = शिखरोन्नत्यै, खम् = आकाशं-वितत्य = व्याप्य, प्रतिदिनं = दिने दिने, राशीभूतः = पुञ्जीभूतः, त्र्यम्बकस्य = त्रिलोचनस्य, अट्टहास इव = अतिहास इव, स्थितः = विद्यमानः, अस्तीति शेषः ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! एवं क्रौञ्चबिलनिर्गमनाऽनन्तरमूर्ध्वं गत्वा रावणभुजविघटितसानुसन्धेः सुरसुन्दरीमुकुरभूतस्य कैलासस्याऽतिथिर्भव । यः कुमुदोज्ज्वलैः शिखरैराकाशं व्याप्य प्रत्यहं पुञ्जीभूतः शिवाऽट्टहास इव वर्तते ॥५८॥

अनुवादः—हे मेघ ! तुम क्रौञ्चपर्वतके बिलसे निकलनेके अनन्तर ऊपर जाकर रावणकी भुजाओंसे वियोजित प्रस्थसन्धियोंसे युक्त तथा उज्ज्वलताके कारण देवस्त्रियोंके आदर्शके समान कैलास पर्वतके अतिथि बनो । जो कुमुदोंके समान उज्ज्वल और ऊँची चोटियोंसे आकाशको व्याप्त कर प्रतिदिन शिवजीके पुञ्जीभूत अट्टहास्यके समान स्थित है ॥ ५८ ॥

टिप्पणी--गत्वा = गम् + क्त्वा । दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः = दश मुखानि यस्य सः (बहु०), तस्य भुजाः (ष० त०) तैः उच्छ्वासिताः (तृ० त०)। "प्रस्थानां सन्धयः (ष० त०) । "स्नुः प्रस्थः सानुरस्त्रियाम्" इत्यमरः । दशमुखभुजोच्छ्वासिताः प्रस्थसन्धयो यस्य सः; तस्य (बहु०) । उद् + श्वस + णिच् + क्तः = उच्छ्वासिताः । प्र + स्था + कः = प्रस्थः । वाल्मीकिरामायणके उत्तरकाण्डके सोलहवें सर्गमें कथा है कि रावणने अपने पराक्रमके गर्वसे लङ्कामें ले जानेके लिए कैलास पर्वतको अपनी भुजाओंसे उठाया, तब वहाँके निवासी विचलित होने लगे और पार्वतीने भी डरसे शिवजीका आलिङ्गन किया । तब शिवजीने रावणके गर्वको खर्व करनेके लिए कैलास पर्वतको अपने चरणसे दवाया । भगवान्के चरणभारसे रावण भी दब गया, तब उसने सामवेदकी सहस्रशाखाओंके गानसे शिवजीकी स्तुति की; फलस्वरूप आशुतोष भगवान्ने उसको अभय दिया । इसी कथाके अनुसार यह उक्ति है । इसी प्रकार महाकवि माघने भी

> "समुत्क्षिपन्यः पृथिवीभृतां वरं वरप्रदानस्य चकार शूलिनः ।
> त्रसत्तुषाराऽद्रिसुताससंभ्रमस्वयंग्रहाश्लेषसुखेन निष्क्रयम् ॥"
>
> (शिशुपालवध १-५०)

ऐसी ही बात लिखी है । त्रिदशवनितादर्पणस्य = तिस्र (बाल्यकौमारयौवनाऽऽख्याः) दशाः (अवस्थाः) येषां ते त्रिदशाः (बहु०) । यद्वा त्रिः दश (परिमाणम्) येषां ते त्रिदशाः, "संख्ययाऽव्ययाऽऽसन्नाऽदूराऽधिकसंख्याः संख्येये"

इति बहुव्रीहिः, "बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्" इति समासान्तो डच् । अथ वा तृतीया (यौवनाऽऽख्या) दशा येषां ते त्रिदशाः । त्रिदशानां वनिताः (ष० त०), तासां दर्पणः, तस्य (ष० त०) । देवताओंकी बाल्य, कौमार और यौवन नामकी अवस्थाएं होती हैं, वा जन्म, सत्ता और विनाश नामकी अथवा तृतीय यौवन नामकी अवस्था होती है इसलिए उनको "त्रिदश" कहते हैं ।

कैलासस्य=लसनं लासः, "लस दीप्तौ" इति धातोः "भावे" इति घञ् । के (जले) लासः अस्य कैलासः (स्फटिकः), बहुव्रीहिः । "हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्" इति अलुक् । कैलासस्य (स्फटिकस्य) अयं कैलासः "तस्येदम्" इत्यण् । केलास+अण्=कैलासः । यद्वा केलीनां (क्रीडानाम्) समूहः कैलं, "तस्य समूहः" इत्यण् । केलि+अण्=कैलम् । कैलेन (क्रीडासमूहेन) आस्यते अस्मिन् इति कैलासः "हलश्चे"ति घञ् । कैल=आस+घञ्=कैलासः । अतिथिः=अविद्यमाना (निश्चिता) तिथिः अस्य सः "नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः" इति नञ्बहुव्रीहिः । "अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ।" इति मनुः (३-१०२) । स्याः=अस्+लिङ् (विधौ) सिप् । कुमुदविशदैः=कुमुदानि इव विशदाः कुमुदविशदाः, तैः (उपमानकर्मधारयः) यह "शृङ्गोच्छ्रायैः" इस पदका विशेषण है । शृङ्गोच्छ्रायैः=श्रयणानि श्रायाः, श्रिञ् सेवायाम्" इति धातोः "श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे" इति घञ् । उन्नताः श्राया उच्छ्रायाः "कुगतिप्रादय" इति समासः । शृङ्गाणाम् उच्छ्रायाः, तैः (ष० त०) । वितत्य=वि=तन्+क्त्वा (ल्यप्) । प्रतिदिनं=दिने दिने इति (अव्ययीभावः) । राशीभूतः=अराशिः राशिः यथा संपद्यते तथा भूतः, राशि+च्वि+भू+क्तः । त्र्यम्बकस्य=त्रीणि अम्बकानि (नेत्राणि) यस्य स त्र्यम्बकः, तस्य (बहु०) । (१) त्रिषु (लोकेषु) अम्बकं (दृष्टिः) यस्य तस्य, "अम्बकं नयनं दृष्टि" इति हलायुधः । (२) त्रयाणाम् (लोकानाम्) अम्बकः (पिता), तस्य । (३) त्रीन् (वेदान्) अम्बते (शब्दायते), इति त्र्यम्बः, तस्य । "अबि शब्दे" इति धातोः "कर्मण्यण" इत्यण्, "संज्ञायाम्" इति कन् । (४) त्रिषु (लोकेषु कालेषु वा) अम्बः (शब्दः, वेदलक्षणाः) यस्य तस्य । (५) त्रयः (अकारोकारमकाराः प्रणवाऽवयवाः) अम्बाः (शब्दाः वाचका,) यस्य तस्य ।

इस प्रकार भानुजीदीक्षितने त्र्यम्बक शब्दकी कई व्युत्पत्तियाँ की हैं ।

अट्टहास=अट्टश्चाऽसौ हासः (क० धा०), "अट्टावतिशयक्षौमौ" इति "अट्टहासो महाहास" इति च यादवः। कैलास पर्वत सफेद है, इसलिए शिवजीके अट्टहाससे उसकी उत्प्रेक्षा की गई है। हास्य आदि पदार्थोंके अमूर्त होनेपर भी कविप्रसिद्धिके अनुसार उनकी धवलता मानी गई है।

स्थितः=स्था + क्तः (कर्तरि)।

इस श्लोकमें "कुमुदविशदैः" यहाँपर उपमा और "अट्टहास इव" यहाँपर उत्प्रेक्षा अलङ्कार है, इन दोनोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार ॥५८॥

उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे
सद्यःकृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्य।
शोभामद्रेः स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां भवित्री-
मंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव ॥ ५९ ॥

अन्वयः—स्निग्धभिन्नाऽञ्जनाऽऽभे त्वयि तटगते सद्यःकृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्य अद्रेः मेचके वाससि अंसन्यस्ते सति हलभृत इव स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां शोभां भवित्रीम् उत्पश्यामि ॥ ५९ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) स्निग्धभिन्नाऽञ्जानाऽऽभे=मसृणमर्दितकज्जलकान्तौ, त्वयि=भवति, मेघ इति भावः। तटगते=कैलाससानुगते सति, सद्यःकृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य=सपदिच्छिन्नहस्तिदन्तशुभ्रस्य, तस्य=पूर्वोक्तस्य, अद्रेः=पर्वतस्य, कैलासस्येत्यर्थः। मेचके=श्यामले, वाससि=वस्त्रे, अंसन्यस्ते=स्कन्धस्थापिते, सति, हलभृत इव=बलभद्रस्य इव, स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां=निश्चललोचनदर्शनीयां, शोभां=कान्ति, भवित्रीं=भाविनीम्, उत्पश्यामि=तर्कयामि ॥ ५९ ॥

सरलाऽर्थः—शुक्लवर्णस्य कैलासस्य तटगते मसृणकज्जलकान्तौ त्वयि कैलास स्कन्धन्यस्तनीलाऽम्बरो गौरवर्ण बलराम इव शोभां प्राप्स्यति ॥ ५९ ॥

अनुवादः— सूक्ष्म और पीसे गये कज्जलके समान तुम जब कैलास पर्वतके तट प्रदेशपर पहुँचोगे तब हाथीके उसी क्षण काटे हुए दांतके टुकड़ेके समान सफेद उस पर्वतकी काले वस्त्रको कन्धेपर धारण किये हुए बलरामकी समान निश्चल नेत्रोंसे दर्शनीय शोभा हो जायगी मैं ऐसी संभावना करता हूं ॥५९॥

टिप्पणी—स्निग्धभिन्नाऽञ्जनाऽऽभे=स्निह + क्तः + स्निग्धम्। भिद् + क्तः=भिन्नम्, स्निग्धं च तद् भिन्नम् (क० धा०)। तच्च तत् अञ्जनम् (क० धा०)। स्निग्धभिन्नाऽञ्जनस्य इव आभा यस्य सः, तस्मिन्, "सप्तमी विशेषणे

वहुव्रीहौ" इत्यत्र सप्तमीतिपदज्ञापितो व्यधिकरणबहुव्रीहिः । तटगते=तटं गतः, तस्मिन् (द्वि० त०), भावे सप्तमी । सद्यःकृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य = कृत् + क्तः = कृत्तः । द्वौ रदौ यस्य सः द्विरदः (बहु०) । छिद् + घञ् = छेदः । सद्यः कृत्तः (सुप्सुपा समासः) । द्विरदस्य दशनः (ष० त०) । सद्यःकृत्तश्चाऽसौ द्विरददशनः (क० धा०) । तस्य छेदः (ष० त०) । सद्यःकृत्तद्विरददशनच्छेद इव गौरः (उपमानक० धा०) तस्य । मेचके = "कृष्णे नीलाऽसितश्यामकालश्यामलमेचकाः ।" इत्यमरः । अंसन्यस्ते = नि + अस् + क्तः = न्यस्तम् । अंसे न्यस्तं, तस्मिन् (स० त०), भावे सप्तमी ।

हलभृतः = हलं बिभर्तीति हलभृत्, तस्य, (हल + भृ + क्विप्, उपपदसमासः) । स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां = प्रेक्षितुं योग्या प्रेक्षणीया (प्र + इक्ष + अनीयर् + टाप्) । स्तिमिते च ते नयने (क० धा०) । ताभ्यां प्रेक्षणीया, ताम् (तृ० त०) । भवित्रीं = भविष्यतीति (भू + तृच् + ङीप्) भवित्री, ताम् । उत्पश्यामि = उद् + दृश् + लट् + मि । दृश् धातु यहाँपर ज्ञानाऽर्थक है । बलरामका अस्त्र हल है इसलिए उन्हें हलभृत्, हली और सीरपाणि भी कहते है । वे गौरवर्णके हैं और नीले कपड़ेका चद्दर ओढ़ते हैं इसलिए उन्हें नीलाम्बर भी कहते हैं । इस श्लोकमें महीन पीसे गये कज्जलकी तुलना मेघसे की गई है इसी तरह कृष्णवस्त्रकी मेघके साथ और हिमालयकी बलरामके साथ तुलना करनेसे उपमा अलंकार है ॥ ५९ ॥

हित्वा तस्मिन्भुजगवलयं शम्भुना दत्तहस्ता
क्रीडाशैले यदि च विचरेत्पादचारेण गौरी ।
भङ्गीभक्त्या विरचितवपुः स्तम्भितान्तर्जलौघः
सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी ॥ ६० ॥

अन्वयः--तस्मिन् क्रीडाशैले शम्भुना भुजगवलयं हित्वा दत्तहस्ता (सती) गौरी पादचारेण विचरेत् यदि (तर्हि) अग्रयायी स्तम्भिताऽन्तर्जलौघः भङ्गीभक्त्या विरचितवपुः मणितटाऽऽरोहणाय सोपानत्वं कुरु ॥ ६० ॥

व्याख्या--(हे मेघ !) तस्मिन् = पूर्वोक्ते, क्रीडाशैले = केलिपर्वते, कैलास इति भावः । शम्भुना = शिवेन, भुजगवलयं = सर्पकङ्कणं, हित्वा = त्यक्त्वा, गौरीभीतिनिवारणाऽर्थमिति शेषः । दत्तहस्ता = वितीर्णकराऽवलम्बा सती, गौरी = पार्वती, पादचारेण = चरणसंचारेण, विचरेत् यदि = विहरेत् चेत् (तर्हि = तदा), अग्रयायी = पुरोगतः, तथा स्तम्भिताऽन्तर्जलौघः = प्रतिरुद्धान्तरतोय-

प्रवाहः, भङ्गीभक्त्या=पर्वरचनया, विरचितवपुः=कल्पितशरीरः, त्वमिति शेषः, मणितटाऽऽरोहणाय=रत्नतटाऽरोहणाय, सोपानत्वं=सोपानभावं, कुरु=विधेहि, सोपानरूपो भवेति भावः ॥ ६० ॥

सरलार्थः—हे मेघ ! क्रीडापर्वते तत्र कैलासे शम्भुना भीतिनिवारणाय भुजङ्गभूषणं त्यक्त्वा दत्तहस्ताऽवलम्बा गौरी चरणाभ्यां संचरेच्चेत्तर्हि त्वं पुरोगतः सन् जलप्रवाहं प्रतिरुध्य स्वशरीरेण पर्वरचनां विधाय मणितटारोहणाय सोपानरूपो भव ॥ ६० ॥

अनुवादः—हे मघ ! उस क्रीडापर्वत (कैलास) पर सर्परूप कङ्कणको छोड़कर शिवजीके हाथका सहारा देनेपर पार्वती पैदल चलेंगी तो तुम आगे बढ़कर भीतर जलप्रवाहको रोककर अपने शरीरको जीनेके रूपमें परिणत कर मणितटपर चढ़नेके लिए सीढ़ी बन जाओ ॥ ६० ॥

टिप्पणी--क्रीडाशैलै=क्रीडायाः शैलः, तस्मिन् (ष० त०)। महादेवके क्रीडापर्वतोंका हवाला शम्भुरहस्यमें इस तरह दिया है :--

"कैलासः कनकाऽद्रिश्च मन्दरो गन्धमादनः ।
क्रीडाऽर्थं निर्मिताः शम्भोर्देवैः क्रीडाद्रयोऽभवन् ॥"

अर्थात् महादेवकी क्रीडाके लिए देवताओंने कैलास, सुमेरु, मन्दर और गन्धमादन इन पर्वतोंकी रचना की ।

भुजगवलयं=भुजग एव वलयः तम् (रूपक०)। हित्वा=हा+क्त्वा । दत्तहस्ता=दत्तो हस्तो यस्यै सा (बहु०)। पादचारेण=चरणं चारः, चर+घञ् (भावे)। पादाभ्यां चारः, तेन (तृ० त०)। विचरेत्=वि+चर+लिङ् (सम्भावनायाम्)। "विहरेत्" इति पाठान्तरे वि+हृ+लिङ् (सम्भावनायाम्)। अग्रयायी=अग्रे यातीति तच्छीलः, अग्र+या+णिनिः । "अग्रचारी"ति पाठान्तरे अग्र+चर+णिनिः । स्तम्भिताऽन्तर्जलौघः=जलानाम् ओघः (ष० त०), अन्तः स्थितो जलौघः (मध्यमपदलोपी समासः)। स्तम्भितः अन्तर्जलौघो येन सः (बहु०)।

भङ्गीभक्त्या=भज+क्तिन्=भक्तिः। भङ्गीनां भक्तिः, तया (ष० त०)। विरचितवपुः=वि+रच+णिच्+क्तः (कर्मणि)=विरचितम् । विरचितं वपुः येन सः (बहु०)। मणितटाऽऽरोहणाय=मणीनां तटम् (ष० त०). आङ्+रुह=ल्युट्=आरोहणम् । मणितटे आरोहणं, तस्मै (स० त०), सोपा-

नत्वं = सोपानस्य भावः सोपानत्वं, तत्, सोपान + त्व । कुरु = कृ + लोट् + सिप् (हिः) ।

शारदारञ्जन रायजीने यहाँपर…."शम्भुना हित्वा गौरी विरचेत्" क्त्वा प्रत्यय समानकर्तृक धात्वर्थमें पूर्वकालमें क्त्वाप्रत्यय होता है, परन्तु यहाँपर 'हित्वा' का कर्ता शम्भु हैं और विचरेत्‌का कर्तृपद गौरी है अतः मल्लिनाथजीकी व्याख्यामें दोषकी उद्भावना की है इसका परिहार यह है कि "दत्तहस्ता" में "दत्त" के साथ समानकर्तृकता होनेसे यहाँपर दोष नहीं है। इस श्लोकमें भुजगमें वलयका आरोप होनेसे रूपक अलङ्कार है ॥ ६० ॥

तत्रावश्यं वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयं
नेष्यन्ति त्वां सुरयुवतयो यन्त्रधारागृहत्वम् ।
ताभ्यो मोक्षस्तव यदि सखे ! घर्मलब्धस्य न स्यात्
क्रीडालोलाः श्रवणपरुषैर्गर्जितैर्भाययेस्ताः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—तत्र सुरयुवतयो वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयं त्वाम् अवश्यं यन्त्रधारागृहत्वं नेष्यन्ति । हे सखे ! घर्मलब्धस्य तव ताभ्यो मोक्षो न स्यात् यदि (तदा) क्रीडालोलाः ताः श्रवणपरुषैः गर्जितैः भाययेः ॥ ६१ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) तत्र = कैलासे; सुरयुवतयः = देवाऽङ्गनाः, वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयं = कङ्कणाऽग्रप्रहारोत्सृष्टजलं; त्वां = जलदम्, अवश्यं = नूनं, यन्त्रधारागृहत्वं = कृत्रिमधारागृहत्वं, नेष्यन्ति = प्रापयिष्यन्ति । हे सखे = हे मित्र !, घर्मलब्धस्य = निदाघप्राप्तस्य, तव = भवतः, ताभ्यः = सुरयुवतिभ्यः, मोक्षः = मुक्तिः, न स्यात् यदि = न भवेच्चेत्, (तदा = तर्हि) क्रीडालोलाः = केलिचञ्चलाः, ताः = सुरयुवतीः, श्रवणपरुषैः = श्रुतिकटुभिः, गर्जितैः = स्तनितैः करणैः, भाययेः = त्रासयेः ॥ ६१ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! कैलासे देवाऽङ्गनाः कङ्कणाग्रप्रहारैरुत्सृष्टजलं त्वां कृत्रिमधारागृहत्वं प्रापयिष्यन्ति । हे मित्र ! निदाघलब्धं त्वां ता न मुञ्चेयुश्चेत्तर्हि श्रुतिकठोरैः स्तनितैस्तास्त्रासयेः ॥ ६१ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! कैलास पर्वतमें देवाऽङ्गनाएँ कङ्कणके अग्रभागोंसे प्रहार करनेसे जल छोड़नेवाले तुमको फौहारा बना डालेंगी। हे मित्र ! गर्मीमें पाये जानेसे तुम्हें वे नहीं छोड़ें तो क्रीडामें आसक्त होनेवाली उनलोगोंको श्रुतिकठोर अपने गर्जनोंसे डरा दो ॥ ६१ ॥

टिप्पणी—तत्र = तद् + त्रल्, अव्ययम् । सुरयुवतयः = युवन् + तिः =

युवतिः । सुराणां युवतयः (ष० त०) । वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयं= वलयानां कुलिशानि (ष० त०)। उद् + घट्ट + ल्युट् (भावे)=उद्घट्टनम् । उद् + गॄ + क्तः=उद्गीर्णम् । वलयकुलिशैः उद्घट्टनानि (तृ० त०) । उद्गीर्णं तोयं येन सः (बहु०) । वलयकुलिशैः उद्गीर्णतोयः, तम् (तृ० त०) । यन्त्रधारागृहत्वं=यन्त्रेषु धाराः (स० त०) गृहस्य भावो गृहत्वम्, गृह + त्व । यन्त्रधाराणां गृहत्वं, तत् (ष० त०, गौणकर्म) । यहाँपर वज्रवाचक "कुलिश" पदसे कोटि (अग्रभाग)की लक्षणा होती है ।

नेष्यन्ति=नी + लृट् = झि । धर्मलब्धस्य=लभ + क्तः=लब्धः । धर्मे लब्धः, तस्य (स० त०) । ताभ्यः = अपादाने पञ्चमी । ग्रीष्म ऋतुमें मेघको पानेसे देवाऽङ्गनाएँ उसको छोड़ना पसन्द नहीं करेंगी । देवभूमिमें सब ऋतुओंका समूह होनेसे अथवा प्राथमिक मेघ होनेसे मेघ धर्मलब्ध (ग्रीष्म ऋतुमें प्राप्त) हुआ है ।

मोक्षैः=मोक्ष + णिच् + अच् । स्यात् + अस् + लिङ् (विधौ) । क्रीडालोलाः=क्रीडायां लोलाः, ताः (स० त०) । श्रवणपरुषैः=श्रवणयोः परुषाणि, तैः (स० त०), गर्जितैः=गर्ज + क्तः (भावे) । भाययेः = भी + णिच् + लिङ् + सिप् । यहाँपर हेतुसे भय न होनेसे "भीस्म्योर्हेतुभये" इस सूत्रसे आत्मनेपद न होकर पुक्का आगम भी नहीं हुआ । अत एव इसका पाठान्तर "भीषयेः" अशुद्ध है । भयका हेतु मेघ नहीं, गर्जित हैं ।। ६१ ।।

हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं मानसस्याददानः
कुर्वन्कामं क्षणमुखपटप्रीतिमैरावतस्य ।
धुन्वन्कल्पद्रुमकिसलयान्यंशुकानीव वातै-
र्नानाचेष्टैर्जलद ! ललितैर्निर्विशेस्तं नगेन्द्रम् ।। ६२ ।।

अन्वयः—हे जलद ! हेमाऽम्भोजप्रसवि मानसस्य सलिलम् आददानः ऐरावतस्य क्षणमुखपटप्रीतिं कुर्वन् अंशुकानि इव कल्पद्रुमकिसलयानि वातैः धुन्वन् नानाचेष्टैः ललितैः तं नगेन्द्रं कामं निर्विशेः ।। ६२ ।।

व्याख्या—हे जलद=हे मेघ !, हेमाम्भोजप्रसवि=सुवर्णकमलोत्पादकं, मानसस्य=मानससरोवरस्य, सलिलं=जलम्, आददानः=गृह्णन्, पिबन्निति भावः । ऐरावतस्य=इन्द्रहस्तिनः, क्षणमुखपटप्रीतिं=मुहूर्ताऽऽननवस्त्रप्रणयं, कुर्वन्=विदधत्, अंशुकानि इव=सूक्ष्मवस्त्राणि इव, कल्पद्रुमकिसलयानि=कल्पवृक्षपल्लवानि, वातैः=वायुभिः, धुन्वन्=कम्पयन्, नानाचेष्टैः=अनेकचेष्टैः,

ललितैः=क्रीडितैः, तं=पूर्वोक्तं, नगेन्द्रं=पर्वतराजं, कैलासमित्यर्थः। कामं=यथेष्टं, निर्विशेः=समुपभुङ्क्ष्व ॥ ६२ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! सुवर्णकमलहेतुभूतं मानससरोजलं पिबन् कंचित्कालं यावत् ऐरावतस्य वदनाऽवगुण्ठनप्रणयं विदधत् वस्त्राणीव कल्पवृक्षपल्लवानि वायुभिः कम्पयन् नैकविधाभिः क्रीडाभिः कैलाशं निर्विश ।। ६२ ॥

अनुवादः-हे मेघ ! सुवर्ण-कमलोंको उत्पन्न करनेवाले मानसरोवरके जलको पीते हुए तुम ऐरावत हाथीके जल लेनेके समय मुखके घूंघटके समान बनते हुए सूक्ष्मवस्त्रोंके सदृश कल्पवृक्षोंके पल्लवोंको अपनी हवासे हिलाते हुए अनेक प्रकारोंकी चेष्टाओंसे सम्पन्न क्रीडाओंसे पर्वतराज कैलासका उपभोग करो।।६२॥

टिप्पणी—जलद=जलं ददातीति जलदः' तत्सम्बुद्धौ, "आतोऽनुपसर्गे कः" इति कः। जल+दा+कः। हेमाऽम्भोजप्रसवि=अम्भसि जातानि अम्भोजानि, "सप्तम्यां जनेर्डः" इति डः। अम्भस्+जन्+डः,उपपदसमासः। हेम्नः अम्भोजानि (ष० त०) प्रसूते इति प्रसवि "जिदृक्षिविश्रीण्वमाव्यथाभ्यमपरिभूप्रसूभ्यश्चे" तीनिः, प्र+सू+इनिः। हेमाम्भोजानां प्रसवि, तत् (ष० त०) यद्वा प्रसवो जननं पुष्पं वा, तदस्याऽस्तीति प्रसवि "प्रसवो जननाऽनुज्ञापुत्रेषु फलपुष्पयोः" इति यादवः। आददानः=आदत्त इति आ+दा+लट् (शानच्), "आङो दोऽनास्यविहरणे" इत्यात्मनेपदम्। ऐरावतस्य=इरा (जलम्) अस्ति अस्मिन् स इरावान् (समुद्रः) ! इरा+मतुप्। इरावति भवः ऐरावतः, तस्य "तत्र भव" इत्यण्। इरावत्+अण्। "इरा" जलको कहते हैं। इसका आधार हुआ इरावान् अर्थात् समुद्र। समुद्रमथनसे उत्पन्न हाथीको "ऐरावत" कहते हैं।

क्षणमुखपटप्रीतिं=प्री+क्तिन्=प्रीतिः। पटेन प्रीतिः (तृ० त०)। मुखे पटप्रीतिः (स० त०)। क्षणे मुखपटप्रीतिः, ताम् (स० त०)। कुर्वन्=कृ+लट् (शतृ)। कल्पद्रुमकिसलयानि=कल्पपूरका द्रुमाः कल्पद्रुमाः, "शाकपार्थिवादीनां सिद्धय उत्तरपदलोपस्योपसंख्यान्" इति मध्यमपदलोपी समासः। संकल्पित अर्थको "कल्प" कहते हैं; उसको पूर्ण करने वाले द्रुम हुए कल्पद्रुम।

कल्पद्रुमाणां किसलयानि, तानि (ष० त०)। धुन्वन्=धुनोतीति, धुञ्+लट् (शतृ)। नानाचेष्टैः=नाना चेष्टा येषां तानि, तैः (बहु०)। ललितैः=

"ना भावभेदे स्त्रीनृत्ये ललितं त्रिषु सुन्दरे।
वल्लियां प्रमदाचारे क्रीडिते जातपल्लवे ॥"

इति शब्दाऽर्णवः। नगेन्द्रं=न गच्छन्तीति नगाः, नञ्+गम्+डः(कर्तरि), "नगोऽप्राणिष्वन्यतरस्याम्" इति नञः प्रकृतिभावः। पक्षान्तरे "अगाः" इति। "शैलवृक्षौ नगावगौ" इत्यमरः। नगानाम् इन्द्रः (ष० त०), तम्। कामम्=अत्यर्थम्। निर्विशेः=निर्+विश्+लिङ् (विधौ)+सिप्। "निर्वेश उपभोगः स्यात्" इत्यमरः।

निर्वेशका अर्थ उपभोग है। मित्रके घरमें यथेच्छ बिहार करना ही मैत्रीका फल है। मेघ और पर्वतकी, कमल और सूर्यकी, समुद्र और चन्द्रकी, मयूर और मेघकी तथा वायु और अग्निकी मित्रता सहज है, इस प्रकारसे कैलासपर्वत मेघका सहज मित्र हो गया।

इस श्लोकमें "अंशुकानि इव" यहाँपर उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ६२ ॥

तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन्।
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ॥ ६३ ॥

अन्वयः--हे कामचारिन्! प्रणयिन इव तस्य उत्सङ्गे स्रस्तगङ्गादुकूलाम् अलकां दृष्ट्वा त्वं पुनः न ज्ञास्यसे (इति) न। उच्चैर्विमाना या वः काले सलिलोद्गारम् अभ्रवृन्दं कामिनी मुक्ताजालग्रथितम् अलकम् इव वहति ॥ ६३ ॥

व्याख्या—हे कामचारिन्='हे स्वेच्छाविचरणशील!' प्रणयिन इव=प्रियतमस्य इव, तस्य=कैलासस्य, उत्सङ्गे=ऊर्ध्वभागे अङ्के च, स्रस्तगङ्गादुकूलां=विश्लिष्टगङ्गाक्षौमाम्, अलकां=कुवेरनगरीं, कामिनीम् इवेति शेषः। दृष्ट्वा=अवलोक्य, त्वं=मेघः, पुनः=भूयः, न ज्ञास्यसे (इति) न=न परिचेष्यसे (इति) न, अपि तु ज्ञास्यसे एवेत्यर्थः। स्वेच्छाविचरणशीलस्य ते पुराऽपि बहुवारं दर्शनसंभवादज्ञानमसंभावितमेवेति निश्चयाऽर्थे नञ्द्वयप्रयोगः। उच्चैर्विमाना=उन्नतसप्तभूमिकभवना, अन्यत्र अतिशयकोपरहिता, या=अलका, वः=युष्माकं, काले=समये, मेघकाल इत्यर्थः। सलिलोद्गारं=स्रवज्जलधारम्, अभ्रवृन्दं=मेघसमूहं, कामिनी=स्त्री, मुक्ताजालग्रथितं=मौक्तिकसरगुम्फितम्, अलकम् इव=चूर्णकुन्तलानि इव=वहति=बिभर्ति ॥ ६३ ॥

सरलाऽर्थः-हे स्वेच्छाभ्रमणशील! प्रियतमस्येव कैलासपर्वतस्य शिखरे अवस्रस्तगङ्गाक्षौमाम् अलकां प्रियतमस्य अङ्के अवस्रस्तवस्त्रां नायिकाम् इव दृष्ट्वा

त्वम् अवगच्छस्येव। उन्नतभवना या मेघसमये जलवर्षुकं मेघसमूहं निष्कोपा रमणी मुक्तासमूहगुम्फितं चूर्णकुन्तलमिव धारयति ॥ ६३ ॥

अनुवादः—इच्छाके अनुसार विचरण करनेवाले हे मेघ ! जैसे प्रियतमके गोदमें शिथिल वस्त्रवाली कामिनी रहती है उसी तरह प्रणयीके समान कैलास पर्वतके ऊर्ध्वभागमें वस्त्रके समान बहनेवाली गङ्गासे युक्त अलकापुरीको देखकर तुम नहीं जानोगे यह बात नहीं (जान ही जाओगे)। जैसे अभिमान न करनेवाली स्त्री मोतियोंके समूहसे गुम्फित अलकोंको धारण करती है उसी तरह सात मञ्जिलेवाले भवनोंसे युक्त वह (अलका) वर्षाकालमें जलकी वृष्टि करनेवाले मेघसमूहको धारण करती हैं ॥ ६३ ॥

टिप्पणी—कामचारिन् = कामेन (इच्छया) चरतीति तच्छीलः कामचारी, तत्सम्बुद्धौ, काम + चर + णिनिः। प्रणयिनः=प्रणय + इनिः। उत्सङ्गे = उद् + सञ्ज + घञ्। उत्सङ्ग शब्दका यहाँ दो अर्थ है अलका-पक्षमें ऊर्ध्वभाग और कामिनी-पक्षमें गोद।

स्रस्तगङ्गादुकूलाम्=अलकापक्षे—गङ्गा दुकूलम् इव "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याऽप्रयोगे" इति समासः। कामिनीपक्षे—गङ्गा इव दुकूलम्। "उपमानानि सामान्यवचनैः" इति समासः। स्रंस + क्तः स्रस्तम्। स्रस्तं गङ्गादुकूलं यस्या सा, ताम् (बहु०)। "दुकूलं सूक्ष्मवस्त्रे स्यादुत्तरीये सितांऽशुके।" इति शब्दार्णवः। दृष्ट्वा = दृश् + क्त्वा। न ज्ञास्यसे (इति) न=ज्ञास्यस एव। "द्वौ नञौ एकं प्रकृताऽर्थं द्योतयतः" अर्थात् दो नञ् एक विध्यर्थका द्योतन करते हैं, इस न्यायसे नहीं जानोगे यह नहीं अर्थात् जानोगे इस विध्यर्थका बोध हो जाता है। महाकविने ऐसा प्रयोग अन्यत्र भी किया है—

"नेयं न वक्ष्यति मनोगतमाधिहेतुम्।"
"न पुनरलङ्कारश्रियं न पुष्यति" अभिज्ञानशाकुन्तलम्।

ज्ञास्यसे = ज्ञा + लृट् + थास् (से), "अनुपसर्गाज्ज्ञः" इति क्रियाफले कर्त्रभिप्राये सति आत्मनेपदम्। उच्चैर्विमाना = अलकापक्षे—उच्चैः (उन्नतानि) विमानानि यस्यां सा (बहु०)। मेघ चलनेके स्थानकी सूचनाके लिए यह विशेषण दिया है। "विमानोऽस्त्री देवयाने सप्तभूमौ च सद्मनि।" इति यादवः।

कामिनीपक्षे—विगतः मानः (प्रणयकोपः) यस्याः सा, (बहु०) अतिशयेन विमाना उच्चैर्विमाना, "कुगतिप्रादय" इति समासः। वः=वर्षाकालमें सभी मेघोंके समान रूपसे रहनेसे बहुवचन हुआ है। अथवा "अस्मदो द्वयोश्च" इस सूत्रसे एकत्व

वा द्वित्व विवक्षित होनेपर भी अस्मद् शब्दसे बहुवचन हुआ है । सलिलोद्गारं= सलिलम् उद्गिरतीति, तत् "कर्मण्यण्" इत्यण् (उपपदसमासः) । सलिल + उद् + गृ + अण् । अभ्रवृन्दम् = अभ्राणां वृन्दं, तत् (ष० त०) । कामिनी = काम + इनि + ङीप् । मुक्ताजालग्रथितं = मुक्तानां जालानि (ष० त०) तैः ग्रथितः, तम् (तृ० त०) । ग्रन्थ + क्तः = ग्रथितः । अलकम् = यहाँ जातिमें एकवचन हुआ है ।

वहति = वह + लट् + तिप् ।

इस श्लोकमें कैलास पर्वत अनुकूल नायक और अलका स्वाधीनपतिका नायिका ध्वनित है । एक ही नायिकामें आसक्त नायकको "अनुकूल" और प्रियसे उपलालित नायिकाको "स्वाधीनपतिका" कहते हैं कैलासमें प्रणयीका साम्य वाच्य है और अलकामें प्रणयिनीका साम्य गम्य है इस प्रकार एकदेशविवर्तिनी उपमा हुई और उत्तरार्द्धमें श्रौती उपमा है; इन दोनोंकी निरपेक्षतासे स्थिति होनेसे "संसृष्टि" अलङ्कार हो गया है । तथा उत्सङ्ग और विमानमें श्लेष है अतः श्लेष और उपमाका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ६३ ॥

इति पूर्व मेघः । श्रीहरिः शरणम् ॥

अथोत्तरमेघः

विद्युत्वन्नं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम् ।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ।। १ ।।

अन्वयः—यत्र ललितवनिताः सचित्राः संगीताय प्रहतमुरजाः मणिमयभुवः अभ्रंलिहाऽग्राः प्रसादा विद्युत्वन्तं सेन्द्रचापं स्निग्धगम्भीरघोषम् अन्तस्तोयं तुङ्गं त्वां तैः तैः विशेषैः तुलयितुम् अलम् ।। १ ।।

पक्षोऽलकावर्णनोत्तरं स्वभवनस्याऽभिज्ञानं प्रतिपादयति—विद्युत्वन्तमिति।

व्याख्या—(हे मेघ !) यत्र=यस्याम्, अलकायामिति भावः । ललितवनिताः=रम्यस्त्रीयुवताः, सचित्राः=आलेख्यसहिताः, संगीताय=तौर्यत्रिकाय, प्रहतमुरजाः=ताडितमृदङ्गा, मणिमयभुवः=रत्नविकारभूमयः, अभ्रंलिहाऽग्राः=अभ्रङ्कषशिखराः, अत्युन्नता इति भावः । तादृशाः प्रासादाः=देवगृहाणि, विद्युत्वन्तं=तडित्वन्तं, सेन्द्रचापम्=इन्द्रचापसहितं, स्निग्धगम्भीरघोषं=श्राव्यगभीरगर्जितम्, अन्तस्तोयम्=अन्तर्गतजलं, तुङ्गम्=उन्नतं, त्वां=भवन्तं, मेघमित्यर्थः । तैस्तैः=प्रागुक्तप्रकारैः' विशेषैः=ललितवनितत्वादिधर्मैः, तुलयितुं=समीकर्तुम्, अलं=पर्याप्ताः ।। १ ।।

सरलाऽर्थः—(हे मेघ !) यत्राऽलकायां मनोरमा रामा विद्युतः चित्राणि इन्द्रचापं ताडितमृदङ्गास्तव श्राव्यं गभीरशब्दं रत्नमयभूमयः त्वदन्तर्वर्त्ति जलं गगनचुम्बिनः प्रसादाः उन्नतं त्वां तैस्तैर्धर्मैः समीकर्तुं पर्याप्तानि ।। १ ।।

अनुवादः—हे मेघ जिस अलकापुरीमें इन इन विशेषताओंसे भवन तुम्हारी बराबरी करनेके लिए समर्थ हैं—तुम्हारे पास बिजली है तो उसमें सुन्दरियाँ है। तुम्हारें पास इन्द्रधनु है तो उनमें चित्र हैं। तुम्हारे पास सुननेके योग्य गम्भीर गर्जन है तो उसमें संगीतके लिए पखावज बजाये जाते हैं। तुम्हारे भीतर जल है तो उनमें मणियोंसे खचित फर्श हैं। तुम उन्नत हो तो वे आकाशचुम्बी हैं ।। १ ।।

टिप्पणी—यत्र=यद्+त्रल् । ललितवनिताः=ललिता वनिता येषु ते

(बहु०) । सचित्राः=चित्रैः सहिताः, "तेभ सहेति तुल्ययोगे" इति तुल्ययोगबहुव्रीहिः, "वोपसर्जनस्य" इति सहस्य सभावः, पक्षान्तरे "सहचित्राः"। "आलेख्याऽऽश्चर्ययोश्चित्रम्" इत्यमरः । संगीताय=सं + गै + क्तः (मावे)= संगीतं, तस्मै "तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या" इति चतुर्थी। प्रहतमुरजाः=प्र + हन् + क्तः (कर्मणि)=प्रहताः । प्रहता मुरजा येषु ते (बहु०) "मृदङ्गा मुरजा भेदास्त्वङ्क्यालिङ्ग्योर्ध्वकास्त्रयः ।" इत्यमरः । मणिमयभुवः=मणीनां विकारा मणिमय्यः, मणि + मयट् (विकारार्थे)=ङीप् (स्त्रीत्वविवक्षायाम्), मणिमय्यो भुवो येषु ते (बहु०), पूर्वपदस्य "स्त्रियाः पुंवद्भाषिते" त्यादिना पुंवद्भावः ।

अभ्रंलिहाऽग्राः=अभ्रं लिहन्तीति अभ्रंलिहानि, "वहाऽभ्रे लिहः" इति खश्प्रत्ययः, "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इति मुमागभः । अभ्र + (मुम्) लिह् + खश्=अभ्रंलिहानि अग्राणि येषां ते (बहु०) । प्रासादाः="प्रासादो देवभूभुजाम्" इत्यमरः । देवालय और राजभवनको "प्रासाद" कहते हैं ।

विद्युत्वन्तं=विद्योतन्त इति विद्युतः,वि + द्युत् + क्विप्। विद्युतः सन्ति यस्मिन् विद्युत्वान्, तं, "तदस्याऽस्त्यस्मिन्निति मतुप्"इति मतुप् । "तसौ मत्वर्थे" इति भसंज्ञत्वाज्जश्त्वाभावः । विद्युत् + मतुप् = विद्युत्वत् । सेन्द्रचापं=इन्द्रस्य चापः (ष० त०), इन्द्रचापेन सहितः सेन्द्रचापस्तम् (तुल्ययोगबहु०) स्निग्धगम्भीरघोषं=स्निग्धो गम्भीरो घोषो यस्य सः, तम् (बहु०)। स्निह + क्त=स्निग्धः । घुष + घञ्=घोषः । अन्तस्तोयम्=अन्तर्गतं तोयं यस्य सः, तम् (बहु०) । तुलयितुं=तुल + णिच् + तुमुन् । अलम्="अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम् ।" इत्यमरः । यह अव्यय है । इस श्लोकमें "विद्युत्वन्तम्" आदि उपमानोंके क्रमसे "ललितवनिताः" आदि उपमेयोंका कथन होनेसे यथासंख्य और आर्थी उपमा है, इस प्रकार इन दोनोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलंकार हो गया है ।।१।।

हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः ।
चूडापाशे नवकुरबकं चारु कर्णे शिरीषं
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् ।। २ ।।

अन्वयः--यत्र वधूनां हस्ते लीलाकमलम्, अलके बालकुन्दाऽनुविद्धम्,आनने लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतां नीता श्रीः, चूडापाशे नवकुरबकं कर्णे चारु शिरीषं सीमन्ते च त्वदुपगमजं नीपम् (अस्ति) ।। २ ।।

सम्प्रति सर्वदा सर्वर्तुसम्पत्तिमाह—हस्त इति ।

व्याख्या—(हे मेघ !) यत्र=अलकायां, वधूनां=स्त्रीणाम्, हस्ते=करे, लीलाकमलं=क्रीडापद्मम्, शरल्लिङ्गमिति भावः, अस्तीति शेषः, एवमन्यत्राऽपि। अलके=चूर्णकुन्तले, बालकुन्दाऽनुविद्धं=नवमाध्यपुष्पानुवेधः, हेमन्तचिह्नम्। आनने=मुखे, लोध्रप्रसवरजसा=लोध्रपुष्पपरागेण, पाण्डुतां=पाण्डुरतां, नीता=प्रापिता, श्री=शोभा, शिशिरचिह्नं, चूडापाशे=केशपाशे, नवकुरवकं=वासन्तः पुष्पविशेषः। कर्णे=श्रोत्रे, चारु=सुन्दरं, शिरीषं=शिरीषपुष्पं, ग्रैष्मः पुष्पविशेष इति भावः। सीमन्ते च=केशवेशे च, त्वदुपगमजं=त्वदागमनजन्यं वर्षर्तुजन्यमिति भावः। नीपं=कदम्बपुष्पम्, अस्तीति शेषः ॥ २ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! यत्राऽलकायां कामिनीनां करे कमलं, चूर्णकुन्तलेषु माध्यपुष्पगुम्फनम्, मुखशोभा लोध्रपुष्पपरागेण पाण्डुः, केशपाशे वासन्तं नवकुरवकपुष्पं श्रोत्रे सुन्दरं शिरीषपुष्पं, केशसीम्नि च त्वदाविर्भावजनितं कदम्बपुष्पं वर्तते ॥ २ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! जिस अलकापुरीमें सुन्दरियाँ छः ऋतुओंके फूलोंसे शृङ्गार करती हैं जैसे कि उनके हाथोंमें लीलाकमल, अलकोंमें माध्यपुष्पोंका गुम्फन (गूंथना), मुखमें लोध्रपुष्पोंके परागोंसे उज्ज्वल शोभा, केशपाशोंमें नूतन कुरवक पुष्प, कानमें सुन्दर शिरीष पुष्प और सीमन्त (माँग) में तुम्हारे आगमनसे उत्पन्न कदम्बपुष्प रहता है ॥ २ ॥

टिप्पणी—लीलाकमलं=लीलाऽर्थं कमलम्। (मध्यमपदलोपी समासः)। "लीलाकमल" कहनेमें शरत् ऋतुका चिह्न दिखाया है। अलके=अलकेषु, जातौ एकवचनम्। बालकुन्दाऽनुविद्धं=वालानि च तानि कुन्दानि (क० धा०)। अनु+व्यध्+क्तः (भावे)=अनुविद्धम्। "माध्यं कुन्दम्" इत्यमरः। बालकुन्दैः अनुविद्धम् (तृ० त०)। यद्यपि कुन्दपुष्प शिशिरमें होता है तथाऽपि इसका हेमन्तमें प्रादुर्भाव होता है और शिशिरमें प्रौढता होती है, इसलिए इसका "वाल" विशेषणकी सार्थकता है। "अलकम्" इस प्रथमान्त पाठमें सप्तमीके न रहनेसे प्रक्रमभङ्ग होनेसे भग्नप्रक्रम दोष होता है। लोध्रप्रसवरजसा=लोध्रस्य प्रसवाः (ष० त०), तेषां रजः, तेन (ष० त०)। "स्यादुत्पादे फले पुष्पे प्रसवो गर्भमोचने।" इत्यमरः।

जैसे आजकल स्त्रियाँ मुखमें पाउडर (powder) लगाती हैं, पूर्वकालमें उसी तरह लोध्रपुष्पका पराग लगाती थीं। पाण्डुतां=पाण्डोर्भावः पाण्डुता, ताम्, पाण्डु+तल्+टाप् "(तलन्तं स्त्रियाम्" इति लिङ्गानुशासनसूत्रम्)

नीता=नी+क्तः (कर्मणि) टाप्। श्रीः=प्रधानकर्म, "प्रधाने नीहृकृष्वहाम्" इस नियमके अनुसार प्रधान कर्म होनेसे कर्मवाच्य प्रयोगमें "श्री"में प्रथमा विभक्ति और अप्रधानकर्म होनेसे "पाण्डुता" में द्वितीया विभक्ति हुई हैं।

चूडापाशे=चूडानां पाशः, तस्मिन् (ष० त०)। "पाशः पक्षश्च हस्तश्च कलापार्थाः कचात् परे।" इत्यमरः। केशवाचक शब्दके अनन्तर रहने वाले पाश, पक्ष और हस्त ये शब्द, समूह अर्थके वाचक होते हैं। नवकुरवकं=कुरवकस्य विकारः कुरवकं, "तस्य विकारः" इत्यण्। "पुष्पमूलेषु बहुलम्" इति तस्य लुक्। कुरवक+अण् (लुक्)। नवं च तत् कुरवकम् (क० धा०)। सीमन्ते=सीम्नः अन्तः, तस्मिन् (ष० त०), केशवेशके अर्थ में 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्" इस वार्तिकसे पररूप हुआ है। केशवेशसे भिन्न अर्थमें दीर्घ होकर "सीमान्त" रूप बनता है। सीमन्तमस्त्रियां मस्तकेशवीथ्यामुदाहृतम्।" इति शब्दार्णवः। त्वदुपगमजम्=उपगमनम् उपगमः (उप+गम्+अप्)। तव उपगमः त्वदुपगमः (ष० त०)। "प्रत्ययोत्तरपदयोश्च" इस सूत्रसे प्रत्यय और उत्तरपदके परे रहते युष्मद् शब्दके स्थानमें "त्वत्" और अस्मद् शब्दके स्थानमें "मत्" आदेश होता है। यहाँ उत्तरपद उपगम है, इसलिए युष्मद् शब्दके स्थानमें "त्वत्" आदेश हुआ है। त्वदुपगमात् जातं, त्वदुपगम्+जन्+डः। नीपं=नीपस्य विकारः, नीप+अण् (लुक्)।

इस श्लोकमें अलकापुरीमें छः ऋतुओंका प्रादुर्भाव नित्य होनेका संकेत किया गया है। जैसेकि कमल शरत्में, कुन्दपुष्प हेमन्त और शिशिरमें, कुरवक वसन्तमें, शिरीष ग्रीष्ममें और कदम्बपुष्प वर्षामें होते हैं। अलकापुरी भोगभूमि हैं इसलिए उसमें सभी ऋतुओंके उपभोग्य पुष्प सर्वदा प्रस्तुत रहते हैं इसी बातको यहाँ प्रदर्शित किया है ॥ २ ॥

[यत्रोन्मत्तभ्रमरमुखराः पादपा नित्यपुष्पा
हंसश्रेणीरचितरशना नित्यपद्मा नलिन्यः।
केकोत्कण्ठा भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कलापा
नित्यज्योत्स्नाः प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः ॥ १ ॥]

अन्वयः—यत्र पादपा नित्यपुष्पाः (अत एव) उन्मत्तभ्रमरमुखराः, नलिन्यो नित्यपद्माः (अत एव) हंसश्रेणीरचितरशनाः, भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कलापाः (अत एव) केकोत्कण्ठाः, प्रदोषाः नित्यज्योत्स्नाः (अत एव) प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः ॥ १ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) यत्र=यस्याम् अलकायां, पादपाः=वृक्षाः, नित्यपुष्पाः=अनवरतकुसुमाः, न तु ऋतुनियमादिति भावः । अत एव—उन्मत्तभ्रमरमुखराः=उत्कटमधुकरैः शब्दायमानाः, सन्तीति शेषः । एवमुत्तरवाक्येष्वपि क्रियापदमध्याहार्यम् । नलिन्यः=पद्मिन्यः, नित्यपद्मा:=अनवरतकमलाः, न तु वर्जितहेमन्ता इति भावः । अतएव—हंसश्रेणीरचितरशनाः=चक्राऽङ्गपङ्क्तिविहितमेखलाः, नित्यं हंसपरिवेष्टिता इति भावः । भवनशिखिनः=क्रीडामयूराः, नित्यभास्वत्कलापाः=सततोज्ज्वलबर्हाः, न तु वर्षास्वेवेति भावः । अतएव—केकोत्कण्ठाः=स्ववाण्युन्नतगलाः, प्रदोषाः=रात्रयः, नित्यज्योत्स्नाः=अनवरतचन्द्रिकाः, न तु शुक्लपक्ष एवेति भावः । अतएव—प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः=निवारितान्धकारव्याप्तयो रमणीयाश्च सन्तीति शेषः ॥ १ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! यस्यामलकायां वृक्षाः सततं पुष्पसहिता मदोत्कटमधुकरमुखराश्च, कमलिन्यो नित्यकमला नित्यं हंसपरिवेष्टिताश्च, गृहमयूराः सततोज्ज्वलबर्हाः स्ववाणीभिरुन्नतगलाश्च, एवं रजन्यश्च नित्यचन्द्रिकोज्ज्वला निवारिताऽन्धकारप्रसरा रमणीयाश्च सन्ति ॥ १ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! जिस अलकामें पेड़, नित्य फूलोंसे युक्त और उन्मत्त भौरोंसे शब्दायमान हैं, कमललताएँ, कमलोंसे नित्य सम्पन्न और हंसोंकी पङ्क्तियोंसे मेखलाकी रचना करनेवाली है । गृहमयूर, नित्य उज्ज्वल पङ्खोंसे शोभित और शब्द करते समय ग्रीवाको ऊँचीं करते हैं तथा रातें, नित्य चाँदनीसे शोभित और अन्धकारके दूर होनेसे मनोहर दिखाई देती हैं ॥ १ ॥

टिप्पणी—पादपाः=पादैः पिबन्तीति, पाद+पा+क । नित्यपुष्पाः=नित्यानि पुष्पाणि येषां ते (बहु०)। उन्मत्तभ्रमरमुखराः=उन्मत्ताश्च ते भ्रमराः (क० धा०)। उद्+मद्+क्तः=उन्मत्ताः । मुखम् अस्ति एषां ते मुखराः, "रप्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्य उपसंख्यानम्" इति रप्रत्ययः । मुख+रः=मुखराः । मुखशब्दो लक्षणया वचनपरः । उन्मत्तभ्रमरैः मुखराः (तृ० त०)। उत्कट मदवाले भौरोंसे शब्दायमान, यह इसका अर्थ है । "उन्मत्तभ्रमरनिकराः" इति पाठान्तरं, तत्र उन्मत्ता भ्रमरनिकराः (भ्रमरसमूहाः) येषु ते (बहु०)। नलिन्यः=नल+इनिः+ङीप् (स्त्रीत्वविवक्षायाम्) । नित्यपद्माः=नित्यानि पद्मानि यासां ताः (बहु०)। हंसश्रेणीरचितरशनाः=हंसाना श्रेण्यः (ष० त०)। रचिता रशना यासां ताः (बहु०)। हंसश्रेणीभिः रचितरशनाः (तृ० त०) । भवनशिखिनः=शिखा अस्ति एषा ते शिखिनः,शिखा+इनिः । "क्रीडा-

दिभ्यश्च" इति इनिप्रत्ययः । भवने शिखिनः (स० त०) । नित्यभास्वत्कलापाः= भासते इति भाः, भास + क्विप् । भाः अस्ति एषां ते भास्वन्तः, भास् + मतुप् । भास्वन्तः कलापा येषां ते (बहु०) । नित्यं भास्वत्कलापाः (सुप् सुपा०) । केकोत्कण्ठाः = उन्नतः कण्ठो येषां ते उत्कण्ठाः (बहु०) । केकाभिः उत्कण्ठाः (तृ० त०) । "केका वाणी मयूरस्ये"त्यमरः । अन्यत्र मयूर वर्षा ऋतुमें ही केका (अपने शब्दों) से उत्कण्ठ (उन्नतकण्ठवाले) हैं यहाँपर सदा ही उत्कण्ठ हैं ।

प्रदोषाः=प्रकृष्टा दोषा एषां ते (बहु०) । दोषाश्च अन्धकारबाहुल्यादिरूपा बोध्याः । यद्यपि प्रदोष शब्द "प्रदोषो रजनीमुखम्" इस कोषोक्तिके अनुसार रजनीमुखका वाचक है तथापि यहाँपर लक्षणासे रात्रिका वाचक है । महाकविने अन्यत्र (रघुवंशमें) भी—"ज्योत्स्नावतो निर्विशति प्रदोषान्" इत्यादि प्रयोग किया है ।

नित्यज्योत्स्नाः = नित्या ज्योत्स्ना येषां ते (बहु०) । प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः = तमसो वृत्तिः (ष० त०) प्रति + हन् + क्त + टाप् + प्रतिहता । वृत् + क्तिन् = वृत्तिः । प्रतिहता तमोवृत्तिः येषां ते (बहु०) । प्रतिहततमोवृत्तयश्च ते रम्याः (क० धा०) ।

इस श्लोकसे नलिनियोंमें नायिकाभाव गम्य है परन्तु "हंसश्रेणीरचितरशना" इस पदमें नलिनियोंमें मण्डलाकार हंसश्रेणीमें रशनात्वका आरोप वाच्य है इसलिए "एकदेशविवर्ति रूपक" अलङ्कार है, तथा अन्य स्थानोंके पादप आदियोंकी अपेक्षा यहाँके पादप आदियोंका वैशिष्ट्यवर्णन रहनेसे व्यतिरेक एवम् आर्थी परिसंख्या अलङ्कार है तथा इन अलङ्कारोंकी परस्पर अपेक्षा न रखकर सत्ता होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है । यह श्लोक और आगामी श्लोक मल्लिनाथजीसे प्रक्षिप्त माने गये हैं ॥ १ ॥

[आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तै-
र्नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात् ।
नाप्यन्यस्मात्प्रणकलहाद्विप्रयोगोपपत्ति-
र्वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति ॥ २ ॥]

अन्वयः—यत्र वित्तेशानाम् आनन्दोत्थं नयनसलिलम्, अन्यैः निमित्तैः न इष्टसंयोगसाध्यात् कुसुमशरजात् अन्यः तापो न, प्रणयकलहात् अन्यस्मात् विप्रयोगोपपत्तिः अपि न, यौवनात् अन्यत् वयो न अस्ति खलु ॥ २ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) यत्र = अलकायां, वित्तेशानां = वित्ताऽधिपानां; यक्षाणामित्यर्थः। आनन्दोत्थं = हर्षजन्यं, नयनसलिलं = नेत्रजलम्, अश्रु इति भावः। अस्तीति शेषः, एवमन्यत्रापि। अन्यैः = अपरैः, निमित्तैः = कारणैः, शोकादिभिरिति भावः न = न वर्तते। इष्टसंयोगसाध्यात् = प्रियसमागमनिवारणीयात् न तु अप्रतिकार्यादिति भावः। कुसुमशरजात् = कामबाणजात्, अन्यः = अपरः, तापः = संतापः, न = न वर्तते। प्रणयकलहात् = प्रेमविग्रहात्, कृत्रिमकोपादिति भावः। अन्यस्मात् = अपरस्मात्, विप्रयोगोपपत्तिः अपि = विरहप्राप्तिः अपि, न = नो विद्यते। किं च यौवनात् = तारुण्यात्, अन्यत् = अपरं वयः = अवस्था, वार्धकरूपेति भावः। न अस्ति = न वर्तते, खलु = निश्चयेन ॥ २ ॥

सरलाऽर्थः—यत्राऽलकायां यक्षाणां हर्षोत्थमेव नयनजलं, तापः कामोत्पन्न एव विरहः प्रणयकोपादेव, एवं च तारुण्यादपरं (वार्धकरूपम्) वयश्च न वर्तते ॥ २ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! जिस अलकापुरीमें यक्षोंके आँसू आनन्दसे ही गिरते हैं, और कारणोंसे नहीं; प्रियसमागमसे हटायेजानेवाले कामबाणसे ही ताप है, और ताप नहीं; प्रेमकलहसे ही विरहप्राप्ति है दूसरे विषयसे नहीं। इसीप्रकार यौवनके सिवाय अन्य अवस्था (बुढ़ापा) नहीं है ॥ २ ॥

टिप्पणी--वित्तेशानां = वित्तानाम् ईशाः, तेषाम् (ष० त०)। "विद्लृ लाभे" धातुसे "वित्तो भोगप्रत्यययोः" इस सूत्रसे भोग और प्रत्ययके अर्थमें क्तप्रत्ययाऽन्त "वित्त" शब्दका निपात होता है। अर्थात् धन और प्रसिद्ध इन दो अर्थोंमें नत्वका अभाव होकर "वित्त" पद निष्पन्न होता है। "द्रव्यं वित्तं स्वापतेयं रिक्थमृक्थं धनं वसु।" इत्यमरः। "वित्ताऽधिपः कुबेरः स्यात्प्रभौ धनिकयक्षयोः।" इति शब्दाऽर्णवः।

आनन्दोत्थम् = आनन्दात् उत्तिष्ठतीति, आनन्द + उद् + स्था + कः (कर्तरि)। उपपदसमासः।

नयनसलिलं = नयनयोः सलिलम् (ष० त०)। अलकाके निवासी हर्षसे ही आँसू गिराते थे शोकसे नहीं। इष्टसंयोगसाध्यात्—इष् + क्तः = इष्टः। सं + युज् + घञ् = संयोगः (भावे)। साध + ण्यत् (कर्मणि) = साध्यः। इष्टेन संयोगः (तृ० त०), तेन साध्यः, तस्मात् (तृ० त०)। कुसुमशरजात् = कुसुमानि एव शराः (रूपक०)। तेभ्यो जातः, तस्मात्, कुसुमशर + जन् + डः (कर्तरि, भूते)। "अन्य" शब्देन योगे "अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाऽञ्चूत्तर-

पदाजाहियुक्ते" इति पञ्चमी । तापः = तप + घञ् । कामदेवके पुष्परूप बाण पाँच होते हैं, जैसे कि—"अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका । नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः ।" अर्थात् कमल, अशोकपुष्प, आम्रपुष्प, नवमल्लिका, और नीलकमल । उनके कामके अनुसार नाम भी यथाक्रम पाँच ही प्रकारके हैं, जैसे—

"उन्मादनस्तापनश्च शोषणः स्तम्भनस्तथा ।
संमोहनश्च कामस्य पञ्च बाणाः प्रकीर्तिताः ॥"

पागल बनाना, ताप करना; शोषण करना, स्तब्ध करना और मोहित करना उनके ये पाँच काम हुए ।

प्रणयकलहात्==प्रणयस्य कलहः, तस्मात् (ष० त०), "अन्य" शब्देन योगे पूर्वसूत्रेण पञ्चमी । विप्रयोगोपपत्तिः—वि + प्र + युज् + घञ् = विप्रयोगः, "विप्रलम्भो विप्रयोगः" इत्यमरः । उप + पद + क्तिन् (भावे)=उपपतिः । विप्रयोगस्य उपपत्तिः (ष० त०) । यौवनात् = यूनो भावो यौवनं, तस्मात् "हायनाऽन्तयुवादिभ्योऽण्" इत्यण् । युवन् + अण् । वयः = "खगबाल्यादिनोर्वयः" इत्यमरः ।

महाकवि कालिदासने अलकापुरीके ही समान हिमालय पर्वतके ओषधिप्रस्थ नामक नगरका कुमारसंभव महाकाव्यमें इस प्रकारसे वर्णन किया है:—

"यौवनाऽन्तं वयो यस्मिन्नाऽन्तकः कुसुमाऽऽयुधात् ।
रतिखेदसमुत्पन्ना निद्रा संज्ञाविपर्ययः ॥" ६–४४ ।

इस श्लोकमें चार परिसंख्याओंकी निरपेक्षतासे स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है । चन्द्रालोकमें उसका सोदाहरण लक्षण ऐसा दिया है—

"परिसंख्या निषिध्यैकमन्यस्मिन् वस्तुयन्त्रणम् ।
स्नेहक्षयः प्रदीपेषु, स्वान्तेषु न नतभ्रुवाम् ॥"

अर्थात् एकका निषेध कर दूसरेमें वस्तुका नियन्त्रण जहां होता है वहां परिसंख्या अलङ्कार होता है । जैसे कि यहाँपर नयनसलिल (आँसू) के और निमित्त (शोकादि) से होनेका निषेध कर आनन्दसे होनेमें नियन्त्रण हुआ है । वह निषेध शब्दसे होनेसे शाब्दी परिसंख्या और अर्थसे होनेसे आर्थी परिसंख्या होती है । प्रकृतमें शाब्दी परिसंख्या हैं ॥ २ ॥

यस्यां यक्षाः सितमणिमयानेत्य हर्म्यस्थलानि
ज्योतिश्छायाकुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहायाः ।
आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं
त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु ॥ ३ ॥

अन्वयः—यस्यां यक्षा उत्तमस्त्रीसहायाः सितमणिमयानि ज्योतिश्छायाकुसुमरचितानि हर्म्यस्थलानि एत्य त्वद्गम्भीरध्वनिषु पुष्करेषु शनकैः आहतेषु कल्पवृक्षप्रसूतं रतिफलं मधु आसेवन्ते ॥ ३ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) यस्याम् = अलकायां, यक्षाः = देवयोनिविशेषाः, उत्तमस्त्रीसहायाः = सुन्दरीसहचराः सन्तः, सितमणिमयानि = स्फटिकमणिखचितानि, चन्द्रकान्तमयानि मुक्तामयानि वा, ज्योतिश्छायाकुसुमरचितानि = तारकाप्रतिबिम्बरूपपुष्पपरिष्कृतानि, अथवा नक्षत्रादिच्छायाभिः पुष्पैश्च परिष्कृतानि । हर्म्यस्थलानि=सौधशिखराणि, औचित्यादयमर्थः । एत्य=प्राप्य, त्वद्गम्भीरध्वनिषु=त्वत्सदृशगभीरशब्दयुक्तेषु, पुष्करेषु=वाद्यभाण्डमुखेषु, शनकैः = मन्दम्, आहतेषु=कुशलैस्ताडितेषु सत्सु, कल्पवृक्षप्रसूतं=कल्पतरूत्पन्नं, रतिफलं= निधुवनफलं, मधु=मद्यम्, आसेवन्ते=पौनःपुन्येन सेवन्ते, पिबन्तीति भावः ॥३॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! यस्यामलकायां यक्षा ललितललनाभिः समं रजन्यां स्फटिकमणिमयानि तारकाप्रतिबिम्बरूपैः पुष्पैः परिष्कृतानि हर्म्याणि प्राप्य त्वादृशगम्भीरध्वनियुक्तेषु पुष्करेषु मन्दं ताडितेषु कल्पतरुजातं रतिफलाख्यं मद्यं वारंवारमास्वादयन्ति ॥ ३ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! जिस अलकापुरीमें यक्षगण सुन्दरियोंके साथ रातके समयमें स्फटिकोंसे बने हुए और ताराओंके प्रतिबिम्बरूप पुष्पोंसे परिष्कृत भवनोंकी अटारियोंमें जाकर तुम्हारे सरीखे गम्भीर शब्दवाले पुष्कर वाद्योंके धीरे धीरे बजाये जानेपर कल्पवृक्षसे उत्पन्न रतिक्रीडारूप फलवाले रतिफल नामके मद्यका वारंवार आस्वादन करते हैं ॥ ३ ॥

टिप्पणी—यक्षाः = देवयोनिविशेषाः । निधिपति होनेसे यक्षोंकी समृद्धि प्रसिद्ध ही है । उत्तमस्त्रीसहायाः = उत्तमाश्च ताः स्त्रियः (क० धा०), "पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु" इति उत्तमशब्दस्य पुंवद्भावः । उत्तमस्त्रियः सहाया येषां ते (बहु०) । यह पद "यक्षाः" इसका विधेय विशेषण है, अतः सुन्दरी यक्षियोंसे युक्त इसका यह अर्थ है । सितमणिमयानि=सिताश्च ते मणयः (क० धा०), सितमणिभिः प्रकृतानि (प्राचुर्येण प्रस्तुतानि), तानि 'तत्प्रकृतवचने

मयट्' इति मयट्। 'सितमणि'का शब्दार्थ है सफेद मणि, इसप्रकार सितमणि शब्दसे स्फटिक, मोती वा चन्द्रकान्तमणिको भी ले सकते हैं। ज्योतिश्छाया-कुसुमरचितानि=ज्योतिषां (ताराणाम्) छायाः (प्रतिबिम्बानि) (ष० त०)। "ज्योतिस्ताराग्निभाज्वालादृक्पुत्राऽर्थाऽध्वरात्मसु।" इति वैजयन्ती। ज्योतिश्छाया एव कुसुमानि (रूपक०) तैः रचितानि (तृ० त०)। अथवा ज्योतिश्छायाश्च (नक्षत्रताराग्रहप्रतिबिम्बानि च) कुसुमानि (पुष्पोपहाराः) च (द्वन्द्वः) तैः रचितानि (तृ० त०)। ज्योतिश्छाया पदसे रात्रिका समय अभिव्यक्त हो जाता हैं। महाकविने कुमारसम्भवमें ओषधिप्रस्थका वर्णन भी ऐसा ही किया है। जैसे कि—

"यत्र स्फटिकहर्म्येषु नक्तं सोपानपङ्क्तिषु।
ज्योतिषां प्रतिबिम्बानि प्राप्नुवन्त्युपहारताम्॥" ६–४२।

हर्म्यस्थलानि=हर्म्याणां स्थलानि (ष० त०), तानि। "हर्म्यादि धनिनां वासः" कोशके अनुसार धनियोंके भवनको "हर्म्य" कहते हैं। परन्तु यहाँपर "ज्योतिश्छाया०" पदके सन्निधान होनेसे हर्म्यका अग्रभाग (अटारी) लिया जाता है। एत्य=आङ्+इण्+क्त्वा (ल्यप्)। त्वद्गम्भीरध्वनिषु=गम्भीरश्चाऽसौ ध्वनिः (क० धा०)। तव इव गम्भीरध्वनिर्येषां ते; तेषु (व्यधिकरण-बहु०) पुष्करेषु—

"द्विरदकराऽग्रे पद्मे खड्गफले व्योम्नि वाद्यभाण्डमुखे।
अगदे जले च तीर्थे पुष्करमष्टासु निर्दिष्टम्॥"

इति भट्टहलायुधः।

शनकैः=शनैः एव "अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः" इत्यकच्। शनैस्+अकच्। आहतेषु=आङ्+हन्+क्तः। यहाँपर पुष्कर शब्दसे नृत्य और गीतका भी उपलक्षण होता हैं। मद्यपानका उत्सव बहुत समयतक होनेसे नृत्य, गीत और वाद्यका भी प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार किये गये संगीतके आयोजनमें वाद्यके जोरसे बजाये जानेपर गीतकी मधुरता दब जाती है, इसलिए यक्ष कहता है–"पुष्करेषु शनकैः आहतेषु" अर्थात् वाद्योंके धीरे-धीरे बजाये जानेपर। "भावे सप्तमी"। कल्पवृक्षप्रसूतं=कल्पवृक्षात्प्रसूतं, तत् (प० त०)। कल्पवृक्ष अभीष्ट फल देता है, अतः मधु भी उसीसे उत्पन्न लिया गया है रतिफलं=रतिः (निधुवनम्) फलं (प्रयोजनम्) यस्य तत्, (बहु०)। मल्लिनाथजीने मदिराऽर्णव नामक ग्रन्थका हवाला देकर "रतिफल" नामक मधुका वर्णन किया है।

आसेवन्ते = आङ् + सेव + लट् + झ । महाकवि यहाँपर "सेवन्ते" भी लिख सकते थे, जिसका अर्थ होता था सेवा करते हैं या पीते हैं, परन्तु आङ्का योग होनेंसे बारंबार पीते हैं वा अनेक प्रकारसे पीते हैं ऐसा अर्थ होता है । इस श्लोकमें उदात्त अलंकार है । जहांपर अलौकिक सम्पत्तिका वर्णन होता है अथवा महापुरुषोंका चरित्र प्रस्तुत (वर्णनीय) का अङ्ग होता है उसे उदात्त अलङ्कार कहते हैं । यह प्रथम प्रकारका उदात्त है ।

"लोकाऽतिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तगुच्यते ।
यद्वाऽपि प्रस्तुतस्याऽङ्गं महतां चरितं भवेत् ।।" साहित्यदर्पणः ।

इसी प्रकार "ज्योतिश्छायाकुसुमरचितानि" पदमें रूपकहै और "त्वद्गम्भीरध्वनिषु" इस समस्त पदमें लुप्तोपमा है । इस प्रकार इन तीनों अलङ्कारोंके परस्परमें निरपेक्षतासे स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार हो गया है ।। ३ ।।

मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः सेव्यमाना मरुद्भि-
र्मन्दाराणामनुतटरुहां छायया वारितोष्णाः ।
अन्वेष्टव्यैः कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः
संक्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः ।। ४ ।।

अन्वयः—यत्र अमरप्रार्थिताः कन्या मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः मरुद्भिः सेव्यमानाः अनुतटरुहां मन्दाराणां छायया वारितोष्णाः (सत्यः) कनकसिकता मुष्टिनिक्षेपगूढैः अन्वेष्टव्यैः मणिभिः संक्रीडन्ते ।। ४ ।।

व्याख्या--(हे मेघ !) यत्र = अलकायाम्, अमरप्रार्थिताः = सुरयाचिताः, सुन्दर्य इत्यर्थः । कन्या=यक्षकुमार्यः, मन्दाकिन्याः = आकाशगङ्गायाः, सलिलशिशिरैः=जलशीतलैः क्वचित् सलिलस्य स्थाने "पयसी"ति पाठस्तत्र जल इत्यर्थः। मरुद्भिः=वायुभिः, सेव्यमानाः = परिचर्यमाणाः,तथा अनुतटरुहां=तीरोत्पन्नानां, मन्दाराणां=मन्दारवृक्षाणां, छायया=अनातपेन, वारितोष्णाः = शमिताऽऽतपाः सत्यः, कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः=सुवर्णमयबालुकामुष्टिस्थापनगुप्तैः,अत एव—अन्वेष्टव्यैः=मृग्यैः, मणिभिः=रत्नैः, संक्रीडन्ते=सम्यक् क्रीडन्ति, गुप्तमणिसंज्ञया दैशिकक्रीडया सम्यक् क्रीडन्तीति भावः ।। ४ ।।

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! यत्राऽलकायां सौन्दर्याऽतिशयाद्देवयाचिका यक्षकुमार्य आकाशगङ्गाजलशीतलैर्वातैः परिचर्यमाणास्तटोत्पन्नानां मन्दारवृक्षाणां छायया निवारितातपाः सत्यो गुप्तमणिसंज्ञया दैशिकक्रीडया सम्यक् क्रीडन्ति ।। ४ ।।

अनुवादः--हे मेघ ! जिस अलकामें सुन्दरताके कारण देवताओंसे प्रार्थित

यक्षकुमारियां आकाशगङ्गाके जलसे शीतल वायुसे सेवित होकर तथा तीरमें उत्पन्न मन्दार वृक्षोंकी छायाके कारण धूपसे पीडित न होती हुई सुवर्णमय बालुओंमें मुट्ठी रखकर छिपाये गये अतएव ढूंढनेके योग्य मणियोंसे क्रीडा किया करती हैं ॥ ४ ॥

टिप्पणी—अमरप्रार्थिताः=अमरैः प्रार्थिताः (तृ० त०)। प्र+अर्थ+णिच्+क्तः (कर्मणि)=प्रार्थिताः। यक्षकन्यायें बहुत सुन्दरी थीं; अतः देवता भी उनकी प्रार्थना करते हैं, यह भाव इस पदसे निकलता है। कन्या="कन्या कुमारिकानार्यो:" इति विश्वः। "मन्दाकिनी वियद्गङ्गा स्वर्णदी सुरदीर्घिका।" इत्यमरः। सलिलशिशिरैः=सलिलेन शिशिराः, तैः (तृ० त०)। सेव्यमानाः=सेव्यन्त इति, सेव+लट् (शानच्, कर्मणि)। अनुतटरुहाम्=तटे इति अनुतटम्, विभवत्यर्थेऽव्ययीभावः। अनुतटं रोहन्तीति अनुतरुहस्तेषाम्, अनुतट+रुह+क्विप्, उपपदसमासः। "तटवनरुहाम्" इस पाठान्तरमें तटवने रोहन्तीति, तेषाम्, तटवन+रुह+क्विप् (उपपदसमासः)। मन्दाराणाम्=इन्द्रके नन्दन उद्यानके पाँच वृक्षोंमें मन्दार एक वृक्ष है। जैसे कि—

"पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः।
सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम्॥" (अमरकोशः)।

छायया=हेतौ वा करणे तृतीया। वारितोष्णाः=वारित उष्णो यासां ताः (बहु०)। वृ+णिच्+क्तः=वारिताः। कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः=कनकस्य सिकताः (ष० त०)। नि+क्षिप्+घञ्=निक्षेपः। मुष्टिभिर्निक्षेपः (तृ० त०)। कनकसिकतासु मुष्टिनिक्षेपः (स० त०)। गुह्+क्तः=गूढाः। कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपेण गूढास्तैः (तृ० त०)। अन्वेष्टव्यैः=अनु+इष्+तव्यत् (कर्मणि)=अन्वेष्टव्याः, तैः। मणिभिः=करणे तृतीया। संक्रीडन्ते=सम्+क्रीड+झ। "क्रीडोऽनुसंपरिभ्यश्च" इत्यात्मनेपदम्। इस श्लोकमें "गुप्तमणि" नामक एक दैशिक क्रीडाकी चर्चा की गई है, जिसमें कुछ बालिकाएँ सुनहरी बालुओंमें मुट्ठियोंके रत्नोंको छिपाती हैं और कुछ उन्हें ढूंढ़कर निकालती हैं। मल्लिनाथजीने शब्दार्णव कोषके निम्नस्थ श्लोक दिये हैं—

"रत्नादिभिर्वालुकाऽऽदौ गुप्तैर्द्रष्टव्यकर्मभिः।
कुमारीभिः कृता क्रीडा नाम्ना "गुप्तमणिः" स्मृता॥
रासक्रीडा गूढमणिर्गुप्तकेलिस्तुलायनम्।
पिच्छकन्दुकदण्डाद्यैः स्मृता दैशिकलयः॥" इति।

दक्षिणावर्तनाथने प्रक्षिप्त मानकर इस श्लोककी व्याख्या नहीं की है इस श्लोकमें लोकाऽतिशयसम्पत्तिका वर्णन होनेसे उदात्त अलङ्कार है ॥ ४ ॥

नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु ।
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान्
ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः ॥ ५ ॥

अन्वयः—यत्र अनिभृतकरेषु प्रियेषु नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं क्षौमं रागात् आक्षिपत्सु (सत्सु) ह्रीमूढानां बिम्बाऽधराणां चूर्णमुष्टिः अर्चिस्तुङ्गान् रत्नप्रदीपान् अभिमुखं प्राप्य अपि विफलप्रेरणा भवति ॥ ५ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) यत्र=अलकायाम्, अनिभृतकरणेषु = चञ्चलहस्तेषु, प्रियेषु=दयितेषु, नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं=वसनग्रन्थिबन्धत्रुटितश्लथं, क्षौमं= दुकूलं, राणात् = कामाऽऽवेशात्, आक्षिपत्सु=आहरत्सु सत्सु, अतः ह्रीमूढानां= लज्जाविधुराणां, बिम्बाऽधराणां=प्रमदाविशेषाणां, चूर्णमुष्टिः=मुष्टिपरिमितं कुङ्कुमादिचूर्णम्, अर्चिस्तुङ्गान् = मयूखोन्नतान्, रत्नप्रबीपान् = मणिदीपान्, अभिमुखं=संमुखं, प्राप्य अपि=आसाद्य अपि, विफलप्रेरणा = निष्फलवेगा, दीपनिर्वापणाऽसमर्थत्वादिति शेषः । भवति=वर्तते ॥ ५ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! यस्यामलकायां चञ्चलहस्तैः प्रियैः कामावेशादपहृतदुकूला यक्षसुन्दर्यो लज्जाऽतिशयेन मुष्टिमितकुङ्कुमादिचूर्णं प्रक्षिप्याऽपि रत्नप्रदीपान्निर्वापयितुमसफलप्रयासा भवन्ति ॥ ५ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! जिस अलकामें प्रियतम कामके आवेशसे चञ्चल हाथोंसे वस्त्रकी गाँठके टूटनेसे शिथिल प्रियतमाओंके रेशमी वस्त्रको जब खींचते हैं तब लज्जासे किंकर्तव्यतामूढ बिम्बफलके समान ओष्ठवाली सुन्दरियोंके मुष्टिपरिमित कुङ्कुम आदिका चूर्ण, उन्नत प्रकाशवाले रत्नदीपों तक पहुँचकर भी (प्रकाशके न बुतनेसे) निष्फल वेगवाला हो जाता है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—अनिभृतकरेषु = न निभृताः (नञ्०) । अनिभृताः करा येषां ते, तेषु (बहु०) । नि + भृ + क्तः = निभृताः नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं=नीवी एव बन्धः (रूपक०) । "नीवी परिपणे ग्रन्थौ स्त्रीणां जघनवाससि ।" इति विश्वः । स्त्रीके वस्त्रकी गाँठको "नीवी" कहते हैं ।

उद् + श्वस् + क्तः (भावे)=उच्छ्वसितम् । नीवीबन्धस्य उच्छ्वसितं (ष० त०), तेन शिथिलं, तत् (तृ० त०) यहाँपर नीवीका अर्थ वसनग्रन्थि है,

ग्रन्थि और बन्ध एक ही चीज के नाम हैं इसलिए षष्ठीतत्पुरुष करनेपर पुनरुक्ति होगी इसलिए मल्लिनाथजीने रूपक किया है। अथवा नीवीका अर्थ है साड़ी, इसलिए नीव्या बन्धः इस प्रकार षष्ठीतत्पुरुष समास भी कर सकते हैं। समस्त पदका भावार्थ हुआ प्रियतमके दर्शनमात्रसे वस्त्रग्रन्थिके टूट जानेसे शिथिल। क्षौमं=क्षुमाया विकारः क्षौमं, तत्, क्षुमा+अण्। "अतसी स्यादुमा क्षुमा" इत्यमरः। रागात्=रञ्ज=घञ् (भावे), हेतौ पञ्चमी।

आक्षिपत्सु=अक्षिपन्तीति आक्षिपन्तः, तेषु, आङ्+क्षिप्+लट् (शतृ), ह्रीमूढानां=ह्रिया मूढाः, तासाम् (तृ० त०)। मुह्+क्त+टाप्=मूढाः। प्रियतमसे वस्त्रके खींचे जानेपर लज्जासे किंकर्तव्यताविमूढ, यह इसका अर्थ हुआ। बिम्बाऽधराणां=बिम्बम् इव अधरो यासां ता बिम्बाऽधराः, तासाम् (बहु०)। यहाँपर अधर शब्दके बह्वच् होनेसे "न क्रोडादिबह्वचः" इस सूत्रसे निषेध होनेसे "स्वाऽङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्" इस सूत्रसे ङीष् नहीं हुआ। बिम्बफलके समान (लाल) ओष्ठवाली स्त्रीको "बिम्बाधरा" कहते हैं। अथवा प्रियतमके बारंबार चुम्बन करनेसे वा दशनक्षत करनेके कारण बिम्बफलके समान जिनके लाल ओष्ठ हैं, वे "बिम्बाऽधरा" कहलाती हैं। अथवा—

"विशेषाः कामिनी कान्ता भीरुर्बिम्बाऽधराङ्गना।"

शब्दार्णवकी इस उक्तिके अनुसार स्त्रीविशेषको "बिम्बाधरा" कहते हैं। इस अर्थमें यह पङ्कज आदि पदके समान योगरूढ हुआ है। चूर्णमुष्टिः=चूर्णस्य (कुङ्कुमस्य, मुखवासाद्यर्थं कर्पूरादेर्वा) मुष्टिः (ष० त०)। चूर्णमुष्टि कहनेसे मुट्ठी बराबर केशर वा कर्पूर आदि सुगन्धित द्रव्योंका चूर्ण समझना चाहिए। अर्चिस्तुङ्गान्=अर्चिभिः तुङ्गाः, तान् (तृ० त०)। "अर्चिर्मयूखशिखयोः" इति विश्वः। "अर्चिः" पदका यहाँपर किरण अर्थ है। रत्नप्रदीपान्=रत्नान्येव प्रदीपाः, तान् (रूपक०)। अभिमुखम्=मुखम् अभिलक्ष्य "लक्षणेनाऽभिप्रती आभिमुख्ये" इत्यव्ययीभावः। प्राप्य=प्र+आप्+क्त्वा (ल्यप्)। विफलप्रेरणा=विगतं फलं यस्याः सा विफला (बहु०), तादृशी प्रेरणा यस्याः सा (बहु०)।

यहाँपर अपनी नग्नतासे उत्पन्न लज्जाके कारण प्रकाशको हटानेके लिए रत्नदीपोंमें चूर्णमुष्टि प्रक्षेप रूप निष्फल कर्म करनेसे यक्षसुन्दरियोंकी मुग्धता जानी जाती है। इस श्लोकमें चूर्णमुष्टिरूप हेतुके होनेपर भी रत्नप्रदीपके निर्वाणरूप फलके न होनेसे विशेषोक्ति अलङ्कार है और "बिम्बाऽधराणाम्" इस समस्त पदमें

लुप्तोपमा है। इस प्रकार इन दोनों अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेके सङ्कर अलङ्कार हो गया है ॥ ५ ॥

नेत्रा नीताः, सततगतिना यद्विमानाग्रभूमी-
रालेख्यानां स्वजलकणिकादोषमुत्पाद्य सद्यः ।
शङ्कास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशा जालमार्गै-
र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥ ६ ॥

अन्वयः—(हे मेघ !) नेत्रा सततगतिना यद्विमानाऽग्रभूमीः नीताः त्वादृशा जलमुचः आलेख्यानां स्वजलकणिकादोषम् उत्पाद्य सद्यः शङ्कास्पृष्टा इव धूमोद्गाराऽनुकृतिनिपुणा जर्जराः (सन्तः) जालमार्गैः निष्पतन्ति ॥ ६ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) नेत्रा=प्रेरकेण, तत्र तत्र स्वसंचारकेणेति भावः। सततगतिना=सदागतिना, वायुनेत्यर्थः। यद्विमानाऽग्रभूमीः=यत्प्रासादोपरिभूमिकाः, नीताः–प्रापिताः, त्वादृशाः=त्वत्सदृशाः, जलमुचः=मेघाः, आलेख्यानां=चित्राणां, स्वजलकणिकादोषम्=निजसलिललवस्पर्शदूषणम्, उत्पाद्य=जनयित्वा, सद्यः=तत्क्षणे, दोषोत्पादनाऽनन्तरमेवेति भावः। शङ्कास्पृष्टा इव=साऽपराधत्वाद्भयाविष्टा इव, "कृताऽपराधः स्वयमेव शङ्कत" इति न्यायादिति भावः। धूमोद्गाराऽनुकृतिनिपुणाः=धूमनिर्गमाऽनुकरणकुशलाः, तत्तुल्यवर्णत्वाद् धूमजालत्वेनाऽऽत्मानमपह्नोतुं प्रवीणा इति भावः। जर्जराः=विशीर्णाः (सन्तः), जालमार्गैः=गवाक्षरन्ध्रैः, निष्पतन्ति=निष्कामन्ति ॥ ६ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! यथा केनचिदन्तःपुरसंचारिणा दूतेन गूढवृत्त्या रहस्यस्थानं नीतास्तव स्त्रीणां व्यभिचारदोषं जनयित्वा तदनन्तरं शङ्कया वेषान्तरेण जारा यथा क्षुद्रमार्गैर्निःसरन्ति तथा स्वप्रेरकेण वायुना यत्र अलकायां प्रासादोपरिभूमिकायां प्रापितास्त्वत्सदृशा मेघाश्चित्राणां स्वसलिललवैर्दूषणमुत्पाद्य पश्चादातङ्कादिव धूमनिर्गमाऽनुकरणं कृत्वा गवाक्षमार्गैः पलायन्ते ॥ ६ ॥

अनुवादः—हे मेव ! अपने प्रेरक वायुसे जिस अलकाके प्रासादोंके ऊँचे भागोंमें पहुँचाये गये तुम्हारे समान मेघ चित्रोंको अपने जलके बिन्दुओंसे दूषित करके उसी क्षण शङ्कित-से होकर धूएँके समान कुशल जर्जर होते हुए झरोखोंसे निकल जाते हैं ॥ ६ ॥

टिप्पणी–नेत्रा=नयतीति नेता, तेन, नी+तृच्+टाप्। सततगतिना=सततं गतिर्यस्य सः, तेन (बहु०)। "मातरिश्वा सदागतिः" इत्यमरः। यद्विमानाऽग्रभूमीः=यस्याः (अलकायाः) विमानानि (ष० त०)। अग्राश्च ता भूमयः

(क० धा०) । यद्विमानानाम् अग्रभूमयः, ताः (ष० त०) । नीताः=नी + क्तः (कर्मणि) । त्वादृशाः=त्वमिव एते पश्यन्तीति "त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च" इति कञ्, युष्मद् + दृश् + कञ्, "आ सर्वनाम्नः" इति आकारोऽन्तादेशः । जलमुचः=जलं मुञ्चन्तीति, जल + मुच् + क्विप्, (उपपदसमासः) । आलेख्यानां="चित्रं लिखितरूपाढ्यं स्यादालेख्यं तु यत्नतः ।" इति शब्दाऽर्णवः । स्वजलकणिकादोषं=कणा एव कणिकाः (स्वाऽर्थे कन्) । स्वस्य जलं (ष० त०), तस्य कणिकाः (ष० त०), ताभिः दोषः, तम् (तृ० त०) । "सलिलकणिकादोषम्" इति "नवजलकणैर्दोषम्" इति च पाठान्तरम् । उत्पाद्य=उद् + पद् + णिच् + क्त्वा (ल्यप्) । शङ्कास्पृष्टाः=शङ्कया स्पृष्टाः (तृ० त०) । "शङ्का वितर्कभययोः" इति शब्दाऽर्णवः । धूमोद्गाराऽनुकृतिनिपुणा=उद्गरणम् उद्गारः, उद् + गॄ + घञ् (भावे) । अनुकरणम् अनुकृतिः, अनु + कृ + क्तिन् । धूमस्य उद्गारः (ष० त०), तस्य अनुकृतिः (ष० त०), तस्यां निपुणाः "साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः" इति सप्तमी, ततः "सप्तमी शौण्डैः" इति समासः । जलमार्गैः=जालानां मार्गास्तैः (ष० त०) करणे तृतीया । अत्र "यन्त्रजालैः" इति "यत्र जालैः" इति च पाठान्तरम् । तत्र "यन्त्रजालैः" इत्यस्य यन्त्रनिर्मितानि जालानि, तैः, (मध्यमपदलोपी समासः) । यन्त्रोंसे बने हुए झरोखोंसे, यह इसका अर्थ है । "यत्र जालैः" इत्यत्र यत्र=यस्याम्, अलकायामित्यर्थः । निष्पतन्ति=निस् + पत् + लट् + झि । इस श्लोकमें अन्तःपुरमें सञ्चरण करनेवाले दूतसे गुप्तरूपसे एकान्त स्थानमें पहुँचाये गये जार, जैसे वहाँपर स्त्रियोंको व्यभिचारसे दूषित कर अनन्तर पकड़े जानेके भयसे वेश बदलकर क्षुद्र मार्गोंसे भाग जाते हैं उसी प्रकार वायुसे अलकाके प्रासादोंके ऊँचे भागोंमें पहुँचाये जाते हुए मेघ भी अपने जलकणोंसे चित्रको दूषित कर शङ्कित होते हुए झरोखोंके मार्गोंसे निकलते हैं ऐसी ध्वनि निकलती है । स्त्रियाँ और आलेख्यमें लिङ्गकी समता न होनेसे यहाँ समासोक्ति अलंकार नहीं है, अलवत्ता "शङ्कास्पृष्टा इव" इस अंशमें उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥ ६ ॥

यत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छ्वासितानाम्-
ङ्गग्लानिं सुरतजनितां तन्तुजालावलम्बाः ।
त्वत्संरोधापगमविशदैश्चन्द्रपादैर्निशीथे
व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ताः ॥ ७ ॥

अन्वयः–यत्र निशीथे त्वत्संरोधाऽपगमविशदैः चन्द्रपादैः स्फुटजललवस्यन्दिनः

तन्तुजालाऽवलम्बाः चन्द्रकान्ताः प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छ्वासितानां स्त्रीणां सुरतजनिताम् अङ्गग्लानिं व्यालुम्पन्ति ॥ ७ ॥

व्याख्या––(हे मेघ !) यत्र=अलकायां, निशीथे=अर्धरात्रे, त्वत्संरोधाऽपगमविशदैः=त्वदावरणविरहनिर्मलैः, चन्द्रपादैः=इन्दुकिरणैर्हेतुभिः, स्फुटजललवस्यन्दिनः=व्यक्तवारिबिन्दुस्राविणः, तन्तुजालाऽवलम्बाः=सूत्रसमूहग्रथिताः, वितानाऽधोभाग इति शेषः । चन्द्रकान्ताः=चन्द्रकान्तमणयः, चन्द्रोदये द्रवीभावशीलाः शिलाविशेषा इति भावः । प्रियतमभुजाऽऽलिङ्गनोच्छ्वासितानां =दयिततमबाह्वाश्लेषप्रशिथिलीकृतानां, "प्रियतमभुजोच्छ्वासिताऽऽलिङ्गितानाम्" इति पाठे दयिततमबाहुदृढालिङ्गितानामित्यर्थः । स्त्रीणां=योषितां, सुरतजनितां=रतिक्रीडोत्पन्नाम्, अङ्गग्लानिं=शरीरखेदम्, अवयवानां ग्लानतामिति भावः । व्यालुम्पन्ति=निवारयन्ति ॥ ७ ॥

सरलाऽर्थः––हे मेघ ! यत्राऽर्धरात्रे मेघाऽऽवरणविगमेनोज्ज्वलैरिन्दुकिरणैरम्बुस्राविणो वितानाऽधोभागे सूत्रसमूहगुम्फिताश्चन्द्रकान्तमणयो दयितभुजाऽऽलिङ्गनेन प्रशिथिलीकृतानां ललनानां निधुवनक्लमं निवारयन्ति ॥ ७ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! जिस अलकामें आधीरातमें तुम्हारी रुकावट न रहनेसे निर्मल चन्द्रमाकी किरणोंसे व्यक्त रूपसे जलबिन्दुओंको टपकानेवाली चाँदनीके नीचे सूत्रसमूहसे गुम्फित चन्द्रकान्त मणियाँ प्रियतमोंकी बाहुओंके आलिङ्गनसे शिथिल हो जानेवाली स्त्रियोंकी रतिक्रीडासे उत्पन्न शरीरके खेदको हटाती हैं॥७॥

टिप्पणी—निशीथे="अर्द्धरात्रनिशीथौ द्वौ" इत्यमरः । त्वत्संरोधाऽपगमविशदैः=संरोधनं संरोधः, सम् + रुध + घञ् । अपगमनम् अपगमः, अप + गम् + अप् । तव संरोधः (ष० त०), तस्य अपगमः (ष० त०), तेन विशदाः, तैः (तृ० त०) । चन्द्रपादैः=चन्द्रस्य पादाः, तैः (ष० त०), हेतौ तृतीया । स्फुटजललवस्यन्दिनः=जलस्य लवाः (ष० त०) स्फुटाश्च ते जललवाः (क० धा०), तान् स्यन्दन्ते तच्छीलाः, स्फुटजललव + स्यन्द् + णिनिः । उपपद० । तन्तुजालाऽवलम्बाः=तन्तूनां जालम् (ष० त०), तत् अवलम्बो येषां ते (बहु०) । प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छ्वासितानां=प्रीणन्तीति प्रियाः, प्री + कः । अतिशयेन प्रियाः प्रियतमाः, "अतिशायने तमविष्ठनौ" इति तमप्, प्रिय + तमप् । तेषां भुजाः (ष० त०), तैः आलिङ्गनानि (तृ० त०), तेषु उच्छ्वासिताः, तासाम् (स० त०) । उन्नताः श्वासाः यासां ता उच्छ्वासाः (बहु०) । उच्छ्वासाः कृताः "तत्करोति तदाचष्टे" इति णिजन्तात् क्तः, उच्छ्वास +

णिच् + क्त + टाप् "प्रियतमभुजोच्छ्वासिताऽऽलिङ्गितानाम्" इति पाठान्तरे— प्रियतमानां भुजाः (ष० त०), उच्छ्वासितं यथा तथा आलिङ्गिताः (सुप्सुपा समासः), प्रियतमभुजैः उच्छ्वासिताऽऽलिङ्गिताः, तासाम् (तृ० त०) सुरतजनितां=सुरतेन जनिता, ताम् (तृ० त०)। अङ्गग्लानिम् + अङ्गानां ग्लानिः, ताम् (ष० त०)। ग्लै + क्तिन् (भावे)=ग्लानिः। व्यालुम्पन्ति=वि + आङ् + लुप् + झि।

इस श्लोकमें समृद्धिपूर्ण वस्तुका वर्णन करनेसे उदात्त अलंकार है। लक्षण पहले ही दे चुके हैं ॥ ७ ॥

अक्षय्यान्तर्भवननिधयः प्रत्यहं रक्तकण्ठै-
रुद्गायद्भिर्धनपतियशः किन्नरैर्यत्र सार्धम्।
वैभ्राजाख्यं विबुधवनितावारमुख्यासहाया
बद्धालापा बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति ॥ ८ ॥

अन्वयः—यत्र अक्षय्याऽन्तर्भवननिधयो विबुधवनितावारमुख्यासहाया बद्धालापाः कामिनः प्रत्यहं रक्तकण्ठैः धनपतियश उद्गायद्भिः किन्नरैः सार्धं वैभ्राजाऽऽख्यं बहिरुपवनं निर्विशन्ति ॥ ८ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) यत्र=यस्याम्, अलकायाम्। अक्षय्याऽन्तर्भवननिधयः=अपरिमेयभवनाऽभ्यन्तरशेवधयः, विबुधवनितावारमुख्यासहायाः=अप्सरोरूपाजीवासहायाः, बद्धालापाः=विहितसंभाषणाः, कामिनः=कामुकाः, प्रत्यहं=प्रतिदिनं, रक्तकण्ठैः=मधुरकण्ठध्वनिभिः, धनपतियशः=कुबेरकीर्तिम्, उद्गायद्भिः=उच्चैर्गायद्भिः, गान्धारग्रामेण गायद्भिरिति भावः। तादृशैः किन्नरैः=किम्पुरुषैः, सार्धं=सह, वैभ्राजाऽऽख्यं=वैभ्राजनामधेयं, चैत्ररथमिति भावः, कुबेरोद्यानमिति यावत्। बहिरुपवनं=बाह्योद्यानं, निर्विशन्ति=अनुभवन्ति॥८॥

सरलाऽर्थः—(हे मेघ !) यत्राऽलकायामपरिमेयधना अप्सरःसहचराः कामुकाः प्रतिदिनं सुश्राव्यकण्ठस्वरैः कुबेरयशोगायकैः किम्पुरुषैः समं चैत्ररथाख्यं बाह्योद्यानं सेवन्ते ॥ ८ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! जिस अलकामें भवनके भीतर अक्षय्य निधियोंसे सम्पन्न, देवस्त्रियां अप्सराओंको साथमें लिये हुए और बातचीत करते हुए कामुकगण प्रतिदिन मधुर कण्ठध्वनिवाले और कुबेरके यशका ऊँचे स्वरसे गान करनेवाले किन्नरों के साथ कुबेरके वैभ्राज नामवाले बाह्य उद्यानमें सुखका अनुभव करते रहते हैं॥८॥

टिप्पणी—अक्षय्याऽन्तर्भवननिधयः=क्षेतुं शक्याः क्षय्याः, "क्षय्यजय्य

शक्यार्थे'' इति निपातः, क्षि (अय्) + यत् । न क्षय्याः (नञ्०) । भवनेषु इति अन्तर्भवनम्, ''अव्ययं विभक्ती'' त्यादिना विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । अन्तर्भवने निधयः (स० त०) अक्षय्या अन्तर्भवननिधयो येषां ते (बहु०) । विबुधवनितावारमुख्यासहायाः = विबुधानां वनिताः (ष० त०), अप्सरस इत्यर्थः । वारे (वेश्यावृन्दे) मुख्याः (स० त०) । ''सत्कृता वारमुख्या स्यात्'' इत्यमरः । वेश्यासमूहमें सत्कारप्राप्त वेश्याको ''वारमुख्या'' कहते हैं । विबुधवनिता एव वारमुख्याः (रूपकसमासः) । विबुधवनितावारमुख्याः सहाया येषां ते (बहु०) । नृत्य, गीत और वादित्र आदि सुकुमार कलाओंमें कुशल अप्सराओंको साथमें लिये हुए यह समस्तपदका अर्थ है । बद्धालापाः=बन्ध + क्तः=बद्धः । आलपनम् आलापः, आङ् + लप + घञ् (भावे) । ''स्यादाभाषणमालाप'' इत्यमरः । बद्ध आलापो यैस्ते (बहु०) । इसके स्थानमें कहींपर ''बद्धापानम्'' ऐसा पाठान्तर देखा जाता है, उसमें बद्धम् आपानं (पानगोष्ठिका) यस्मिस्तद् (बहु०) ऐसा विग्रह कर ''वहिरुपवनम्'' इसका विशेषण समझना चाहिए । कामिनः= कामयन्ते तच्छीला इति, कमु + णिनिः ।

प्रत्यहम् = अहनि अहनि, ''अव्ययं विभक्ती'' त्यादिना वीप्सारूप-यथाऽर्थेऽव्ययीभावः । रक्तकण्ठैः—यहाँपर ''कण्ठ'' पदका कण्ठस्वरके अर्थमें लक्षणा करनी चाहिए । रक्तः (मधुरः) कण्ठः (कण्ठस्वरः) येषां ते, तैः (वहु०) । धनपतियशः = धनानां पतिः (ष० त०), तस्य यशस्तत् (ष० त०) । उद्गायद्भिः = उच्चैर्गायन्तस्तैः, उद् + गै + लट् + (शतृ) । देवताओंके गानमें गान्धार ग्राम होनेसे ऊँचे स्वरसे गाते हुए यह इसका तात्पर्य है । इसी प्रकारका भाव महाकविकी अन्य रचनाओंमें भी पाया जाता है, जैसे कि कुमारसंभवके प्रथमसर्गके अष्टम श्लोकमें है––

> ''यः पूरयन्कीचकरन्ध्रभागान्दरीमुखोत्थेन समीरणेन ।
> उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ॥''

ऐसा ही रघुवंशके द्वितीयसर्गका द्वादश श्लोक है—

> ''शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः ।''

किन्नरैः=''सार्धम्''के योगमें ''सहयुक्तेऽप्रधाने'' इस सूत्रसे तृतीया हुई है । वैभ्राजाख्यं = विभ्राजस्येदं वैभ्राजं, ''तस्येदम्'' इत्यण् । विभ्राज + अण् । वैभ्राजम् आख्या यस्य, तत् (बहु०) । ''विभ्राजेन गणेन्द्रेण जातं वैभ्राजमाख्यया ।'' इति शम्भुरहस्यम् । विभ्राजनामके गणेन्द्रसे रचित होनेसे वैभ्राज

नाम हुआ । निर्विशन्ति=निर् + विश् + लट् + झि । "निर्वेश उपभोगः स्यात्" इत्यमरः । इस श्लोकमें भी उदात्त अलङ्कार है । दक्षिणावर्तनाथ आदि टीकाकारोंने इसे और दूसरे श्लोकको भी प्रक्षिप्त माना है ॥ ८ ॥

गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः,
पत्रच्छेदैः, कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च ।
मुक्ताजालैः, स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारै-
र्नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ॥ ९ ॥

अन्वयः—यत्र कामिनीनां नैशो मार्गः सवितुः उदये गत्युत्कम्पात् अलकपतितैः मन्दारपुष्पैः, पत्रच्छेदैः, कर्णविभ्रंशिभिः कनककमलैः मुक्ताजालैः, स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैः हारैश्च सूच्यते ॥ ९ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) यत्र=अलकायां, कामिनीनां=विलासिनीनाम्, अभिसारिकाणामिति भावः । नैशः=निशासम्बन्धी, मार्गः=पन्थाः, सवितुः=सूर्यस्य, उदये=उद्गमे सति, गत्युत्कम्पात्=गमनचलनात्, अलकपतितैः=चूर्णकुन्तलस्रस्तैः, मन्दारपुष्पैः=सुरतरुकुसुमैः, पत्रच्छेदैः=पत्रलताखण्डैः, कर्णविभ्रंशिभिः=श्रोत्रच्युतैः, कनककमलैः=सुवर्णपद्मैः, मुक्ताजालैः=मौक्तिकसरैः, शिरोनिहितैरिति शेषः । स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैः=कुचप्रदेशत्रुटिततन्तुभिः, हारैश्च=मौक्तिकमाल्यैश्च, सूच्यते=ज्ञाप्यते । मार्गपतितमन्दारपुष्पादिचिह्नैरभिसारिकाणां मार्गोऽनुमीयत इति भावः ॥ ९ ॥

सरलार्थः—हे मेघ ! यत्राऽलकायां सूर्योदये सति गतिवशाच्चूर्णकुन्तलस्रस्तैः सुरतरुकुसुमैः, पतितैः स्वर्णलताखण्डैः श्रोत्रच्युतैः स्वर्णकमलैः शिरोनिहितैर्मौक्तिकसरैः कुचप्रदेशत्रुटिततन्तुभिर्हारैश्चायमभिसारिकाणां रात्रिसम्बन्धी मार्ग इत्यनुमीयते ॥ ९ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! जिस अलकामें अभिसारिकाओंका रातका मार्ग सूर्योदय होनेपर गतिके कारण अलकोंसे गिरे हुए मन्दारपुष्पोंसे, पत्रलताओंके टुकड़ोंसे, कानोंसे गिरे हुए सुवर्णकमलोंसे, शिरःस्थित मोतियोंकी लड़ियोंसे और कुचप्रदेशपर टूटे हुए सूत्रोंवाले हारो (मोतियोंकी मालाओं) से जाना जाता है ॥ ९ ॥

टिप्पणी—कामिनीनां=प्रशस्तः कामः अस्ति यासां ताः कामिन्यः, तासाम् काम + इनि + ङीप् । "कामश्चाऽष्टगुणः स्मृतः" स्त्रियोंका कामवेग पुरुषोंसे आठ गुना होता है । चाणक्यकी इस उक्तिके अनुसार स्त्रियोंको "कामिनी" कहते हैं । यहाँपर कामिनी पदसे कामिनीविशेष अर्थात् अभिसारिका ली जाती

है। अभिसारिका दो प्रकारकी होती हैं, अपने पास प्रियतमको बुलानेवाली और स्वयम् प्रियतमके पास जानेवाली। यहाँपर दूसरी अभिसारिका प्रतीत होती है।

“कान्ताऽर्थिनी तु या याति सङ्केतं साऽभिसारिका।” इत्यमरः।

नैशः=निशि निशायां वा भवः “तत्र भव” इत्यण्। निश् वा निशा+अण्। सवितुः=सूत इति सविता, तस्य, सू+तृच्=सवितृ। उदये=उदयनम् उदयस्तस्मिन् उद्+इ+अच्, भावे सप्तमी। गत्युत्कम्पात्=गमनं गतिः, गम्+क्तिन्। उत्कम्पनम् उत्कम्पः, उद्+कम्प+घञ् (भावे)। गत्या (गमनेन) उत्कम्पः (चलनम्) तस्मात् (तृ० त०), हेतौ पञ्चमी। अभिसारिकाओंके गमनमें शीघ्रताके कारण उनका शरीर डोलता था, अतः उनके अलक आदिसे मन्दारपुष्प आदि गिर पड़े यह इसका तात्पर्य है।

अलकपतितैः=पत्+क्तः (कर्तरि)=पतितानि। अलकेभ्यः पतितानि, तैः (प० त०)। मन्दारपुष्पैः=मन्दारस्य पुष्पाणि, तैः (ष० त०), पाँच प्रकारके देववृक्षोंमें मन्दार भी एक वृक्ष है। पत्रच्छेदैः=पत्राणां छेदाः तैः (ष० त०)। छिद्+घञ्=छेदाः। कर्णविभ्रंशिभिः=कर्णेभ्यो विभ्रश्यन्तीति तच्छीलानि कर्णविभ्रंशीनि तैः, कर्ण+वि+भ्रंश+णिनिः। कनकमलैः=कनकस्य कमलानि, तैः (ष० त०)। यहाँपर मल्लिनाथजी लिखते हैं कि षष्ठ्यन्त पदसे विवक्षित अर्थका लाभ होनेपर कनकमयानि कमलानि, तैः, इस प्रकार मयट्प्रत्ययाऽन्त पदसे विग्रह करनेपर अध्याहारदोष हो जाता है। मुक्ताजालैः=मुक्तानां जालानि, तैः (ष० त०)।

स्तनपरिसिरच्छिन्नसूत्रैः=स्तनयोः परिसरः (ष० त०). छिन्नानि सूत्राणि येषां ते (बहु०)। स्तनपरिसरे छिन्नसूत्राः, तैः (स० त०)। “हारैः” इसका विशेषण।

सूच्यते=सूच+णिच्+लट् (कर्मणि)+त।

यहाँपर रातके मार्गके सूचन कार्यके प्रति अलक आदियोंसे गिरे हुए मन्दारपुष्प आदि बहुतसे कारणोंका प्रतिपादन होनेसे समुच्चय और मन्दारपुष्प आदि साधनोंसे अभिसारिकाओंके रात्रिमार्ग रूप साध्यके ज्ञानसे अनुमान अलङ्कार हैं॥९॥

मत्वा देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद्वसन्तं
प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम्।
सभ्रूभङ्गप्रहितनयनैः कामिलक्ष्येष्वमोघैः
स्तस्यारम्भश्चतुरवनिताविभ्रमैरेव सिद्धः॥ १०॥

अन्वयः—यत्र मन्मथो धनपतिसखं देवं साक्षात् वसन्तं मत्वा भयात् षट्पदज्यं चापं प्रायो न वहति । तस्य आरम्भः सभ्रूभङ्गप्रहितनयनैः कामिलक्ष्येषु अमोघैः चतुरवनिताविभ्रमैः एव सिद्धः ॥ १० ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) यत्र = अलकायां, मन्मथः = कामः, धनपतिसखं = कुबेरमित्रं, देवं=महादेवं, साक्षात्=प्रत्यक्षं, न तु प्रतिमारूपेण,वसन्तं=विद्यमानं, सखिस्नेहादिति शेषः । मत्वा = ज्ञात्वा, न तु दृष्ट्वेति शेषः । भयात् = भीतेः, पुरेव हरतृतीयनयनदाहत्रासादिति भावः । षट्पदज्यं = भ्रमरमौर्वीकं, चापं = धनुः, प्रायः = प्राचुर्येण, न वहति = न धारयति । यद्येवं कथङ्कारं तस्य कार्यसिद्धिरत आह—सभ्रूभङ्गेति । तस्य = मन्मथस्य, आरम्भः = व्यापारः, कामिजनविजयरूप इति भावः । सभ्रूभङ्गप्रहितनयनैः = भ्रूभङ्गसहितप्रयुक्तदृष्टिभिः, कामिलक्ष्येषु=कामुकशरव्येषु, अमोघैः=अनिष्फलैः,सफलैरित्यर्थः । चतुरवनिताविभ्रमैः एव = विदग्धललनाविलासैः एव, सिद्धः = निष्पन्नः ॥ १० ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! यस्यामलकायां कामदेवः स्वमित्रप्रीत्या स्वरूपेण निवसन्तं महादेवं ज्ञात्वा तद्भीतेः प्रायः स्वधनुर्न बिभर्ति । तस्य व्यापारो विदग्धतरुणीनां कटाक्षैरेव सम्पन्नो भवति ॥ १० ॥

अनुवादः—हे मेघ ! जिस अलकामें कुबेरके मित्र महादेवको प्रत्यक्षरूपसे विद्यमान जानकर कामदेव भयसे भौंरोंकी प्रत्यञ्चावाले अपने धनुको अकसर धारण नहीं करते हैं । उनका काम भ्रूभङ्गोंके साथ दृष्टिपातोंसे युक्त और कामुकरूपी निशानोंपर सफल विदग्धसुन्दरियोंके विलासोंसे ही सिद्ध हो जाता है ॥१०॥

टिप्पणी—मन्मथः=मनं मत् = चेतना, "सम्पदादिभ्यः क्विप्" इति क्विप्, सर्वाऽपहारी लोपः, "गमादीनां क्वौ" इति नलोपः । 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इति तुक् । मन् + क्विप् = मत् । मथतीति मथः, पचाद्यच् । मथ् + अच् । मतो मथो मन्मथः (ष० त०) । धनपतिसखं = धनस्य पतिः (ष० त०) तस्य सखा धनपतिसखः, तम् (ष० त०) । "राजाऽहःसखिभ्यष्टच्" इस सूत्रसे समासाऽन्त टच् प्रत्यय होकर "सखि" का "सख" हो गया है ।

देवं=दीव्यतीति देवः, तम्, "पचाद्यच्" । दिव् + अच् । साक्षात्=अक्षेण सहितः साऽक्षः, (तुल्ययोगबहु०) । साक्षम् अततीति साक्षात्, "अन्याभ्योऽपि दृश्यते" इति क्विप्, साक्ष + अत + क्विप् । यह अव्यय है, और यहाँपर क्रियाविशेषण है ! "साक्षात् प्रत्यक्षतुल्ययोः" इत्यमरः । वसन्तं=वस + लट् (शतृ) । भयात् = हेतौ पञ्चमी । षट्पदज्यं = षट् पदानि येषां ते षट्पदाः (बहु०) ।

"द्विरेफपुष्पलिड्भृङ्गषट्पदभ्रमराऽलयः।" इत्यमरः । षट्पदा एव ज्या यस्य सः, तम् (बहु०) । यह चापका विशेषण है । "मौर्वी रोलम्बमाला" अर्थात् भ्रमरोंकी पङ्क्ति कामदेवकी प्रत्यञ्चा है ऐसे कविसमयके अनुसार यह उक्ति है । प्रायः =यह अव्यय हैं । वहति=वह + लट् + तिप् । सभ्रूभङ्गप्रहितनयनैः = भ्रुवोर्भङ्गो भ्रूभङ्गः (ष० त०) । भ्रूभङ्गेन सहितं सभ्रूभङ्गम् (तुल्ययोगबहु०) । सभ्रूभङ्गं प्रहितानि (सुप्सुपा०) तादृशानि नयनानि येषु, तैः (बहु०) । कामिलक्ष्येषु = कामोऽस्ति एषां ते कामिनः,काम + इनिः । लक्षयितुं योग्यानि लक्ष्याणि, लक्ष + णिच् + यत् । कामिन एव लक्ष्याणि, तेषु (रूपक०) । अमोघैः = न मोघाः, तैः (नञ्०) । अमोघ पद देनेसे कहीं कहीं कामदेवका धनु भी मोघ (निष्फल) हो जाता है यह बात सूचित होती है । चतुरवनिताविभ्रमैः=चतुराश्च ता वनिताः (क० धा०), तासां विभ्रमाः, तैः (ष० त०) चतुरपदसे नृत्य, गीत, वादित्र और कामकला आदिमें निपुण ऐसा अर्थ जाना जाता है। कहीं कहीं "चटुलवनिताविभ्रमैः" ऐसा पाठान्तर है । उसमें चटुला (चञ्चलाः) ये वनिताविभ्रमास्तैः ऐसा विग्रह करना चाहिए । सिद्धः = सिध् + क्तः ।

इस श्लोकमें कामियोंमें लक्ष्यत्वका आरोप होनेसे रूपक और कामदेवके भ्रमररूप प्रत्यञ्चासे युक्त धनुका धारणसम्बन्ध होनेपर भी असम्बन्धकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति है । इन दोनों अलङ्कारोंमें अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार हो गया है ॥ १० ॥

वासश्चित्रं मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं
पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान् ।
लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्या-
मेकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः ॥ ११ ॥

अन्वयः—यस्यां चित्रं वासः, नयनयोः विभ्रमाऽऽदेशदक्षं मधु, किसलयैः सह पुष्पोद्भेदं, भूषणानां विकल्पान् चरणकमलन्यासयोग्यं लाक्षारागं च सकलम् अबलामण्डनम् एकः कल्पवृक्षः सूते ॥ ११ ॥

व्याख्या—साम्प्रतमलकायां भूषणचतुष्टयं प्रतिपादयति—वास इति ।

यस्याम् = अलकायां, चित्रम् = अनेकवर्णं, वासः = वस्त्रं, परिधेयमण्डनमेतत् ।

नयनयोः = नेत्रयोः, विभ्रमादेशदक्षं = विलासोपदेशनिपुणं, मधु = मद्यं, देहधार्येऽन्तर्भाव्यमेतत् । किसलयैः = पल्लवैः, सह = समं, पुष्पोद्भेदं = कुसुमा-

विर्भावं, द्वयं चेत्यर्थः । इदं कचधार्यमित्यवसेयम् । भूषणानाम् = अलङ्काराणां, विकल्पान् = विशेषान्, देहधार्यानिति विशेषः । तथा चरणकमलन्यासयोग्यं = पादपद्मसमर्पणाऽर्हं, लाक्षारागं च = अलक्तरागं च, इदं चाऽङ्गरागादिविलेपनमण्डनोपलक्षणार्थम् । इत्थं सकलं=सर्वं, चतुर्विधमपीत्यर्थः । अबलामण्डनं ललनाप्रसाधनसमूहम्, एकः = एकाकी, कल्पवृक्षः = कल्पतरुः, सूते = जनयति । न तु नानासाधनसंपादनप्रयास इति भावः ॥ ११ ॥

सरलार्थः—हे मेघ ! यस्यामलकायामेकः कल्पवृक्षो ललनानामलकरणाऽर्थ बहुवर्ण वसनं, मद्यं, सपल्लवं कुसुमोद्भेदं, नैकविधानि भूषणानि चरणकमलयोर्लाक्षारागं चोत्पादयति ॥ ११ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! जिस अलकामें पहननेके लिए अनेक वर्णोंवाले वस्त्र, नेत्रोंमें विलासका उपदेश करनेवाली मदिरा, पल्लवोंके साथ पुष्प, अनेकों अलंकार और चरणकमलोंमें समर्पण करनेके योग्य महावर इस प्रकार स्त्रियोंके सब अलंकारोंको अकेला कल्पवृक्ष उत्पन्न करता है ॥ ११ ॥

टिप्पणी—अलंकारके चार भेद होते हैं जैसा कि रत्नाकरमें लिखा है—

> कचधार्यं देहधार्यं परिधेयं विलेपनम् ।
> चतुर्धा भूषण प्राहुः स्त्रीणां मन्मथदैशिकम् ॥

अर्थात् केशोंसे धारणीय, शरीरसे धारणीय, पहना जानेवाला और लेपन किया जानेवाला इस प्रकार स्त्रियोंके कामके उपदेशक चार प्रकारके अलंकार होते हैं । इस श्लोकमें उन सभीका वर्णन किया गया है ।

चित्रम् = "आलेख्याऽऽश्चर्ययोश्चित्रम्" इत्यमरः । वासः="वस्त्रमाच्छादनं वासः" इत्यमरः । वस्त्र पहना जानेवाला अलंकार है । विभ्रमाऽऽदेशदक्षं= विभ्रमाणाम् आदेशः (ष० त०) । आङ् + दिश् + घञ् = आदेशः । विभ्रमाऽऽदेशे दक्षं, तत् (स० त०) । मधु="मध्वासवो माधवको मधु माध्वीकमद्वयोः ।" इत्यमरः । शरीरमें विभ्रम (विलास) को उत्पन्न करनेके कारण मधु (मद्य)-को अलंकार आदिकी नाईं शरीरसे धारणीय अलंकारमें अन्तर्भाव करना चाहिए ।

इसी प्रकारका श्लोक कुमारसंभवमें भी है—

> "नयनान्यरुणानि घूर्णयन्वचनानि स्खलयन्पदे पदे ।
> असति त्वयि वारुणीमदः प्रमदानामधुना विडम्बना ॥ (४–१२) ।

किसलयैः="सह" के योगमें तृतीया । पुष्पोद्भेदं = पुष्पाणाम् उद्भेदः, तम् (ष० त०) । उद् + भिद् + घञ्=उद्भेदः । पल्लव और पुष्प केशोंसे

धारण किये जानेवाले अलंकार हैं। भूषणानां=भूष+ल्युट्। "भूषण" शरीरसे धारण किये जानेवाले अलंकार हैं। चरणकमलन्यासयोग्यं=चरणौ कमले इव (उपमितकर्म०)। तयोर्न्यासः (स० त०) तस्मिन् योग्यः, तम् (स० त०) लाक्षारागं=रज्यतेऽनेनेति रागः, रञ्ज+घञ् (करणे)। लाक्षा राग इव तम् (उपमितकर्म०)। लाक्षाराग (महावर), विलेपन भूषणका उपलक्षण है।

अबलामण्डनम्=अविद्यमानं बलं यासां ता अबलाः (नञ् बहु०)। यहाँपर नञ् अल्पार्थक है। अबलानां मण्डनं, तत् (ष० त०)। सूते="षूङ् प्राणिप्रसव" इति धातोर्लट्। एक कल्पवृक्ष ही स्त्रियोंकी सम्पूर्ण प्रसाधनसामग्री प्रस्तुत करता है, यहाँ अनेक साधनोंके सम्पादनका प्रयास नहीं है।

इस श्लोकमें अलकावर्णनमें अङ्ग प्रस्तुत वासः आदि बहुतसे पद "सूते" इस क्रियाके कर्म हैं, अतः तुल्ययोगिता है "चरणकमलन्यासयोग्यम्" इस पदमें लुप्तोपमा है इस प्रकार दोनों अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभावः होनेसे संकर अलंकार है ॥ ११ ॥

तत्रागारं धनपतिगृहादुत्तरेणास्मदीयं
दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन।
यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे
हस्तप्राप्यस्तवकनमितो बालमन्दारवृक्षः ॥ १२ ॥

अन्वयः--तत्र धनपतिगृहाद् उत्तरेण अस्मदीयम् आगारं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन दूरात् लक्ष्यम्। यस्य उपान्ते मे कान्तया वर्द्धितः कृतकतनयो हस्तप्राप्यस्तवकनमितो बालमन्दारवृक्षः (अस्ति) ॥ १२ ॥

व्याख्या--अलकावर्णनोत्तरं स्वभवनस्याऽभिज्ञानं प्रतिपादयति—तत्रेति। (हे मेघ!) तत्र=तस्यां, पूर्ववर्णितायामलकायामिति भावः। धनपतिगृहाद्=कुबेरप्रासादाद्, उत्तरेण=उत्तरस्मिन्, संन्निकृष्ट इत्यर्थः। अस्मदीयम्=अस्माकम्, अगारं=भवनं, सुरपतिधनुश्चारुणा=इन्द्रचापसुन्दरेण, मणिमयत्वादभ्रङ्कषत्वाच्चेति शेषः। तोरणेन=बहिर्द्वारेण, दूरात्=विप्रकृष्टप्रदेशादपि, लक्ष्यं=दर्शनीयम्, अस्तीति शेषः। अनेनाऽभिज्ञानेन दूरत एव ज्ञातुं शक्यमिति भावः।

अभिज्ञानान्तरमाह--यस्योपान्त इति। यस्य=अगारस्य, उपान्ते=पार्श्वदेशे, "उद्यान" इति पाठान्तरे आक्रीड इत्यर्थः। मे=मम, कान्तया=प्रियया, न तु चेटीजनेनेति भावः। वर्द्धितः=पोषितः, कृतकतनयः=कृत्रिमसुतः

पुत्रत्वेनाऽभिमन्यमान इति भावः । हस्तप्राप्यस्तवकनमितः=कराऽवचेयगुच्छप्रह्वीकृतः, वालमन्दारवृक्षः=वालकल्पवृक्षः, अस्तीति शेषः ।। १२ ।।

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! तत्राऽलकायां कुबेरप्रासादादुत्तरदिशि बहुवर्णतोरणरमणीयमस्मदीयं भवनं दूरादपि दर्शनीयमस्ते । यस्य पार्श्वदेशे मदीयया दयितया सुतवत्पोषितो वालकल्पवृक्षो लक्ष्यते ।। १२ ।।

अनुवादः— हे मेघ ! उस अलकापुरीमें कुबेरके प्रसादके उत्तर भागमें अवस्थित हमलोगोंका भवन, इन्द्रायुधके समान सुन्दर बाहरके दरवाजेसे दूरसे देखा जाता है । जिसके पार्श्वमें मेरी प्रियासे पुत्रके समान बढ़ाया गया और हाथोंसे तोड़ेजानेवाले गुच्छोंसे झुका हुआ छोटा-सा मन्दारका वृक्ष है ।

टिप्पणी—धनपतिगृहान्=पातीति पतिः, पात+डतिः । धनानां पतिः (ष० त०), तस्य गृहाः तान् (ष० त०) । "उत्तरेण" इस एनप् प्रत्ययाऽन्त पदके योगमें "एनपा द्वितोया" इस सूत्रसे द्वितीया हो गई है । "गृहाः पुंसि च भूम्न्येव निकाय्यनिलयाऽऽलयाः ।" अमरकोषके इस प्रमाणके अनुसार गृहशब्द पुंलिगमें नित्य बहुवचनाऽन्त है । उत्तरेण=उत्तरशब्दसे "एनबन्यतरस्यामदूरे पञ्चम्याः" इस सूत्रसे एनप् प्रत्यय हुआ है ।

अथवा "उत्तरेण" यह पद तोरणेन" इसका विशेषण है ।

तब तो "धनपतिगृहात्" ऐसा पञ्चम्यन्त पाठ मानना आवश्यक है, दिग्वाचक उत्तर पदके योग में "अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाऽञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते" इस सूत्रसे पञ्चमी होती है ।

उस पक्षमें गृह-शब्द नपुंसकलिङ्गी है । अस्मदीयम् = अस्माकम् इदम् "त्यदादीनि च" इससे अस्मद् शब्दकी वृद्धसंज्ञा हुई और "वृद्धाच्छः" इस सूत्रसे छ प्रत्यय हुआ, और "आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्" इससे छके स्थानमें "ईय" आदेश हो गया है । अस्मद्+छ (ईयः) । "अस्मदीयम्" कहनेसे मेरा ही नहीं किन्तु पितृ-पितामहोंकी परम्परासे सम्बद्ध ऐसा अर्थ जाना जाता है । अगारं="भवनाऽगारमन्दिरम्" इत्यमरः । सुरपतिधनुश्चारुणा=सुराणां पतिः (ष० त०) तस्य धनुः (ष० त०), तद् इव चारु, तेन (उपमितकर्म०) । तोरणेन="तोरणोऽस्त्री बहिर्द्वारम्" इत्यमरः ।

मणिमय होनेसे और आकाशचुम्बी होनेसे भी तोरण (बाहरके दरवाजे)-को इन्द्रयुधके समान सुन्दर कहा है ।

लक्ष्यं = लक्ष + णिच् + ण्यत् । वर्द्धितः=वृध् + णिच् + क्तः । कृतकतनयः= कृत एव कृतकः, कृत + कन् (स्वार्थे=प्रकृतत्यर्थे) । कृत शब्दसे स्वार्थ- (प्रकृतिके अर्थ) में कन् प्रत्यय होकर कृतक शब्द बनता है, इसका अर्थ है बनावटी ।

कृतकश्चाऽसौ तनयः (क० धा०) । "वाऽऽहिताग्न्यादिषु" इस सूत्रके आहिताऽग्नि आदिमें पाठ होनेसे कृतक शब्दका पूर्वप्रयोग और उत्तरप्रयोग दोनों प्रयोग उपलब्ध होते हैं । कृतक शब्दका उत्तर प्रयोग देखिए—"सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते" (अभिज्ञानशाकुन्तल चतुर्थ अङ्क, श्लोक १६) ।

हस्तप्राप्यस्तबकनमितः=हस्तेन प्राप्याः (तृ० त०), ते च ते स्तबकाः (क० धा०) । तैः नमितः (तृ० त०) नम् + णिच् + क्तः ।

बालमन्दारवृक्षः=मन्दारश्चाऽसौ वृक्षः (क० धा०) । बालश्चाऽसौ मन्दारवृक्षः (क० धा०) पाँच प्रकारके देशवृक्षोंमें मन्दारवृक्ष भी अन्यतम है ।

इस श्लोकमें "सुरपतिधनुश्चारुणा" इस समस्त पदमें लुप्तोपमा अलङ्कार है ॥ १२ ॥

वापी चास्मिन्मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा
हैमैश्छन्ना विकचकमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः ।
यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं सन्निकृष्टं
नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः ॥ १३ ॥

अन्वयः—अस्मिन् मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा स्निग्धवैदूर्यतालैः हैमैः विकचकमलैः छन्ना वापी च (अस्ति) । यस्याः तोये कृतवसतयो हंसाः त्वां प्रेक्ष्य अपि व्यपगतशुचः (सन्तः) संनिकृष्टं मानसं न आध्यास्यन्ति ॥ १३ ॥

इतः परं श्लोकचतुष्टयेनाऽभिज्ञानान्तरं प्रतिपादयति—वापीति

व्याख्या—(हे मेघ !) अस्मिन्=मदीये भवने, मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा=गारुत्मतरत्नशिलानिर्मिताऽवतरणपथा, स्निग्धवैदूर्यनालैः= मसृणविदूररत्ननालैः, "स्निग्ध" स्थाने "दीर्घ" पदस्य पाठान्तरम् हैमैः=सौवर्णैः, विकचकमलैः=विकसितपद्मैः, "कमलमुकुलैः" इति पाठान्तरं तस्य पद्मकुड्मलैरित्यर्थः । छन्ना=व्याप्ता, "स्फीता" इति पाठान्तरं तत्र समृद्धा इत्यर्थः । वापी च=दीर्घिका च, अस्तीति शेषः ।

यस्याः=वाप्याः, तोये=जले, कृतवसतयः=विहितनिवासाः, हंसाः= चक्राङ्गाः, त्वां=भवन्तं, मेघमित्यर्थः । प्रेक्ष्य अपि=दृष्ट्वा अपि, "प्रेक्ष्य" स्थाने

"प्राप्य" इति पाठान्तरं, तत्र आसाद्येत्यर्थः व्यपगतशुचः=वीतदुःखाः सन्तः, वर्षाकालेऽपि कलुषजलाऽभावादिति शेषः । संनिकृष्टं=संनिहितं, सुगममपीत्यर्थः । मानसं=मानससरः, न आध्यास्यन्ति=उत्कण्ठया न स्मरिष्यन्ति ॥ १३ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! मद्भवने गारुत्मतरत्नकल्पिताऽऽरोहणमार्गा विदूररत्नमयनालैर्विकसितकनककमलैर्व्याप्ता दीर्घिका चाऽऽस्ते । यत्र कृतनिवासा हंसास्त्वां वीक्ष्याऽपि निकटस्थमपि मानससरोवरं न स्मरिष्यन्ति ॥ १३ ॥

अनुवादः—मेरे भवनमें जहाँपर पन्नाओंसे सीढ़ियोंका मार्ग बना हुआ है, चिकने वैदूर्यमणि (बिल्लौर) के नालसे युक्त विकसित सुवर्ण-कमलोंसे व्याप्त बावली भी है ? जिसके जलमें निवास करनेवाले हंस तुम्हें देखकर भी दुःख न मानते हुए निकटस्थित मानससरोवरको भी याद नहीं करते हैं ॥ १३ ॥

टिप्पणी—अस्मिन्=अधिकरणे सप्तमी । मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा=मरकतान्येव शिलाः (रूपक०), ताभिः बद्धः (तृ० त०) । सोपानानां मार्गः (ष० त०) । मरकतशिलाबद्धः सोपानमार्गो यस्याः सा (बहु०) स्निग्धवैदूर्यनालैः = विदूरात् प्रभवन्ति इति वैदूर्याः, मणयः । "विदूराञ्ञ्यः" इति ञ्यप्रत्ययः । विदूरः+ञ्यः । वैदूर्याणां विकारा वैदूर्याणि, वैदूर्य+अण् । स्निग्धानि वैदूर्याणि नालानि येषां तानि, तैः (बहु०) । बालवाय पर्वतको वैयाकरणलोग विदूर पर्वत कहते हैं, विडूर नहीं । यह पर्वत रत्नोंका उत्पत्ति स्थान है । विदूर पर्वतमें उत्पन्न होनेसे "वैदूर्य" मणिविशेषको कहते हैं, वैदूर्यकी प्रकृति विदूर होनेसे वैदूर्य कहना अशुद्ध है । हैमैः=हेम्नो विकारा हैमानि, तैः, हेमन्+अण् । विकचमलैः=विकचानि च तानि कमलानि, तैः (क० धा०) छन्ना=छद्+णिच्+क्तः (कर्मणि) । "स्फीता" पाठान्तरमें स्फाय्+क्तः "स्फायः स्फी निष्ठायाम्" इस सूत्रसे स्फाय्के स्थानमें "स्फी" आदेश हुआ है । स्फीताका अर्थ है समृद्धिशालिनी । कहींपर "हैमैः स्यूता" ऐसा भी पाठान्तर है, उसमें "स्यूता" का अर्थ सम्बद्धा है । कृतवसतयः=कृता वसतिः यैः, ते (बहु०) । प्रेक्ष्य+प्र+ईक्ष+क्त्वा (ल्यप्) । व्यपगतशुचः=अप+गम्+क्तः (कर्तरि)+टाप्=अपगता । विशेषेण अपगता व्यपगता, तादृशी शुक् येषां ते (बहु०), यह पद "हंसाः" का विधेय विशेषण है । संनिकृष्टं=सं+नि+कृष+क्तः । मानसं=मनस आगतं, मनस्+अण् जिसे ब्रह्माजीने अपने मनसे निर्माण किया था उस सरोवरको "मानस सरोवर" कहते हैं । आध्यास्यान्ति=आङ्+ध्यै+लृट्+झिः । 'स्याच्चिन्ता स्मृतिराध्यानम्" इत्यमरः ।

वर्षाकालमें जल गँदला होनेसे हंसलोग मानसरोवरमें चले जाते हैं; ऐसी कविप्रसिद्धि है, परन्तु अलकापुरी में यक्षके भवनमें स्थित वापी ही निर्मल जलसे सम्पन्न है, वहांके हंसोंकी मानसवरोवर जानेकी चिन्ता नहीं होती है यह तात्पर्य है ।

इस श्लोकमें विशेषोक्ति अलङ्कार है उसका लक्षण है—

“सति हेतौ फलाऽभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा” (सा० द०) ।

अर्थात् कारणके होनेपर भी जहां फल नहीं होता है उसे “विशेषोक्ति” कहते हैं । यह भी विभावनाके अनुसार उक्त-निमित्ता और अनुक्त निमित्ताके भेदसे दो प्रकारकी होती है । प्राकृतमें मेघके दर्शनरूप कारणके होनेपर भी हंसोंका मानस सरोवरका आध्यान (स्मरण) रूप फलके अभावसे “विशेषोक्ति” हुई उसमें भी विशेष गुणसम्पन्न वापीमें निवासरूप निमित्तकी उक्ति होनेसे “उक्त-निमित्ता विशेषोक्ति” हो गई है और लोकाऽतिशय-सम्पत्तिके वर्णनसे उदात्त अलङ्कार है इन दोनोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे संकर अलङ्कार हो गया है ॥१३॥

तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः ।
मद्गेहिन्याः इति सखे ! चेतसा कातरेण
प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि ॥ १४ ॥

अन्वयः—तस्याः तीरे पेशलैः इन्द्रनीलैः रचितशिखरः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः क्रीडाशैलः (अस्ति) । हे सखे ! उपान्तस्फुरिततडितं त्वां प्रेक्ष्य मद्गेहिन्याः प्रिय इति कातरेण चेतसा तमेव स्मरामि ॥ १४ ॥

व्याख्या—तस्याः=वाप्याः, तीरे—तटे, पेशलैः=सुन्दरैः, इन्द्रनीलैः=इन्द्रनीलाऽऽख्यरत्नैः, रचितशिखरः=निर्मितकूटः, कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः=सुवर्णरम्भापरिवेषदर्शनीयः, क्रीडाशैलः=केलिपर्वतः, अस्तीति शेषः । हे सखे=हे मित्र !, उपान्तस्फुरिततडितं=प्रान्तविलसितविद्युतं; त्वां=भवन्तं, प्रेक्ष्य=दृष्ट्वा, मद्गेहिन्याः=मद्गृहिण्याः, प्रियः=अभीष्ट, इति=हेतुना, कातरेण=भीतेन, तदनिष्टसंभावनयेति शेषः । चेतसा=चित्तेन, तमेव=क्रीडाशैलमेव, स्मरामि=भावयामि, नाऽन्यमिति भावः । पुनर्गृहगमने तं क्रीडापर्वतं तया सहाऽक्षतं पश्येयं किमित्यौत्सुक्यं ध्वन्यते ॥ १४ ॥

सरलाऽर्थः—तस्या वाप्यास्तटे इन्द्रनीलमणिमयशिखरः कनककदलीपरिधिदर्शनीयः केलिशैलो विद्यते । हे मित्र ! प्रान्तविलसितसौदामनीकं त्वां विलोक्य तमेव मद्दयितावल्लभं केलिशैलं चिन्तयामि ॥ १४ ॥

अनुवादः—उस बावलीके तीरमें सुन्दर इन्द्रनील मणियोंसे बनी हुई चोटियोंसे सम्पन्न और सुनहली कदलियोंके परिवेषसे दर्शनीय एक क्रीडापर्वत है। हे मित्र ! प्रान्तमें चमकनेवाली बिजलीसे युक्त तुमको देखकर वह क्रीडापर्वत मेरी गृहिणीका प्रिय है इस कारणसे मैं कातर चित्तसे उसीका स्मरण करता रहता हूँ ॥ १४ ॥

टिप्पणी—पेशलैः="चारौ दक्षे च पेशलः" इत्यमरः । रचितशिखरः= रचितानि शिखराणि यस्य सः (बहु०)। "विहितशिखर" इति पाठे विहितानि= कृतानि इत्यर्थः । इन्द्रनीलमणियोंसे बने हुए शिखरोंसे सम्पन्न । इन्द्रनील मणिको मरकतमणि भी कहते हैं, यह नील वर्णका होता है । कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः=कनकस्य कदल्यः (ष० त०), तासां वेष्टनं (ष० त०), तेन प्रेक्षणीयः (तृ० त०) । प्र=ईक्ष+अनीयर् = प्रेक्षणीयः । जिस प्रकार अलकामें सुवर्णकमल होते थे उसी प्रकार सुवर्णकदली भी होती है यहाँपर यह बात दिखलाई गई है । क्रीडाशैलः=क्रीडाऽर्थः शैलः (मध्यमपदलोपी समासः) । उपान्तस्फुरिततडितम् = स्फुरिताः तडितो यस्य सः स्फुरिततडित् (बहु०) । उपान्तेषु स्फुरिततडित्, तम् (स० त०) । प्रेक्ष्य= प्र+ईक्ष+क्त्वा (ल्यप्) । मद्गेहिन्याः=गेहम् अस्ति अस्याः सा गेहिनी गेह+इनि+ङीप् । मम गेहिनी, तस्याः (ष० त०) तम् एव=एवसे तीन प्रकारके व्यवच्छेद समझे जाते हैं, अयोगव्यवच्छेद अन्ययोगव्यवच्छेद और अत्यन्ताऽयोगव्यवच्छेद । यहाँपर अन्ययोगव्यवच्छेदरूप अर्थ समझा जाता है । अर्थात् उसी पर्वतको दूसरेको नहीं । सदृश वस्तुका अनुभव होनेसे अभीष्ट वस्तुका स्मरण होता है ।

इस श्लोकमें मेघको इन्द्रनीलके साथ और बिजलीका कनक-कदलीके साथ सादृश्य होनेसे स्मरणालङ्कार है । जैसेकि साहित्यदर्पणमें लिखा है ।—

"सदृशाऽनुभवाद्वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते" । १०–२७

अर्थात् सदृश पदार्थके अनुभवसे किसी वस्तुका स्मरण जहाँ होता है उसे स्मरण अलङ्कार कहते हैं। निरुक्तनामक किसी टीकाके रचयिताने यहाँपर "त्वां तमेव स्मरामि" ऐसी शब्दयोजना कर मैं तुमको उसी पर्वतको स्मरण करता हूँ इस प्रकार मेघमें शैलत्वका आरोप कर रूपक अलंकार माना है । महोपाध्याय मल्लिनाथजीने इसका खण्डन किया है । क्योंकि पुरोवर्ती मेघमें पर्वतके आकारका आरोप अनुभवात्मक है, अतः उसमें "स्मरति" शब्दका प्रयोग अनुचित है,

पर्वतत्वभावनाकी स्मृति भी उत्पंन्न नहीं है । इसलिए ऐसे स्थलपर आरोप कर रूपक माननेसे स्मरण अलंकार निरवकाश होगा अतः यहाँ स्मरण अलंकार ही मानना चाहिए, और इसीके समान इसमें उदात्त अलङ्कार भी है, अतः दो अलङ्कारोंके अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार हो गया है ॥ १४ ॥

रक्ताशोकश्चलकिसलयः केसरश्चात्र कान्तः
प्रत्यासन्नौ कुरवकवृतेर्माधवीमण्डपस्य ।
एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी
काङ्क्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनाऽस्याः ॥ १५ ॥

अन्वयः—अत्र कुरवकवृतेः माधवीमण्डपस्य प्रत्यासन्नौ चलकिसलयौ रक्ताऽशोकः कान्तः केसरश्च (स्तः) । एकः मया सह तव सख्याः वामपादाऽभिलाषी, अन्यो दोहदच्छद्मना अस्या वदनमदिरां काङ्क्षति ॥ १५ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) अत्र=क्रीडाशैले, कुरवकवृतेः=कुरबकवृक्षाऽऽवरणस्य, माधवीमण्डपस्य=अतिमुक्तलतागृहस्य, प्रत्यासन्नौ = समीपवर्तिनौ, चलकिसलयः=चञ्चलपल्लवः रक्ताशोकः=अशोकवृक्षविशेषः, कान्तः=मनोहरः, केसरश्च=बकुलश्च, स्त इति शेषः । एकः=तयोरन्यतरः, पूर्वोद्दिष्टत्वादशोक इत्यर्थः । मया=यक्षेण, सह=समं, तव=भवतः, सख्याः=सखिभार्यायाः, सखिभार्याया अपि सखीति चिरन्तनव्यवहारः, मत्प्रियाया इति भावः । वामपादाऽभिलाषी=दक्षिणेतरचरणप्रहाराऽभिलाषी, दोहदच्छद्मनेति चतुर्थचरणस्थपदमत्राऽपि सम्बन्धनीयम् । अन्यः-अपरः, केसर इति भावः । दोहदच्छद्मना=वृक्षादिसंस्कारकद्रव्यव्याजेन, अस्याः=तव सख्याः, मत्प्रियाया इति भावः । वदनमदिरां=गण्डूषमद्यं मया सहेति तृतीयचरणस्थं पदद्वयमत्राऽपि सम्बन्धनीयम् । काङ्क्षति=इच्छति, नियतसमयात्पूर्वमेव विकासार्थमिति भावः ॥१५॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! अत्र क्रीडापर्वते कुरवकाऽऽवरणोपेतस्य माधवीलतामण्डपस्य रक्ताऽशोको बकुलश्च निकटवर्तिनौ स्तः । तत्र रक्ताशोको मया सह मत्प्रियाया वामचरणाऽऽघातं वकुलश्च गण्डूषमद्यं काङ्क्षति ॥ १५ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! यहाँ (इस क्रीडापर्वतपर) कुरवक वृक्षोंके आवरण-(बाड़) से युक्त अतिमुक्तलता-गृहके समीपस्थ चञ्चल पल्लवास सम्पन्न लाल अशोक और सुन्दर वकुल (मौलसिरी) ये दो वृक्ष हैं। उनमें एक (लाल अशोक) साथ तुम्हारी सखी (मेरी प्रिया) के बाएँ पैरके ताडनका अभि-

लापी है । दूसरा (बकुल वृक्ष) दोहद (वृक्ष आदिके संस्कारक द्रव्य) के बहानेसे इन (मेरी प्रिया) की मुखस्थित मदिराको चाहता है ।। १५ ।।

टिप्पणी—कुरवकवृतेः=कुरवका एव वृतिः (आवरणम्) यस्य सः, तस्य (बहु०) । "अम्लानस्तु महासहा । तत्र शोणे कुरवकः" इत्यमरः । "कुरवक" वसन्त ऋतुमें होनेवाला पुष्पविशेष है । इसका वर्णन उत्तरमेघके द्वितोय श्लोकमें भी कर चुके हैं ।

माधवीमण्डपस्य=मधौ (वसन्ते) भवा माधव्यः, "तत्र भवः" इत्यण्, स्त्रीत्वविवक्षायां "टिड्ढाणञि" त्यादिना ङीप् । मधु + अण् + ङीप् । माधवीनां मण्डपः, तस्य (ष० त०) । वसन्त ऋतुमें होनेसे अतिमुक्तलताको "माधवी" भी कहते हैं । "अतिमुक्तः पुण्ड्रकः स्याद्वासन्ती माधवी लता ।" इत्यमरः । प्रत्यासन्नौ=प्रति+आङ्=सद्=क्तः (कर्तरि) । चलकिसलयः=चलन्तीति चलानि, पचाद्यच् । चल + अच् । चलानि किसलयानि यस्य सः (बहु०) ।

"चलकिसलय" अर्थात् चञ्चल पल्लवों से युक्त ऐसा विशेषण देने से रक्ताऽशोक मेरी प्रियासे बाएँ चरण से ताडन के लिए जैसे बद्धाञ्जलि हो रहा है ऐसा अर्थ ध्वनित होता है । रक्ताऽशोकः=रक्तश्चासौ अशोकः (क० धा०) ।

अशोक के दो भेद होते हैं, जैसे कि अशोककल्प में लिखा है:—

प्रसूनकैरशोकस्तु श्वेतो रक्त इति द्विधा ।
बहुसिद्धिकरः श्वेतो रक्तोऽत्र स्मरवर्द्धनः ।।

सफेद फूलवाला और लाल फूलवाला इस प्रकारसे अशोकके दो भेद होते हैं, उनमें सफेद फूलवाला बहुत सिद्धि करनेवाला और लाल फूलवाला कामवर्द्धक होता है । कान्तः=कम् + क्तः । केसरः="अथ केसर । बकुलो वञ्जुलः" इत्यमरः । एकः="एके मुख्याऽन्यकेवलाः ।" इत्यमरः । सख्याः="आलिः सखी वयस्या च" इत्यमरः । यहाँपर सखिपत्नीको भी सखी पद से व्यवहार किया गया है । वामपादाऽभिलाषी=वामश्चाऽसौ पादः (क० धा०), तम् अभिलषतीति तच्छीलः (वामपाद + अभि + लष + णिनिः, उपपद०) । "दोहदच्छद्मना" इस पदका यहाँपर भी सम्बन्ध करना चाहिए । असमयमें भी वृक्षोंके पुष्प-विकासके लिए कवियोंका समय (प्रसिद्धि) नीचेके श्लोकमें दर्शाया गया है:—

स्त्रीणां स्पर्शात्प्रियङ्गुर्विकसति, बकुलः सीधुगण्डूषसेकात्
पादाघातादशोकस्तिलककुरबकौ वीक्षणाऽऽलिङ्गनाभ्याम् ।

मन्दारो नर्मवाक्यात्; पटुमृदुहसनाच्चम्पको वक्त्रवाता-
च्चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात्कर्णिकारः ॥

अर्थात् प्रियङ्गु वृक्ष सुन्दरी स्त्रियोंके स्पर्शसे, बकुल (मौलसिरी) सुन्दरीके मुखस्थित मद्यके सेचनसे, अशोक वृक्ष (बाएँ) चरणके आघातसे तिलक सुन्दरीके देखनेसे, कुरवक आलिङ्गनसे, मन्दार दिल्लगीके वाक्यसे, चम्पक सुन्दर तथा कोमल हास्यसे, आमका पेड़ मुखकी हवासे, नमेरु गानासे और कर्णिकार वृक्ष सुन्दरी स्त्रीके नृत्य करनेसे विकसित होता है ।

यहाँपर यक्षने अपने साथ अशोक वृक्षको भी अपनी प्रियाके बाएँ चरणके आघातका अभिलाषी व्यक्त किया है। जैसे अशोक वृक्ष सुन्दरीके पादाघातसे विकसित होता है उसी प्रकार यक्ष भी रोमाञ्चयुक्त होता है । दोहदच्छद्मना= दोहदस्य छद्म, तेन (ष० त०) । गर्भिणीकी इच्छाको भी "दोहद" कहते हैं, प्रकृतमें असमयमें भी वृक्ष आदियोंका पुष्प आदिकी उत्पत्तिके लिए संस्कारक द्रव्यको "दोहद" कहा गया है जैसे कि शब्दार्णवमें है :—

"तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम् ।
पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया ॥"

दोहदकी जगह कहीं कहींपर "दोहल" भी लिखा गया है ।

"कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्म कैतवे ।" इत्यमरः ।

वदनमदिरां=वदनस्य मदिरा, ताम् (ष० त०) । काङ्क्षति=काङ्क्ष+लट्+तिप् ।

इस श्लोकमें सहोक्ति अलंकार है। उसका सोदाहरण ऐसा लक्षण चन्द्रालोकमें दिया गया है :—

"सहोक्तिः सहभावश्चेद्भासते जनरञ्जनः ।
दिगन्तमगमद्यस्य कीर्तिः प्रत्यर्थिभिः सह ॥ १५ ॥

तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि-
र्मूले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः ।
तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः ॥ १६ ॥

अन्वयः—च तन्मध्ये अनतिप्रौढवंशप्रकाशैः मणिभिः मूले बद्धा स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टिः (अस्ति) । शिञ्जावलयसुभगैः तालैः मे कान्तया नर्तितो वः सुहृत् नीलकण्ठो दिवसविगमे याम् अध्यास्ते ॥ १६ ॥

व्याख्या— (हे मेघ !) च = किं च, तन्मध्ये = रक्ताऽशोककेसराऽन्तरे, गृहमध्ये वा । अनतिप्रौढवंशप्रकाशैः = अनतिकठोरवेणुकान्तिभिः, मणिभिः = रत्नैः, मकरतैरिति भावः । मूले = पादे, बद्धा = नद्धा, कृतवेदिकेति भावः । तादृशी स्फटिकफलका = स्फटिकमयपीठा, काञ्चनी = सौवर्णी, वासयष्टिः = निवासदण्डः, अस्तीति शेषः । शिञ्जावलयसुभगैः = ध्वनियुक्तकङ्कणरम्यैः, तालैः = करतलवादनैः, मे = मम, कान्तया = प्रियया; नर्तितः = नृत्तलीलायां शिक्षितः, वः = युष्माकं, सुहृत् = सखा, नीलकण्ठः = मयूरः, दिवसविगमे = दिनाऽवसाने, सायङ्काल इति भावः । यां = वासयष्टिम्, अध्यास्ते = अधितिष्ठति ।। १६ ।।

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! रक्ताऽशोकबकुलयोरन्तरे मरकतमणिभिर्मूले बद्धा स्फटिकमयपीठा सुवर्णमयी वासयष्टिर्वर्तते । सायङ्काले मदीयया दयितया शिञ्जितकङ्कणमनोहरैः करतलवादनैर्नर्तितो मयूरो यामधितिष्ठति ।। १६ ।।

अनुवादः—हे मेघ ! रक्ताऽशोक और बकुल वृक्षके बीचमें कोमल वंशकी समान कान्तिसे युक्त मणियोंकी वेदिकावाली और स्फटिकमय पीठसे सम्पन्न सूवर्णमयी वासयष्टि (बैठनेका स्थान) है ।

शब्द करनेवाले कङ्कणोंसे मनोहर करताल बजाकर मेरी प्रियतमासे नचाया-जानेवाला तुम्हारा मित्र मयूर सायङ्कालमें जहाँपर बैठता है ।। १६ ।।

टिप्पणी—तन्मध्ये = तयोर्मध्यं, तस्मिन् (ष० त०) । अनतिप्रौढवंशप्रकाशैः = प्र + वह + क्तः (कर्तरि) = प्रौढाः, यहाँपर "वह" धातुका सम्प्रसारण और पूर्वरूप आदि होकर ऊढ होने पर "प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु" इस वार्तिकसे वृद्धि होकर "प्रौढ" पद बनता है । अधिकाः प्रौढाः, अतिप्रौढाः, "कुगतिप्रादय" इति समासः । न अतिप्रौढाः (न्०), अनतिप्रौढाश्च ते वंशाः (क० धा०) अनतिप्रौढवशानामिव प्रकाशो येषां ते,तैः (व्यधिकरण-बहु०) प्रौढवशकी कान्ति पीली पड़ जाती है, अनतिप्रौढवंश याने कोमल वंश, उसकी कान्ति हरी होती है, उसकी समान कान्तिसे युक्त मणि अर्थात् पन्ना । बद्धा = बन्ध + क्तः (कर्तरि) टाप् । स्फटिकफलका = स्फटिकं फलकं यस्याः सा (बहु०) । मयूरोंको ठण्डा अच्छा लगता है, अत एव उनके बैठनेका स्थान भी स्फटिकमय है । सौवर्णी = सुवर्णस्य विकारः, सुवर्ण + अण् + ङीप् । वासयष्टिः वस + घञ् (भावे) = वासः । वासस्ययष्टिः (ष० त०) । शिञ्जावलयसुभगैः = शिञ्जनं शिञ्जा, "शिजि अव्यक्ते शब्दे" इस धातुके भिदादिगणमें पढ़ेजानेसे "षिद्भिदादिभ्योऽङ्" इस सूत्रसे अङ् प्रत्यय हुआ है ।

शिज् + अङ् + टाप् = शिञ्जा, भूषणके शब्दको "शिञ्जा" कहते हैं। "भूषणानां तु शिञ्जितम्" इत्यमरः। शिञ्जाप्रधानानि वलयानि शिञ्जावलयानि (मध्यमपदलोपी०)। शिञ्जावलयैः सुभगाः, तैः (तृ० त०)। "शिञ्जद्वलयसुभगैः" इस पाठान्तरमें शिजि धातुके आत्मनेपदी होनेसे उससे लट्के स्थानमें शानच् होता है न कि शतृ प्रत्यय, इसलिए "शिञ्जद्" ऐसा पाठ अपपाठ है : अथवा "अनुदात्तेत्त्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम्" अर्थात् अनुदात्तकी इत्संज्ञा होनेसे आत्मनेपद होनेका जो नियम है वह अनित्य है अर्थात् सार्वत्रिक नहीं, अतः अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः" यहांपर जैसे "ऊहते के स्थानपर ऊहति हुआ है उसी तरह यहाँपर भी परस्मैपद हो गया है। तालैः = यहांपर तालपदका तालवादनमें लक्षणा हुई है। नर्तितः = नृत् + णिच् + क्तः (कर्मणि)। नीलकण्ठः = नीलः कण्ठो यस्य सः (बहु०), "मयूरो बर्हिणो बर्ही नीलकण्ठो भुजङ्गभुक्।" इत्यमरः। मयूर मेघके आगमनमें उल्लाससे जो नृत्य करते हैं, इसलिए मयूरको मेघका सुहृत् (मित्र) कहा गया है।

दिवसविगमे—विगमनं विगमः, वि + गम् + अप्। दिवसस्य विगमः, तस्मिन् (ष० त०)। याम् = "अध्यास्ते" इस अधिपूर्वक आस धातुके योगमें "अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म" इस सूत्रसे आधारको कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया हुई है।

महोपाध्याय मल्लिनाथजीका कहना है कि "तत्रागारम्" यहांसे आरम्भ कर इस श्लोक तक कुल पांच श्लोकोंमें समृद्ध वस्तुका वर्णन होनेसे उदात्ताऽलङ्कार है। और "अनतिप्रौढवंशप्रकाशैः" इस समस्तपदमें लुप्तोपमा है, उन दोनों अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार हो गया है। यहाँ स्वभावोक्ति अथवा भाविक भी नहीं हो सकते, उनमें यथास्थित वस्तुका वर्णन होता है, इसके विपरीत यहांपर कविकी प्रतिभासे उठाये गये तथा संभाव्यमान ऐश्वर्यशाली वस्तुका वर्णन किया गया है इस प्रकार पूर्वोक्त स्वभावोक्ति और भाविक अलङ्कारसे इस (उदात्त) अलङ्कारका भेद है ऐसा अलङ्कारसर्वस्वकारने भी कहा है ॥ १६ ॥

एभिः साधो ! हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथा
द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ च दृष्ट्वा।
क्षामच्छायं भवनमधुना मद्वियोगेन नूनं
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् ॥ १७॥

अन्वयः—हे साधो ! हृदयनिहितैः एभिः लक्षणैः द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ

शङ्खपद्मौ च दृष्ट्वा नूनम् अधुना मद्वियोगेन क्षामच्छायं भवनं लक्षयेथाः; सूर्यापाये (सति) कमलं स्वाम् अभिख्यां न पुष्यति खलु ॥ १७ ॥

व्याख्या—हे साधो=हे सज्जन, हृदयनिहितैः=चित्तस्थापितैः, अविस्मृतैरिति भावः । एभिः=पूर्वोक्तैः, तोरणादिभिरिति भावः । लक्षणैः=चिह्नैः, इतरव्यावर्तकैर्धर्मैरिति भावः । द्वारोपान्ते=प्रतीहारसमीपे, द्वारपार्श्वयोरित्यर्थः । लिखितवपुषो=चित्रनिवेशितशरीरौ, शङ्खपद्मौ च=तन्नामकनिधिविशेषौ च, दृष्ट्वा=अवलोक्य, नूनं=सत्यम्, अधुना=इदानीम्, एषु दिवसेष्विति भावः । मद्वियोगेन=मत्प्रवासात्मकेन विरहेण, क्षामच्छायं=क्षीणकान्ति, उत्सवोपरमादिति शेषः । भवनं=मद्गृहं, लक्षयेथाः=निश्चिनुयाः, कुतो लक्षणमिति चेत्तत्र दृष्टान्तमुपन्यस्यति—सूर्याऽपाय इति । सूर्याऽपाये=भास्कराऽभावे, भास्करेऽस्तमिते सतीति भावः । कमलं=पद्मं, स्वाम्=आत्मीयां, स्वाभाविकीमिति भावः । अभिख्यां=शोभां, न पुष्यति=न उपचिनोति, खलु=निश्चयेन । सूर्यविरहितं पद्ममिव पतिविप्रयुक्तं गृहं न शोभत इति भावः ॥ १७ ॥

सरलाऽर्थः—हे सज्जन ! पूर्वोक्तैस्तोरणादिभिर्लक्षणैस्तथा द्वारपार्श्वयोश्चित्रितौ शङ्खपद्मनामधेयौ निधी च विलोक्य रविरहितमरविन्दमिव एषु दिवसेषु शोभारहितं मद्भवनं निश्चिनु ॥ १७ ॥

अनुवादः—हे सज्जन ! चित्तमें रखे गये तोरण आदि इन लक्षणोंसे और द्वारके दोनों ओर लिखे गये शङ्ख और पद्म नामवाले निधियोंको देखकर सत्य ही इस समय (इन दोनोंमें) मेरे वियोगसे उत्सवशून्य होनेसे शोभाविहीन मेरे घरको पहचान लोगे। क्योंकि सूर्यके अस्त पर्वतको जानेपर कमल भी अपनी शोभाको नहीं बढ़ाता है ॥ १७ ॥

टिप्पणी—साधो=साध्नोति परकार्याणि इति साधुः, तत्सम्बुद्धौ, साध+उण्, जो दूसरेके कार्योंको सिद्ध करता है उसे "साधु कहते हैं ।

"महाकुलकुलीनार्यसभ्यसज्जनसाधवः ।" इत्यमरः ।

हृदयनिहितैः=हृदये निहितानि, तैः (स० त०) । नि+धा+क्तः (कर्मणि)=निहितानि । लक्षणैः=लक्ष+ल्युट् । द्वारोपान्ते=द्वारयोः उपान्तस्तस्मिन्, (ष० त०) । द्वारोपान्ते" यहाँपर एकवचन विवक्षित नहीं है, इसका स्वरूप द्वारोपान्तयोः समझना चाहिए; केवल छन्दके अनुरोधसे एकवचन किया गया है । लिखितवपुषौ=लिखिते वपुषी ययोस्तौ (बहु०) । शङ्खपद्मौ=शङ्खश्च पद्मश्च शङ्खपद्मौ, तौ, (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)

कुबेरकी निधियोंके नौ भेद हैं, जैसे कि—

"महापद्मश्च पद्मश्च शङ्खो मकरकच्छपौ ।
मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव ॥"

अर्थात् महापद्म, पद्म, शङ्ख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील और खर्व ये नौ निधियाँ हैं ।

हारावली कोशमें खर्वके स्थानपर "वर्च" लिखा है । मार्कण्डेय पुराणमें वर्चको छोड़कर कुल आठ ही निधियोंका उल्लेख किया है उसी पुराणमें निधियोंके सविस्तर लक्षण दिये गये हैं । उसमें कहा गया है कि पद्मिनी नामकी अभिदेवता लक्ष्मी हैं और निधियोंको आधार भी वही हैं । प्रकृतमें "शङ्खपद्मौ" कहनेसे शङ्ख और पद्मके अधिष्ठाता देवताविशेष लक्षित होते हैं । यक्षपत्नीने मङ्गलके लिए दरवाजेके दोनों ओर इनको चित्रित किया था ।

दृष्ट्वा=दृश्+क्त्वा । अधुना=अस्मिन्काल इत्यर्थे "अधुना" इति निपातः ।

"एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा ।" इत्यमरः ।

मद्वियोगेन=वियोजनं वियोगः, वि+युज्+घञ् (भावे) । मम वियोगः, तेन (ष० त०) । क्षामच्छायं=क्षै=क्तः+टाप्=क्षामा, "क्षायो म" इति निष्ठातस्य मकारः । क्षामा छाया यस्य, तत् (बहु०) । लक्षयेथाः=लक्ष+णिच्+लिङ् (विधौ) थास् । सूर्याऽपाये=सूर्यस्य अपायः, तस्मिन् (ष० त०) अभिख्याम्="अभिख्या नामशोभयोः" इत्यमरः । पुष्यति=पुष+लट्+तिप् ।

सूर्यसे रहित कमलके समान पतिसे रहित गृह भी शोभित नहीं होता है इस प्रकार दृष्टान्तके होनेसे इस श्लोकमें दृष्टान्त अलङ्कार हैं । दृष्टान्तका लक्षण—

"दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम् ।" यह साहित्यदर्पणका है । १०-५० । जहांपर साधारण धर्मका बिम्बप्रतिबिम्ब भाव होता है । वहां दृष्टान्त अलङ्कार होता है । यह साधर्म्य और वैधर्म्यके भेदसे दो प्रकारका होता है, प्रकृतमें वैधर्म्यसे दृष्टान्त अलंकार है । यहांपर भवनकी स्वतःसिद्ध शोभाका विनाश न होनेपर भी यक्षके विरहसे मन्द कान्ति है, फिर उसके समागम होनेपर पीछे होनेवाली अनुपम रमणीयता व्यङ्ग्य होती है ॥ १७ ॥

गत्वा सद्यः कलभतनुतां शीघ्रसम्पातहेतोः
क्रीडाशैले प्रथमकथिते रम्यसानौ निषण्णः ।
अर्हस्यन्तर्भवनपतितां कर्तुमल्पाल्पभासं
खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् ॥ १८ ॥

अन्वयः— (हे मेघ !) शीघ्रसम्पातहेतोः सद्यः कलभतनुतां गत्वा प्रथमकथिते रम्यसानौ क्रीडाशैले निषण्णः (सन्) अल्पाऽल्पभासं खद्योताऽऽलीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् अन्तर्भवनपतितां कर्तुम् अर्हसि ॥ १८ ॥

स्वभवननिश्चयाऽनन्तरं करणीयमाह—गत्वेति ।

व्याख्या— (हे मेघ !) शीघ्रसम्पातहेतोः=सत्वरप्रवेशाऽर्थमित्यर्थः, सद्यः=तत्क्षण, कलभतनुतां=करिशावकशरीरत्वम्, अल्पकायतामिति भावः । गत्वा=प्राप्य, प्रथमकथिते=पूर्वाऽभिहिते "तस्यास्तीरे" (श्लो० १४) इत्यादिना प्रागुद्दिष्ट इति भावः ।

रम्यसानौ=मनोहरप्रस्थे, क्रीडाशैले=केलिपर्वते, निषण्णः=उपविष्टः (सन्) अल्पाऽल्पभासं=स्वल्पप्रकाशां, कान्ताभीतिपरिहारायेति शेषः । खद्योताऽऽलीविलसितनिभां=ज्योतिरिङ्गणपङ्क्तिस्फुरितसदृशीं, विद्युदुन्मेषदृष्टिं=तडित्प्रकाशदृशं, गृहाऽभ्यन्तरोदन्तनिरीक्षणायेति शेषः । अन्तर्भवनपतितां=भवनमध्यप्रविष्टां, कर्त्तुं=विधातुम्, अर्हसि=योग्यो भवसि ॥ १८ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! सत्वरप्राप्त्यर्थं करिशावकसदृशं स्वशरीरं कृत्वा प्रथमोद्दिष्टे क्रीडापर्वते समुपविष्टः सन् ज्योतिरिङ्गणस्फुरितसमां तडित्प्रकाशरूपां दृष्टिं भवनाऽभ्यन्तरे प्रवेशयितुमर्हसि ॥ १८ ॥

अनुवाद—हे मेघ ! शीघ्र प्रवेश करने के लिए तत्क्षण हाथीके बच्चेके समान शरीरको धारण कर पूर्वोक्त सुन्दर प्रस्थवाले क्रीडापर्वतमें बैठे हुए तुम अल्प प्रकाशवाली और जुगनुओंकी पङ्क्तिकी समान बिजलीके प्रकाशरूप दृष्टिको भवनके भीतर डालो ॥ १८ ॥

टिप्पणी—शीघ्रसम्पातहेतोः = संपतनं संपातः, सं + पत् + घञ् । शीघ्रं संपातः (सुप्सुपा०) । शीघ्रसंपात एव हेतुः (रूपक०), तस्य "षष्ठी हेतुप्रयोगे" इति षष्ठी ।

"सम्पातः पतने वेगे प्रवेशे वेदसंविदे" । इति शब्दार्णवः ।

सद्यः=समानेऽहनि, "सद्यःपरुत्" इत्यादिना निपातः, अव्ययम् । कलभतनुतां=कलभस्येव तनुर्यस्य स कलभतनुः (व्यधिकरणबहु०), कलभतनोर्भावः कलभतनुता, ताम् (कलभतनु + तल + टाप्) । "कलभः करिशावकः" इत्यमरः । गत्वा=गम् + क्त्वा । बत्तीस सालकी उम्रवाले हाथीके बच्चेको "कलभ" कहते हैं । मेघके कामरूपी (इच्छाके अनुसार रूप लेनेवाला) होनेसे हाथीके बच्चेके समान शरीरधारण करनेकी बात कही गई है ।

प्रथमकथिते=प्रथमं=कथितः, तस्मिन् (सुप्सुपा०)। रम्यसानौ=रम्यः सानुर्यस्य सः, तस्मिन् (बहु०)। क्रीडाशैले=क्रीडाऽर्थः शैलः क्रीडाशैलः, तस्मिन् (मध्यमपदलोपी०)। निषण्णः=नि + सद् + क्तः। ''सदिरप्रतेः'' इस सूत्रसे प्रतिको छोड़कर अन्य उपसर्ग (नि) से परवर्ती सद्के सकारके स्थानमें मूर्धन्य षकार हुआ।

अल्पाऽल्पभासम्=अतिशयेन अल्पप्रकारा अल्पाऽल्पा, "प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विरुक्तिः। अल्पाऽपा भाः यस्याः, ताम् (बहु०)। प्रियाकी भीतिके परिहारके लिए अल्प प्रकाशवाली दृष्टि डालनेकी बात कही गई है।

खद्योतालीविलसितनिभां=खे (आकाशे) द्योतन्त इति खद्योताः, पचाद्यच्, ख + द्युत + अन्। "खद्योतो ज्योतिरिङ्गणः" इत्यमरः। खद्योतानाम् आली (पङ्क्तिः) [फ० श०], तस्या विलसितम् (ष० त०), तेन सदृशी खद्योतालीविलसितनिभा, ताम् (तृ० त०)। "विलसित" के स्थानमें कहींपर "विलसन" ऐसा ल्युट्प्रत्ययान्त पाठ भी पाया जाता है, अर्थमें कुछ भेद नहीं। विद्युदुन्मेषदृष्टि = विद्युत उन्मेषः (ष० त०)। विद्युदुन्मेष एव दृष्टिः, ताम् (रूपक०)। अन्तर्भवनपतितां=भवनस्य अन्तः (अभ्यन्तरम्) अन्तर्भवनम् (ष० त०), "राजदन्तादिषु परम्" इति अन्तः पदस्य पूर्वनिपातः। अन्तर्भवनं पतिता, ताम् "द्वितीया श्रिताऽतीतपतितगताऽत्यस्तप्राप्ताऽऽपन्नैः" इति द्वितीयातत्पुरुषः। कर्तुं=कृ + तुमुन्। यह अव्यय है।

अर्हसि + अर्ह + लट् + सिप्।

इस श्लोकमें "कलभतनुताम्" इस समस्त पदमें लुप्तोपमा, "खद्योताली० विलसितनिभाम्" इस समस्त पदमें भी उपमा और "विद्युदुन्मेषदृष्टिमें" इसमें रूपक है इस प्रकार इन तीनोंका अङ्गाङ्गिभाव होंनेसे सङ्कर अलङ्कार हुआ है॥ १८॥

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥ १९॥

अन्वयः—तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाऽधरोष्ठी मध्येक्षामा चकित हरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः, श्रोणीभारात् अलसगमना स्तोकनाभ्यां युवतिविषये धातुः आद्या सृष्टिरिव या स्यात् तत्र (निवसेः) नम्रास्त॥ १९॥

सम्प्रति दृष्टिपातफलस्याऽभिज्ञानं श्लोकद्वयेन पतिपादयति=तन्वीति ।

व्याख्या—(हे मेघ !) तन्वी=कृशाऽङ्गी, न तु पीवरीति भावः । श्यामा=युवतिः, शिखरिदशना=पक्वदाडिमबीजदन्ता, पक्वविम्बाऽधरोष्ठी=परिणतबिम्ब-फलोष्ठी, मध्येक्षामा=क्षीणाऽवलग्ना, पदद्वयं वा—मध्ये=अवलग्ने, क्षामा=क्षीणा, कृशोदरीति भावः । चकितहरिणीप्रेक्षणा=भीतमृगीनयना, एतेनाऽस्याः, पद्मिनीत्वं व्यज्यते । निम्ननाभिः=गम्भीरनाभिः, श्रोणीभारात्=नितम्बभारात्, अलसगमना=मन्दगामिनी, न तु जघनदोषात् । स्तनाभ्यां=कुचाभ्यां, स्तोकनम्रा=ईषदवनता, न तु शरीरदोषादिति भावः । अतः—युवतिविषये=तरुणीविषये, तरुणीरधिकृत्येति भावः । धातुः=ब्रह्मणः, आद्या=प्राथमिकी, सृष्टिरिव=शिल्पमिव, स्थितेति शेषः तादृशी या=स्त्री, स्यात्=भवेत्, तत्र=अन्तर्भवने, प्रविशेरिति शेषः । तामित्युत्तरश्लोकेन सम्बन्धः ।। १९ ।।

सरलार्थः—(हे मेघ !) कृशाऽङ्गी युवतिः, पक्वदाडिमबीजदन्ता कृशोदरी चपलनयना गम्भीरनाभिर्नितम्बभारान्मन्थरगामिनी कुचभारेणेषदवनता युवतीरधिकृत्य ब्रह्मणः प्रथमं शिल्पमिव या स्यात् तत्र मद्गृहे निवसेः ।। १९ ।।

अनुवादः–हे मेघ ! कृश शरीरवाली, युवती, पके दाडिमके बीजोंके समान दाँतोंवाली, पके बिम्बफल (कुंदुरु) के समान लाल अधरोष्ठसे शोभित, पतली कमरवाली, डरी हुई मृगीके समान चञ्चल नेत्रोंसे शोभित, गम्भीर नाभिवाली, नितम्बके भारसे धीरे-धीरे चलनेवाली, उन्नत कुचोंसे कुछ झुकी हुई और युवतीमें ब्रह्माजीकी प्रथम रचनाकी समान जो स्त्री होगी उस घरमें प्रवेश करो ।। १९ ।।

टिप्पणी—तन्वी="श्लक्ष्णं दभ्रं कृशं तनु" इत्यमरः । तनु शब्दके गुणवाचक होनेसे स्त्रीत्वविवक्षामें "वोतो गुणवचनात्" इस सूत्रसे ङीष् हुआ है । श्यामा="श्यामा यौवनमध्यस्था" इत्युत्पलमाला । उत्पलमालानामक कोशके अनुसार 'श्यामा'का अर्थ युवति है कुछ विद्वान्—

"कूपोदकं, वटच्छाया, श्यामा स्त्री, स्निग्धभोजनम् ।
शीतकाले भवेदुष्णमुष्णकाले च शीतलम् ।।"

अर्थात् कूएका जल, बरगदकी छाया, श्यामा स्त्री और घृतसे स्निग्ध भोजन ये सब शीतसमयमें गर्म होते हैं और उष्ण समयमें ठण्डे हो जाते हैं, इस श्लोकके अनुसार स्त्रीविशेषको 'श्यामा' कहते हैं । किसी टीकाकारने इसकी 'कुवलयदलके समान श्याम वर्णवाली" ऐसी व्याख्या कर "श्यामास्वङ्गम्" इस श्लोकमें इस अर्थकी संगति भी लगाई है । शिखरिदशना = शिखराणि (कोटयः) सन्ति

एषां ते शिखरिणः, शिखर+इनिः "शिखरं शैलवृक्षाऽग्रक्क्षापुलककोटिषु ।" इति विश्वः । शिखरिणो दशना (दन्ताः) यस्याः सा (बहु०) । नुकीले दाँतोंवाली यह इसका शब्दाऽर्थ है । कुछलोग—

"पक्वदाडिमबीजाभं माणिक्यं शिखरं विदुः ।"

इस अभिधानचिन्तामणिकी उक्तिके आधारपर पके हुए दाडिम फलके बीजसदृशको 'शिखर' कहते हैं । पके हुए दाडिम फलके बीज नुकीलेके साथ लाल भी होते हैं इस पारिभाषिक अर्थके अनुसरणमें यह विशेषता आई । ताम्बूलचर्वण आदि से भी दाँत लाल होते हैं, इस तरह इसकी भी संगति लगाई जा सकती है । शिखरी दन्तोंके गुण सामुद्रिक में इस प्रकार दिखलाये गये हैं—

"स्निग्धाः समानरूपाः सुपङ्क्तयः शिखरिणः श्लिष्टाः ।
दन्ता भवन्ति यासां तासां पादे जगत्सर्वम् ।।"
ताम्वूलरसरक्तेऽपि स्फुटभासः समोदयाः ।
दन्ताः शिखरिणो यस्या दीर्घं जीवति तत्प्रियः ।।

अर्थात् शिखरी दन्तोंवाली स्त्री ऐश्वर्यवाली होती है और उसका पति दीर्घजीवी होता है ।

पक्वविम्बाऽधरोष्ठी=विम्बस्य विकारो बिम्बम् । पक्वं च तद्बिम्बम् (क० धा०) अधरश्चासौ ओष्ठः अधरोष्ठः (क० धा०), "ओत्वोष्ठयोः समासे वा" इति पररूपत्वम् । पक्वबिम्बम् इव अधरोष्ठो यस्याः सा (बहु०) । 'नासिकोदरोष्ठजङ्घादन्तकर्णश्रृङ्गाच्च" ऐति विकल्पेन ङीप् । पका बिम्बफल (कून्दरू) लाल होता है, वैसे ओष्ठवाली; इसका तात्पर्य हुआ स्वाभाविकरूपसे लाल ओष्ठ वाली । सामुद्रिक शास्त्रमें बतलाया गया है :—

"ओष्ठौ च निर्व्रणौ स्निग्धौ नाऽतिस्थूलौ न रोमशौ ।
रक्तौ विम्वफलाकारौ धनपुत्रसुखप्रदौ ।।"

अर्थात् जिनमें व्रण नहीं है, स्निग्ध, जो कि ज्यादा स्थूल नहीं न लोमवाले हैं और बिम्बफलके समान लाल ओष्ठ धन, पुत्र और सुखको देनेवाले होते हैं । मध्येक्षामा=मध्ये (अवलग्ने) क्षामः (कृशः) अवयवः यस्याःसा (व्यधिकरण०), "अमूर्धमस्तकात् स्वाऽङ्गादका" इत्यलुक् । अथ वा—मध्ये क्षामा इस प्रकार व्यस्त पदोंका अर्थ हुआ कमरमें पतली याने पतली कमरवाली ।

चकितहरिणीप्रेक्षणा=चकिता चाऽसौ, हरिणी (क० धा०) । चकितहरिण्या इव प्रेक्षणं यस्याः सा (व्यधि० बहु०) । डरी हुई मृगीके समान

चञ्चल नेत्रोंवाली यह इसका अर्थ हुआ। स्त्रियोंके चार भेद होते हैं—पद्मिनी, हस्तिनी, शङ्खिनी और चित्रिणी। पूर्वोक्त लक्षणसे इसका पद्मिनीत्व अभिव्यक्त होता है। चरित्रवर्द्धिनीकारने "चकितहरिणीप्रेक्षिणी" ऐसा पाठ माना है, इसमें अर्थभेद तो नहीं है पर व्युत्पत्तिमें कुछ भेद है। सो इसमें चकितहरिणीवत् प्रेक्षत इति, ऐसा विग्रह कर "कर्तर्युपमाने" इस सूत्रसे णिनि प्रत्यय करना चाहिए। चकितहरिणी + प्र + ईक्ष + णिनिः + ङीप्। निम्ननाभिः = निम्ना नाभिर्यस्याः सा (बहु०), गम्भीर नाभिच्छिद्रवाली। जिस स्त्रीकी नाभि गम्भीर होती है उसे कामका आदेश अधिक होता है ऐसा कामसूत्रका अभिप्राय है।

श्रोणीभारात् श्रोण्या भारः, (ष० त०), तस्मात्, (हेतौ पञ्चमी)। अलसगमना = अलसं गमनं यस्याः सा (बहु०)। नितम्बके भारसे धीरे-धीरे चलनेवाली न कि रोग आदिसे यह इसका अभिप्राय है।

स्तोकनम्रा = नमनशीला, नम्रा, नम् + रः + टाप्, स्तोकं नम्रा (सुप्सुपा०) स्तनभारसे कुछ झुकी हुई। महाकविने कुमारसंभवमें भी इसी प्रकार—"आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्याम्" (३–५४) लिखा है।

युवतिविषये = "यूनस्तिः" इति तिः, युवन् + तिः। युवतय एव विषयस्तस्मिन् (रूपक०)। धातु = दधातीति धाता, तस्य, धा + तृच्। आद्या = आदौ भवा, "दिगादिभ्यो यत्" इति यत् = आदि + यत् + टाप्। सृष्टिः = सृज् + क्तिन्।

ब्रह्माजीने पहले पहल इसी युवतिका निर्माण किया था। प्रायः शिल्पियोंकी प्रथम रचनामें अतिशय प्रयत्नके कारण शिल्पनिर्माणकी उत्तमता देखी जाती है इसी लिए "आद्य" विशेषण दिया गया है।

"नूनं तस्याः" इसमें मुखचन्द्रका, "शिखिनां बर्हभारेषु केशान्" इसमें केशपाशका "नदीवीचिषु भ्रूविलासान्" इसमें भ्रूलताओंका, "यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम्" इसमें ऊरुओंका और "श्यामास्वङ्गम्" इसमें हाथ और चरणोंका तत्तत्प्रसङ्गमें पीछे वर्णन होगा इसलिए महाकविने यहाँपर मुख आदिका वर्णन नहीं किया है यह बात समझ लेनी चाहिए।

इस श्लोकमें प्रथम चरणमें "अधर" और "ओष्ठ" शब्दका पर्याय होनेसे आपाततः पुनरुक्तिकी प्रतीतिसे पुनरुक्तवदाभास, "पक्वबिम्बाऽधरोष्ठी" यहाँपर लुप्तोपमा, द्वितीय चरणमें भी "चकितहरिणीप्रेक्षणा" इसमें लुप्तोपमा है और प्रियाके वर्णन-प्रसङ्गमें "सृष्टिराद्येव" इस उक्तिमें उत्प्रेक्षा अलंकार है। अतः

अलंकारोंकी निरपेक्षतासे स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है। दूसरे श्लोकमें यक्ष "उसे मेरी पत्नी जानो" कहकर परिचय देता है ॥ १९ ॥

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम् ।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम् ॥ २० ॥

अन्वयः—सहचरे मयि दूरीभूते चक्रवाकीम् इव परिमितकथाम् एकां तां मे द्वितीयं जीवितं जानीथाः। गाढोत्कण्ठां बालां गुरुषु एषु दिवसेषु गच्छत्सु (सत्सु) शिशिरमथितां पद्मिनीं वा अन्यरूपां जातां मन्ये ॥ २० ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) सहचरे=सहचारिणि, अनेन विशेषणेन वियोगाऽसमर्थत्वं व्यज्यते। मयि=प्रिये, दूरीभूते=दूरस्थिते सति, चक्रवाकीम् इव= चक्रवाकवधूम् इव, दूरीभूतसहचरामिति शेषः। परिमितकथाम्=अल्पभाषिणीम्, एकाम्=एकाकिनीं, तां=भवनाऽभ्यन्तरवर्तिनीं, पूर्वश्लोके 'तन्वी श्यामे"त्यादिविशेषणैरुद्दिष्टामिति भावः मे=मम, द्वितीयम्=अपरम्, एतच्छरीरवर्तिजीवितव्यतिरिक्तमिति भावः। जीवितमित्यनेन तस्या नाशे स्वजीवनस्याऽपि नाशो व्यज्यते। जानीथाः=अवगच्छेः, जीवितसमां मत्प्रेयसीं जानीहीति भावः। पूर्वोक्तानां लक्षणानामन्यथाभावमाशङ्क्याह—गाढोत्कण्ठामिति। गाढोत्कण्ठां= दृढौत्सुक्यां, मद्विषय इति शेषः, यद्वा प्रबलविरहवेदनां, बालाम्=अष्टादशवर्षदेशीयां, गुरुषु=दुर्वहेषु, विरहदुःखादिति चेति भावः। एषु=वर्तमानेषु, दिवसेषु=दिनेषु, गच्छत्सु=व्रजत्सु सत्सु, शिशिरमथितां=तुषारविनाशितसौन्दर्यां, पद्मिनीं=कमलिनीं, वा=इव, अन्यरूपाम्=अपराकारां, पूर्वविपरीताकारां, जातां=संवृत्तां, मन्ये=तर्कयामि, हिमहतपद्मिनीव सा विरहेणाऽन्यरूपा जातेति तर्कयामि, अत्र पूर्वोक्तलक्षणे किंचिद्विसंवादेऽपि नेयमन्येति भ्रमितव्यमिति भावः ॥ २० ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! मद्वियोगेन सहचरवियोगेन चक्रवाकीमिव अल्पभाषिणीमेकाकिनीं तां मदीयमपरं जीवितं जानीहि। विरहमहत्स्वेषु दिनेषु गच्छत्सु तामहं तुषारविनाशितपूर्वरूपां कमलिनीमिव रूपान्तरप्राप्तां तर्कयामि ॥ २० ॥

अनुवादः—हे मेघ ! मुझ सहचरके दूरवर्ती होनेपर चक्रवाकी (चकवी)-की तरह अल्पभाषिणी और अकेली उसको तुम मेरा दूसरा जीवन जान लो। गाढ़ी उत्कण्ठावाली वह युवति विरहके कारण दीर्घ इन दिनोंके बीतनेपर पाले-

से पीडित कमलिनीकी समान दूसरे ही रूपको प्राप्त हो गई होगी मैं ऐसी तर्कना करता हूं ॥ २० ॥

टिप्पणी—सहचरे = सह चरतीति सहचरस्तस्मिन्, सह + चर + अच्; सहचर विशेषण से वियोगकी समर्थता व्यङ्ग्य होती है ।

दूरीभूते=अदूरं दूरं यथा सम्पद्यते तथा भूतः, तस्मिन्, दूर + च्वि + भू + क्तः, भावे सप्तमी । चक्रवाकीं=“जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्” इति ङीष् । चक्रवाक + ङीष् ।

रातके समय चक्रवाक और चक्रवाकीका वियोग संस्कृत साहित्यमें प्रसिद्ध है । कहते हैं कि सीताके वियोगमें रामचन्द्रजीका विलाप सुनकर उन्होंने रामचन्द्रका उपहास किया, तब रामचन्द्रजीने—“प्रत्येक रातको तुम लोगोंका भी स्त्री और पुरुषमें वियोग हो” ऐसा शाप दिया ।

यक्षने पत्नीकी उपमा चक्रवाकीसे दी है इसलिए जैसे रातके बीतने पर चक्रवाकीका अपने प्रिय चक्रवाकसे समागम होता है उसी तरह शापको अवधिके बीतनेपर मेरी पत्नीका भी मेरे साथ समागम होगा ऐसा अर्थ ध्वनित होता है ।

परिमितकथां=कथनं कथा, “कथ वाक्यप्रबन्धे” इस चुरादि धातुसे चिन्तिपूजिकथिकुम्बिचर्चश्च” इस सूत्रसे अङ् प्रत्यय हुआ है । कथ + अङ् + टाप्=कथा । परि + मा + क्तः + टाप्=परिमिता । परिमिता कथा यस्याः सा (बहु०) ।

सत्य, मधुर और हितके लिए परिमितकथा अर्थात् अल्पभाषिणी । वाचालतामें शब्द असत्य, अमधुर और अहितका भी प्रतिपादन हो सकता है । विरहकालमें वाचालता स्वाभाविक भी नहीं है ।

द्वितीयं=द्वयोः पूरणं, “द्वेस्तीयः” इति तीयः । द्वि + तीयः । जीवितं=जीवनं जीवितं, “नपुंसके भावे क्तः” इति क्तः । जीव + क्तः । जानीथाः=ज्ञा + विधिलिङ् + थास् । “जानीयाः” इति पुस्तकान्तरपाठः । गाढोत्कण्ठां=गाढा उत्कण्ठा यस्याः सा, ताम् (बहु०) । सामान्यरूपमें उत्कण्ठा कहते हैं उत्सुकताको, ‘गाढोत्कण्ठा’ इसका अर्थ हुआ पतिके विरहसे गाढ उत्कण्ठावाली । परन्तु मल्लिनाथजी उत्कण्ठाका अर्थ करते हैं विरहवेदना । इसमें उन्होने कोशका प्रमाण दिया है :—

“रागे त्वलब्धविषये वेदना महती तु या ।
संशोषणी तु गात्राणां तामुत्कण्ठां विदुर्बुधाः ॥”

अर्थात् अभीष्ट विषयकी अप्राप्तिमें शरीरको सुखानेवाली जो उत्कट वेदना है उसे "उत्कण्ठा" कहते हैं। इस प्रकारसे गाढोत्कण्ठाका अर्थ हुआ विरहकी प्रबलवेदनावाली।

कहीं कहीं "गाढोत्कण्ठागुरुषु" ऐसा पाठान्तर है, उसको "दिवसेषु"का विशेषण समझना चाहिए। उसका अर्थ हुआ गाढ उत्कण्ठासे दीर्घ।

बालां=यहाँपर बाला शब्दसे कौमार और यौवनके मध्यकी व्यवस्था समझनी चाहिए लड़की नहीं।

गच्छत्सु=गम + लट्+शतृ, भावे सप्तमी। शिशिरमथितां = मन्थ + क्तः + टाप्+मथिता। शिशिरेण मथिता, ताम् (तृ० त०)।

महोपाध्याय मल्लिनाथ शिशिरका अर्थ शिशिरकाल करते हैं जिसका अर्थ हुआ हेमन्त ऋतु।

"शिशिरः स्यादृतोर्भेदे तुषारे शीतलेऽन्यवत्"।

विश्वकोशके इस प्रमाणके आधारपर शिशिरका अर्थ हिम (पाला) भी है। यह अर्थ समीचीनतर है, इसी प्रकार रामायणमें भी "हिमहतनलिनीव पद्मशोभा" तथा महाकविके रघुवंशमें—

"हिमसेकविपत्तिरत्र मे नलिनी पूर्वनिदर्शनं गता"

इत्यादि प्रयोग देखे जाते हैं। पद्मिनी=पद्म+इनिः+ङीप्। वा="इववद्वायथाशब्दाः" इति दण्डी। अर्थात् वा और यथा शब्द इव शब्दके समानाऽर्थक (पर्याय) हैं। "उपमायां विकल्पे वा" इत्यमरः। अमरकी इस उक्तिके आधारपर "वा" का अर्थ विकल्प भी होता है।

अन्यरूपाम्=अन्यत् रूपं यस्याः सा, ताम् (बहु०)। मन्ये=मन + लट् + इट्।

महाकविने इस श्लोकको रामायणके अशोकवनिकास्थित सीताजीके वर्णनप्रसङ्गमें—

हिमहतनलिनीव नष्टशोभा, व्यसनपरम्परया निपीड्यमाना।
सहचररहितेव चक्रवाकी, जनकसुता कृपणां दशां प्रपन्ना॥

इस उक्तिके आधारपर पल्लवित किया है।

इस श्लोकमें प्रथम चरणमें यक्षपत्नी और जीवितका भेद होनेपर भी अभेद अध्यवसाय अतिशयोक्ति, द्वितीय चरणमें पूर्णोपमा "पद्मिनी वा" इस चतुर्थ

चरणके पदमें उपमा इस प्रकार इनकी निरपेक्ष स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार हुआ है ।। २० ।।

नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियाया
निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम् ।
हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति ।। २१ ।।

अन्वयः–प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं निःश्वासानाम् अशिशिरतया भिन्नवर्णाऽधरोष्ठं हस्तन्यस्तं लम्बाऽलकत्वात् असकलव्यक्ति तस्याः प्रियाया मुखं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेः इन्दोः दैन्यं बिभर्ति नूनम् ।

साम्प्रतं सौन्दर्यसुधानिधानमनुभूतविरहावस्थं प्रियामुखं वर्णयति–नूनमिति ।

व्याख्या—(हे मेघ !) प्रबलरुदितोच्छूननेत्रम् = अविच्छिन्नरोदनोच्छ्वसितनयनम्, निःश्वासानां=मुखमारुतानाम्, अशिशिरतया=उष्णत्वेन, भिन्नवर्णाऽधरोष्ठं=कान्तिरहिताऽधरोष्ठं, हस्तन्यस्तं = करस्थापितं, लम्बाऽलकत्वात्= अवस्रस्तचूर्णकुन्तलत्वात्, संस्काराऽभावादिति शेषः । असकलव्यक्ति=असंपूर्णाऽभिव्यक्ति, अपूर्णदर्शनमिति भावः । तस्याः=प्रियायाः, मुखम्=आननं, त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेः=त्वदुपरोधक्षीणच्छवेः, इन्दोः = चन्द्रमसः, दैन्यं = दीनभावं, कान्त्यभावमिति भावः । बिभर्ति=धारयति । नूनमिति वितर्के । एवं च मद्वियोगेन मत्प्रियायाः पूर्ववर्णितरूपाऽतिशयाऽदर्शनेऽपि न भ्रमितव्यमिति भावः ।। २१ ।।

सरलार्थः—हे मेघ ! साम्प्रतं प्रियाया मुखं मद्विरहेण रोदनाऽतिशयादुच्छ्वसितनयनमुष्णनिःश्वासैर्लावण्यरहिताऽधरोष्ठं करतलस्थापितम् अवस्रस्तचूर्णकुन्तलत्वादपूर्णदर्शनमतएव त्वदुपरोधात् कान्तिहीनस्य चन्द्रमसो दीनभावं धारयति नूनम् ।। २१ ।।

अनुवादः—हे मेघ ! ज्यादा रोनेसे सूजे हुए नेत्रोंसे युक्त, निःश्वासोंके गरम होनेसे कान्तिहीन ओष्ठवाला, हथेलीके ऊपर रखा हुआ, प्रसाधन न करनेसे अलकोंके लटकनेसे अपूर्ण दर्शनवाला प्रियाका मुख तुम्हारे आवरणसे क्षीण कान्तिवाले चन्द्रमाकी दीनताको निश्चय धारण कर रहा होगा ।। २१ ।।

टिप्पणी—प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं=प्रकृष्टं बलं यस्मिस्तत् प्रबलम् (बहु) । रोदनं रुदितं, रुद् + क्तः (भावे), प्रबलं च तत् रुदितम् (क० धा०) । उद्+श्वि+क्तः (कर्तरि) =उच्छूनम् । यहाँपर 'टुओश्वि गतिवृद्धयोः" इस धातुसे कर्तामें क्त प्रत्यय होकर यजादि गणमें पढ़े जानेसे "वचिस्वपि-

यजादीनां किति" इस सूत्रसे वका सम्प्रसारण होकर 'उ' हुआ "सम्प्रसारणाच्च" इस सूत्रसे पूर्वरूप हुआ "श्वीदितो निष्ठायाम्" इससे इट् आगमका निषेध हुआ और "हलः" इससे दीर्घ होकर "ओदितश्च" इस सूत्रसे निष्ठाके "त" के स्थानमें "न" आदेश हुआ है। इस प्रकार "उच्छून" पदकी सिद्धि हो गई है। इस स्थितिमें यहांपर "च्छ्वोः शूडनुनासिके च" इससे ऊठ् होकर रूपसिद्धि बतलाना प्रामादिक है। क्योंकि "श्वि" धातुसे अन्त्यमें इकार है न कि वकार, अतः यहांपर ऊठ्की प्राप्ति नहीं है।

उच्छूने नेत्रे यस्य तत् (बहु०)। प्रबलरुदितेन उच्छूननेत्रा (तृ० त०) निःश्वासानां=निस्+श्वस्+घञ्। अशिशिरतया=शिशिरस्य भावः शिशिरता (शिशिर+तल्+टाप्)। न शिशिरता (नञ्०), तया (हेतौ तृतीया)। नञ्के छ अर्थोंमें यहांपर विरोध अर्थं विवक्षित है अत एव "अशिशिरतया" इसका अर्थ हुआ गरम होनेसे।

भिन्नवर्णाऽधरोष्ठं=भिन्नो वर्णो यस्य सः (बहु०)। अधरश्चाऽसौ ओष्ठः (क० धा०) भिन्नवर्णः अधरोष्ठो यस्य तत् (बहु०)।

हस्तन्यस्तं=नि+अस्+क्तः=न्यस्तम्। हस्ते न्यस्तम् (स० त०)। हाथमें मुखको रखनेसे चिन्ताकी अभिव्यक्ति होती है। लम्बाऽलकत्वात्=लम्बन्त इति लम्बाः, लवि+अच्। लम्बा अलका यस्य तत् (बहु०)। लम्बाऽलकस्य भावो लम्बालकत्वम् (लम्बालक+त्व), तस्मात् (हेतौ पञ्चमी)। असकलव्यक्ति=वि+अञ्+क्तिन्=व्यक्तिः। न सकला (नञ्०)। असकला व्यक्तिः (स्फुटता) यस्य तत् (बहु०)।

जिस स्त्रीका पति प्रवासी है उस स्त्रीको "प्रोषितभर्तृका" कहते हैं। यह आठ नायिकाओंमें अन्यतम है। अलकापुरीमें विद्यमान यक्षपत्नीका पति रामगिरिमें है अतः वह "प्रोषितभर्तृकाके नियम धर्मशास्त्रकार याज्ञवल्क्य इस प्रकार लिखते हैं—

"क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम्।
हास्यं परगृहे यानं त्यजेत्प्रोषितभर्तृका॥" (आचाराध्यायः)

अर्थात् प्रोषितभर्तृका सतीधर्मके पालनके लिए क्रीडा, देहसंस्कार (शरीरको सजाना) समाजमें जाना और उत्सवको देखना हास्य करना और दूसरोंके घरमें जाना इन सब कर्मोंका परित्याग करे।

अतः शरीरको सजानेका निषेध होनेसे अलकोंके लटकनेसे यक्षपत्नीके मुखकी

अभिव्यक्ति का न होना उचित ही है। त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेः=तव अनुसरणं त्वदनुसरणम् (ष० त०)। क्लिश् + क्तः + टाप्=क्लिष्टा । कम् + क्तिन् (भावे)=कान्तिः । क्लिष्टा कान्तिर्यस्य सः (बहु०)। त्वदनुसरणेन क्लिष्टकान्तिः, तस्य (तृ०त०)। "अनुसरण" के स्थानमें कहीं "उपसरण" पाठान्तर है मेघके उपसरणसे आवरणके कान्तिहीन यह इसका अर्थ हुआ ।

दैन्यं=दीनस्य भावः, तत् (दीन + ष्यञ्)। बिभर्ति=भृ + लट् + तिप् । नूनं="नूनं तर्केऽर्थनिश्चये" इत्यमरः ।

इस श्लोकमें "भिन्नवर्णाऽधरोष्ठम्" इस पदमें आपाततः पौनरुक्त्य प्रतीति होनेसे "पुनरुक्तवदाभास" और प्रियाका मुख चन्द्रमाके दैन्यको कैसे धारण करेगा? ऐसी शङ्काका विम्बप्रतिविम्बभावकी कल्पना कर परिहार करनेसे निदर्शना अलङ्कार है, इन दोनोंकी निरपेक्षतासे स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है ॥ २१ ॥

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती ।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि ? रसिके ! त्वं हि तस्य प्रियेति ॥ २२ ॥

अन्वयः—(हे मेघ !) सा बलिव्याकुला वा विरहतनु भावगम्यं मत्सादृश्यं लिखन्ती वा मधुरवचनां पञ्जरस्थां सारिकां "हे रसिके ! भर्तुः स्मरसि कच्चित्? हि त्वं तस्य प्रिया" इति पृच्छन्ती वा ते आलोके पुरा निपतति ॥ २२ ॥

प्रियतमां ज्ञातुं श्लोकत्रयेण लक्षणान्तराण्याह—आलोक इति ।

व्याख्या—(हे मेघ !) सा=मत्प्रिया बलिव्याकुला=नित्यदेवपूजायां नैमित्तिकदेवपूजायां वा व्यापृता, वा=अथवा, विरहतनु=वियोगकृशं, भावगम्यं=संभावनाकल्पनीयं, मत्सादृश्यं=मदाकारसाम्यं, लिखन्ती=विन्यस्यन्ती, क्वचित्फलकादाविति शेषः । चित्रदर्शनस्याऽपि विरहे विनोदोपायत्वादिति भावः । वा=अथवा, मधुरवचनां=मिष्टभाषिणीं, पञ्जरस्थां=पिञ्जरस्थितां, हिंस्रेभ्यो रक्षितामित्यर्थः । सारिकां=शुकाऽङ्गनां, हे रसिके=हे विदग्धे !, भर्तुः=स्वामिनः, स्मरसि कच्चित्=चिन्तयसि किम् !, हि=यतः, त्वं—सारिका, तस्य=भर्तुः, प्रिया=अभीष्टा, अतः प्रणयास्पदत्वात्स्मर्तुमर्हसीति भावः । इति=इत्थं, पृच्छन्ती=प्रश्नं कुर्वती, वा=अथवा, ते=तव, आलोके=दृष्टिपथे, पुरा निपतति=सद्यो निपतिष्यतीत्यर्थः ॥ २२ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! सा मत्प्रिया देवपूजाव्यापृता वा वियोगकृशां मत्प्रति-

कृतिं लिखन्ती वा पञ्जरस्थिता शुकाऽङ्गनां मत्स्मृतिविषये पृच्छन्ती वा त्वद्दृष्टिपथमापतिष्यति ॥ २२ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! वह मेरी प्रिया देवपूजाओंमें लगी हुई वा वियोगसे दुर्बल तथा संभावनासे कल्पनीय मेरे चित्रको लिखती हुई अथवा मधुरभाषिणी पिंजड़ेमें रही हुई मैनाको "हे रसिके ! क्या तू स्वामीका स्मरण करती है ? क्योंकि तू उनकी प्यारी थी" इस प्रकार पूछती हुई झटपट तुम्हारे दृष्टिपथको प्राप्त होगी ॥ २२ ॥

टिप्पणी—बलिव्याकुला=बलिषु व्याकुला (स० त०)। इसका अर्थ हुआ देवताओंकी नित्यपूजाओंमें वा प्रवासी पतिके शीघ्र आनेकी कामनासे नैमित्तिकपूजाओंमें लगी हुई ।

विरहतनु=विरहेण तनु, तत् (तृ० त०)। भावगम्यं=गम्=यत्=गम्यम् । भावेन गम्यं, तत् (तृ० त०)। पतिकी कृशताको नहीं देखनेसे कल्पनासे संभावित इसका यह अर्थ हुआ ।

मत्सादृश्यं=सदृशस्य भावः सादृश्यं, सदृश+ष्यञ् । मम सादृश्यं, तत् (ष० त०) । लिखन्ती=लिख+लट्+शतृ+ङीप् ।

यहाँपर वर्तमान कालमें लट्के स्थानमें शतृ प्रत्यान्त "लिखन्ती" शब्दका प्रयोग किया है, जिसका अर्थ हुआ चित्रपट आदिमें लिखनेका प्रयत्न करती हुई न कि लिखकर देखती हुई । तात्पर्य यह है कि आँखोंसे आँसुओंके गिरते रहनेसे और हाथमें पसीनेके आते रहनेसे लिखनेमें प्रतिबन्ध पड़ते रहनेपर भी बारंवार लिखनेका आरम्भ करती हुई ।

मधुरवचना=मधुरं वचनं यस्याः सा, ताम् (बहु०) । पञ्जरस्थां=पञ्जरे तिष्ठतीति पञ्जरस्था, ताम् (पञ्जर+स्था+कः, उपपद-समासः) । सारिकाम्=“सारिका" को हिन्दीमें "मैना" कहते हैं । "शारिकाम्" ऐसा तालव्य शकारवाला पाठ भी उपलब्ध होता है । कहते हैं कि "तोता" नर हैं और "मैना" मादा है ।

रसिके=रसोऽस्ति यस्याः सा रसिका, तत्सम्बुद्धौ यहाँपर रस शब्दसे "अत इनिठनौ" इस सूत्रसे ठन् प्रत्यय हुआ है। 'ठ'के स्थानमें 'इक' होता है । रस+ठन् (इक) + टाप्=रसिका । दक्षिणावर्तनाथने 'रसिके" के स्थानमें "गिरिके" ऐसा पाठान्तर दिया हैं । "गिरिका बालमूषिका" अमरकोशके इस प्रमाणसे बालमूषिका (छोटी चुहिया) को "गिरिका" कहते है । बिल्ली आदिके पास

रहनेसे बालमूषिकाकी तरह डरनेवाली पिंजड़ेकी सारिकाको यहाँपर "गिरिके" शब्दसे उपालम्भपूर्वक सम्बोधन किया है । कहींपर "सुभगे" ऐसा पाठान्तर भी मिलता है । भर्तुः = बिभर्तीति भर्ता (भृ + तृच्), तस्य, अधीगर्थक (अधि॰ पूर्वक इक् धातुका पर्यायवाचक) स्मृ धातुके योगमें यहाँपर "अधीगर्थदयेशां कर्मणि" इस सूत्रसे कर्ममें षष्ठी हुई है । स्मरसि = स्मृ + लट् + सिप् ।

कच्चित् = "कच्चित्कामप्रवेदने" इत्यमरः । इष्टविषयक प्रश्नमें "कच्चित्" इस अव्ययका प्रयोग होता है ।

प्रिया = प्रीणातीति, "इगुपधज्ञाप्रीकिरः क" इति कः ।

प्री + कः + टाप् । पृच्छन्ती = प्रच्छ + लट् (शतृ) + ङीप् । वा = "उप॰ मायां विकल्पे वा" इत्यमरः । उपमा और विकल्प अर्थको "वा" यह अव्यय द्योतन करता है । यहाँपर यह विकल्प अर्थमें है ।

आलोके = आङ् + लोक + घञ् (भावे) । विषये सप्तमी । पुरा निपतति = "स्यात्प्रबन्धे पुराऽतीते निकटागामिके पुरा ।" इत्यमरः । नि + पत् + लट् + ति । यहाँपर "पुरा" शब्दके योगमें भविष्यत् कालमें "यावत्पुरानिपातयोर्लट्" इस सूत्रसे लट् हुआ है ।

वियोगकालमें दिल बहलानेके कुछ साधन निम्नस्थ श्लोकमें दिये गये हैं:—

"वियोगाऽवस्थासु प्रियजनसदृक्षाऽनुभवनं
ततश्चित्रं कर्म स्वपनसमये दर्शनमपि ।
तदङ्गस्पृष्टानामुपगतवतां स्पर्शनमपि
प्रतीकारः कामव्यथितमनसां कोऽपि कथितः" ॥

अर्थात् १ प्रियजनके सदृश पदार्थका अनुभव करना, २ चित्ररचना, ३ स्वप्नके समयमें दर्शन और ४ प्रियके अङ्गसे स्पृष्ट पदार्थोंका स्पर्श करना इस प्रकार कामसे पीडित चित्तवालोंके मनोविनोदके ये उपाय कहे गये हैं । इस श्लोकमें तथा आगामी कुछ श्लोकोंमें विरहमें मनोविनोदका कुछ दिग्दर्शन किया गया है ।

इस श्लोकमें तुल्य बलवाले पदार्थोंका चातुर्यपूर्ण विरोध दिखलानेसे विकल्प अलङ्कार है ॥ २२ ॥

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य ! निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥ २३ ॥

अन्वयः—हे सौम्य ! मलिनवसने उत्सङ्गे वीणां निक्षिप्य मद्गोत्राऽङ्कं विरचितपदं गेयम् उद्गातुकामा नयनसलिलैः आर्द्रां तन्त्रीं कथञ्चित् सारयित्वा भूयोभूयः स्वयं कृताम् अपि मूर्च्छनां विस्मरन्ती वा (सा ते आलोके पुरा निपतति) ॥ २३ ॥

अथ त्रिभिः श्लोकैः सर्वविरहिणीसाधारणानि लक्षणानि संभावनया वर्णयति आलोक इति ।

व्याख्या—हे सौम्य=हे सज्जन ! मलिनवसने=मलीमसवस्त्रे, उत्सङ्गे=अङ्के, वीणां=वल्लकीं, निक्षिप्य=स्थापयित्वा, मद्गोत्राऽङ्कं = मन्नामचिह्नं यथा तथा, विरचितपदं=गुम्फितशब्दं, गेयं=गानाऽर्हं, प्रबन्धादिकमितिभावः । उद्गातुकामा=उच्चैर्गातुमिच्छन्ती, गान्धारग्रामेण गातुमभिलषन्तीति भावः । नयनसलिलैः=अश्रुभिः, प्रियतमचिन्तनजनितैरिति शेषः । आर्द्रां=क्लिन्नां, तन्त्रीं=गुणं, कथञ्चित्=केनाऽपि प्रकारेण, कष्टेनेति, भावः । सारयित्वा=करेण परामृश्य, ध्वनिमान्द्यहेतुभूतामार्द्रतामपनेतुं प्रमृज्येति भावः । भूयो भूयः=पुनः पुनः, स्वयम्=आत्मना, कृताम् अपि=विहिताम् अपि, विस्मरणाऽनर्हामपीति भावः । मूर्च्छनां=स्वराऽऽरोहाऽवरोहक्रमं, विस्मरन्ती वा=अन्यमनस्कत्वेन नाऽवगच्छन्ती वा, "आलोके ते निपतति पुरेति" पूर्वश्लोकस्थैः पदैः सम्बन्धः । ते=तव, आलोके=दृष्टिपथे (सा=मत्प्रिया) पुरा निपतति=सद्यो निपतिष्यतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

सरलाऽर्थः—हे सज्जन ! एवं च सा मत्प्रिया मलिनवसने निजाऽङ्के वीणां विन्यस्य मन्नामाऽङ्कं गानं गान्धारग्रामेण गातुकामा नयनजलक्लिन्नां वीणां करेण प्रमृज्य वारं वारमात्मना विहितामपि मूर्च्छनां विस्मरन्ती वा त्वद्दृष्टिपथमापतिष्यति ॥ २२ ॥

अनुवादः—हे सज्जन ! मलिन वस्त्रवाली अपनी गोदमें बीनको रखकर मेरे नामके पदवाले गीतको गान्धार ग्रामसे गानेकी इच्छा करती हुई, आँसुओंसे भीगी हुई परदोंको किसी प्रकारसे पोंछकर वारंवार स्वयम् रची हुई मूर्च्छना-(स्वरोंके चढ़ाव और उतरावके क्रम) को भूलती हुई मेरी प्रियतमा झटपट तुम्हारे दृष्टिपथको प्राप्त होगी ॥ २३ ॥

टिप्पणी—मलिनवसने=मलिनं वसनं यस्मिन् सः तस्मिन् (बहु०) । यक्षपत्नी पतिव्रता है, अतः पतिके वियोगमें वह सम्पत्तिशालिनी होकर भी

मैला कुचैला कपड़ा पहनती है, यह बात यहाँ दिखलाई गई है। देखिए पतिव्रताका लक्षण :—

"आर्ताऽऽर्ते, मुदिते हृष्टा, प्रोषिते मलिना कृशा ।
मृता म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ।।"

अर्थात् जो स्त्री पतिके पीडित होनेपर पीडित, प्रसन्न होनेपर प्रसन्न, प्रवासी होनेपर मैली कुचैली और दुर्बल होती रहती है और पतिके मरनेपर चिताऽनलमें प्रवेश कर प्राणत्याग करती है उसे "पतिव्रता" जानना चाहिए । दूसरा कपड़ा न पहननेसे, जमीनपर सोनेसे और धूल लगनेसे भी वस्त्रकी मलिनता हो गई है । महाकविने अभिज्ञानशाकुन्तलमें प्रोषितभर्तृका शकुन्तलाकी इसी प्रकार स्थिति दिखाई है :—

"वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः ।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं विभर्ति ।।

निक्षिप्य=नि+क्षिप+क्त्वा (ल्यप्)। मद्गोत्राऽङ्कं=मम गोत्रं (ष० त०), "गात्रं नाम्नि कुलेऽचले" इति कोशः। मद्गोत्रम् अङ्कः यस्मिन् (वहु०); तद् यथा तथेति क्रियाविशेषणम् । विरचितपदं=विरचितानि पदानि यस्य तत् (बहु०), तत्, यह "गेयम्" इसका विशेषण है ।

गेयं=गातुं योग्यं, तत्, गै+यत्, यह "उद्गातुकामा" इस पदका कर्म है ।

उद्गातुकामा=उद्गातुम् (उच्चैर्गातुम्) कामो यस्याः सा (बहु०)। यहाँपर "तुं काममनसोरपि" इससे "उद्गातुम्" इसके मकारका "काम" पदके परे रहते लोप हो गया है । यक्षपत्नी देवयोनिमें उत्पन्न होनेके कारण गन्धार ग्रामसे गानेकी इच्छा करती है। जैसे कि कहा गया है :—

षड्जमध्यमनामानौ ग्रामौ गायन्ति मानवाः ।
न तु गान्धारनामानं स लभ्यो देवयोनिभिः ।।"

स्वरभेदको "ग्राम" कहते हैं । ग्रामके तीन भेद होते हैं—

षड्ज, मध्यम और गान्धार । उनमें षड्ज और मध्यम ग्रामको मनुष्यलोग गाते हैं, गान्धार ग्रामको केवल देवतालोग गाते हैं । इस बातको महाकविने कुमारसम्भवसे भी हिमालयके वर्णनके प्रसङ्गमें दिखलाया है :—

"य पूरयन् कीचकरन्ध्रभागान्दरीमुखोत्थेन समीरणेन ।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ।।"

नयनसलिलैः=नयनयोः सलिलानि, तैः (ष० त०)। प्रियतमके स्मरणसे

उत्पन्न आँसुओंसे यह इसका भावाऽर्थ हुआ । तन्त्री="तन्त्री" शब्दका अर्थ है वीनका पड़दा, कुछलोग इसका बीन अर्थ करते हैं वह ठीक नहीं ।

सारयित्वा=सृ+णिच्+क्त्वा । बीनके पड़देमें आंसू पड़ गया है इसलिए उसे हाथसे पोंछकर यह इसका भाव है । यद्यपि धातुपाठमें सृ धातु गत्यर्थक है, धातुओंके धातुपाठमें दिया गया अर्थ उपलक्षण है, प्रकरण और उपसर्गकी द्योतकतासे उनके अर्थ होते हैं ।

मूर्च्छना=स्वरोंके आरोह और अवरोह अर्थात् चढ़ाव और उतरावके क्रमको "मूर्च्छना" कहते हैं । "क्रमयुक्ताः स्वराः सप्त मूर्च्छना परिकीर्तिता ।" इति भरतः । मूर्च्छनाके इक्कीस भेद होते हैं । विस्मरन्ती=वि+स्मृ+लट् (शतृ०)+ङीप् ।

विस्मरण (भूलना) यहाँ अन्यमनस्कताके कारणसे हुआ हैं यहांपर गानेसे यक्षपत्नीका मनोविनोद बतलाया गया है । गानेमें यक्षके नाम-चिह्नसे युक्त पदावली होनेसे यह भी पूर्वोक्त प्रियजन-सदृक्षाऽनुभवनके भीतर ही अन्तर्भूत हो जाता है । इस श्लोकमें भी पूर्वश्लोकके समान विकल्प अलङ्कार है ॥२३॥

शेषान्मासान्विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा
विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः ।
मत्सङ्गं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती
प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः ॥ २४ ॥

अन्वयः—सा विरहदिवसस्थापितस्य अवधेः शेषान् मासान् देहलीदत्तपुष्पैः गणनया भुवि विन्यस्यन्ती, वा हृदयनिहिताऽऽरम्भं मत्सङ्गम् आस्वादयन्ती (सा ते आलोके पुरा निपतति) प्रायेण अङ्गनानां रमणविरहेषु एते विनोदाः ॥ २४ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) वा=अथवा, विरहदिवसस्थापितस्य=वियोगदिनविहितस्य, विप्रयोगदिनादारभ्य निश्चितस्येति भावः । अवधेः=कालसीमायाः, शापाऽन्तावधेरिति भावः । शेषान्=गताऽवशिष्टान्, मासान्=त्रिंशद्दिवसात्मकान्, देहलीदत्तपुष्पैः=गृहाऽवग्रहणीनिहितकुसुमैः, गणनया=एको द्वावित्यादिसंख्यानेन, भुवि=भूतले, विन्यस्यन्ती=स्थापयन्ती, वा=अथ वा, हृदयनिहिताऽऽरम्भं=मनःसंकल्पितोपक्रमं, मत्सङ्गं=मत्संभोगम्, आस्वादयन्ती=अनुभवन्ती, (सा=मत्प्रिया, ते=तव, आलोके=दृष्टिपथे, पुरा निपतति=सद्यो निपतिष्यति)। प्रायेण=बाहुल्येन, अङ्गनानां=वधूनां, रमणविरहेषु=प्रियतम-

वियोगेषु, एते=पूर्वोक्ताः, विनोदाः=समययापनोपायाः, सन्तीति शेषः एतेन संकल्पाऽवस्थोक्ता ।। २४ ।।

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! अथ वा वियोगदिनादारभ्य निश्चितायाः कालसीमायाः अवशिष्टान् मासान् देहल्यां कुसुमैर्गणयन्ती किं वा मनःकल्पितं मत्संभोगमनुभवन्ती सा मत्प्रिया त्वद्दृष्टिपथमापतिष्यति, यतो बाहुल्येन रमणीनां रमणवियोगेष्वेते समययापनोपाया भवन्ति ।। २४ ।।

अनुवादः—हे मेघ ! अथ वा वियोगके दिनसे आरम्भ कर रखी हुई अवधिके अवशिष्ट महीनोंको देहलीपर रखे हुए फूलोंकी गणनासे जमीनपर रखती हुई (गिनती हुई) अथवा कल्पनासे आरम्भ किये हुए मेरे समागमका अनुभव करती हुई वह मेरी प्रिया झटपट तुम्हारे दृष्टिपथको प्राप्त होगी; क्योंकि प्रियतमके वियोगमें स्त्रियोंको कालयापन करनेके लिए प्रायः ये उपाय हैं ।। २४ ।।

टिप्पणी—विरहदिवसस्थापितस्य=विरहस्य दिवसः (ष० त०), तस्मात् स्थापितः, तस्य (प० त०) । स्था (पुक्)+णिच्+क्तः (कर्मणि)= स्थापितः । जिस दिन यक्षको शाप दिया गया था, उस दिनसे आरम्भ कर निश्चित, यह इसका अर्थ है । देहलीदत्तपुष्पैः=देहल्यां दत्तानि (स० त०), तानि च तानि पुष्पाणि, तैः (क० धा०) । "गृहाऽवग्रहणी देहली" इत्यमरः । द्वारके भाधार काष्ठको "देहली" कहते हैं । गणनया=हेतौ तृतीया ।

विन्यस्यन्ती=वि+नि+अस् लट् (शतृ०)+ङीप् । देहलीमें फूलोंको रखकर महीनोंकी गणना करती हुई यह इसका अर्थ है । ज्यादा मुग्धता (अल्हड़पन) दिखलानेके लिए ऐसा कहा गया है । हृदयनिहिताऽऽरम्भं= हृदये निहितः (स० त०) । नि+धा+क्तः=निहितः । हृदयनिहित आरम्भो यस्य सः, तम् (बहु०) ।

अथ वा हृदयनिहिता आरम्भाः (आलिङ्गनचुम्बनादयो व्यापाराः) यस्य, तम् (बहु०) । मत्सङ्गं=मम सङ्गः, तम् (ष० त०) । "संभोगम्" इस पाठान्तरमें भी अर्थं एक ही है सं+भुज्+घञ (भावे) ।

आस्वादयन्ती=आङ्+स्वद्+णिच्+लट् (शतृ) +ङीप् ।

प्रायेण=‘प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्" इति तृतीया । अङ्गनानां=प्रशस्तानि अङ्गानि यासां ताः, तासाम्, अङ्ग+न+टाप् । रमणविरहेषु=रमणस्य विरहाः, तेषु (ष० त०) । "रमणविरहे ह्यङ्गनानाम्" ऐसा भी पाठान्तर है,

परन्तु पूर्वपठित पाठ ही अच्छा है; विरहके एकत्वमें भी उसके दुःसहत्वके कारण अतिशय दीर्घताके द्योतनके लिए बहुवचन उपपन्न है ।

विनोदाः=वि+नुद+घञ् (भावे)

कामकी अवस्थाके दश भेद होते हैं, जैसे कि :—

“नयनप्रीतिः प्रथमं चित्तासङ्गस्ततोऽथ संकल्पः ।
निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः ।
उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव स्युः” ।।

इनमें यहांपर संकल्पाऽवस्था कही गई है । जैसेकि—

“सङ्कल्पो नाथविषये मनोरथ उदाहृतः ।।”

अर्थात् प्रियके विषयमें अभिलाष करनेको “संकल्प” कहते हैं । बाईसवें श्लोकसे आरम्भ कर चौबीसवें श्लोक तक कुल तीन श्लोकोंका परस्पर सम्बन्ध होनेसे उसे “सन्दानितक” कहते हैं । जैसे कि साहित्यदर्पणमें कहा गया है ।

छन्दोबद्धपदं पद्यं, तेनैकेन च मुक्तकम् ।
द्वाभ्यां तु युग्मकं, सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते ।।
कलापकं चतुर्भिश्च, पञ्चभिः (तदूर्ध्वं वा) कुलकं मतम् ।।

अर्थात् जहांपर छन्दोवद्ध पदोंका सन्निदेश होता है उसे “पद्य” कहते है । जहांपर एक पद्यका निरपेक्षतया सन्निवेश होता है उसे “मुक्तक” दो पद्योंका परस्पर सम्बन्ध होनेसे “युग्मक” तीन पद्योंका “सन्दानितक” चार पद्योंका “कलापक” पाँच वा उससे अधिक पद्योंका सम्बन्ध जहाँ होता हे उसे ‘कुलक’ कहते हैं । किसीने “सन्दानितक”के वदले “विशेषक” शब्दका प्रयोग किया है । इस श्लोकमें भी पूर्व श्लोकके समान विकल्प और सामान्यसे विशेषका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलंकार है, इन दोनोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलंकार है ।। २४ ।।

सव्यापारामहनि न तथा पीडयेन्मद्वियोगः
शङ्के रात्रौ गुरुतरशुचं निर्विनोदां सखीं ते ।
मत्सन्देशैः सुखयितुमलं पश्य साध्वीं निशीथे
तामुन्निद्रामवनिशयनां सौधवातायनस्थः ।। २५ ।।

अन्वयः—(हे सखे ।) अहनि सव्यापारां ते सखीं मद्वियोगः तथा न पीडयेत् । रात्रौ निर्विनोदां (ते सखीम्) गुरुतरशुचं शङ्के । (अतः) निशीथे

उन्निद्राम् अवनिशयनां साध्वीं तां मत्सन्देशैः अलं सुखयितुं सौधवातायनस्थः (सन्) पश्य ॥ २५ ॥

व्याख्या—(हे सखे !) अहनि=दिवसे, सव्यापारां=पूर्वोक्तबलिचित्रलेखनाऽऽदिव्यापारयुक्तां, ते=तव, सखीं=सखिपत्नीं, मत्प्रियामित्यर्थः । मद्वियोगः=मद्विरहः, तथा=तेन प्रकारेण, दुःसहतया प्रसिद्धरूपेणेति भावः । न पीडयेत्=न व्यथयेत्, यथा रात्राविति शेषः । किन्तु रात्रौ=रजन्यां, निर्विनोदां=विनोदव्यापाररहितां, कालक्षेपोपायरहितामिति भावः । ते=तव, सखीं=मत्प्रियां, गुरुतरशुचम्=अतिदुर्वहशोकां, शङ्के=तर्कयामि । अतः निशीथे=अर्धरात्रे, उन्निद्राम्=उत्सृष्टनिद्राम्, अवनिशयनां=भूतलशायिनीं, नियमाऽर्थमिति शेषः । साध्वीं=पतिव्रतां, तां=मत्प्रियां, मत्सन्देशैः=मद्वार्ताभिः; अलं=पर्याप्तं, सुखयितुम्=आनन्दयितुं, सौधवातायनस्थः=प्रासादवातायनस्थः सन्, पश्य=विलोकय, अनेन जागराऽवस्थोक्ता ॥ २५ ॥

सरलाऽर्थः—हे सखे ! दिवसे बलिचित्रलेखनादिकर्मव्यापृता मत्प्रिया मद्विरहेण तथा न पीड्यते यथा रात्रौ । अतोऽर्द्धरात्रे उत्सृष्टनिद्रां नियमाऽर्थं भूतलशायिनीं पतिव्रतां मत्प्रियां प्रासादवातायनस्थः सन् मद्वार्ताभिः सुखय ॥ २५ ॥

अनुवादः—हे मित्र ! दिनमें पूजा और चित्रलेखन आदि कामोंमें फंसी हुई तुम्हारी सखी (मेरी प्रियतमा) को मेरा वियोग उस प्रकार पीडित नहीं करेगा किन्तु रातमें कालयापनके उपायसे रहित वे दुःसह शोकवाली होंगी मैं ऐसा सोचता हूँ ।

महाकविने ऐसा ही भाव विक्रमोर्वशी त्रोटकमें भी दिखाया है :—

"कार्यान्तरितोत्कण्ठं दिनं मया नीतमनतिकृच्छ्रेण ।
अविनोददीर्घयामा कथं नु रात्रिर्गमयितव्या ॥" (३–४)

इस कारणसे आधीरातके समयमें जगी हुई जमीनपर लेटी हुई पतिव्रता मेरी प्रियतमाको मेरे सन्देशोंसे पर्याप्त रूपसे आनन्दित करनेके लिए प्रासादकी खिड़कीपर रहकर देखो ॥ २५ ॥

टिप्पणी—सव्यापारां=वि+आङ्+पृ+घञ् (भावे)=व्यापारः । व्यापारैः सहिता, ताम् (तुल्ययोगबहु०) । यक्षपत्नी दिनमें देवताओंके आराधनमें, चित्र लिखनेमें और मैनासे बातचीतमें इत्यादि कार्योंमें लगी रहती थी, इसलिए विरहके होनेपर भी दिन बितानेमें उसे उतना कष्ट नहीं होता था, परन्तु उसे रात बितानेमें अत्यन्त क्लेश होता था यही बात यहांपर दिखाई गई है ।

मद्वियोगः—वियोजनं वियोगः, वि + युज् + घञ् । मम वियोगः (ष० त०) । "विप्रयोगः" ऐसा पाठान्तर भी पाया जाता है अर्थमें कुछ भेद नहीं है । वि + प्र + युज् + घञ् = विप्रयोगः । तथा = तेन प्रकारेण, "प्रकारवचने थाल्" इति थाल् प्रत्यय, । तद् + थाल् । पीडयेत् = पीड + णिच् + लिङ् (विधौ) । निर्विनोदां = वि + नुद् + घञ् = विनोदः । निर्गतो विनोदो यस्याः सा, ताम् (बहु०) ।

गुरुतरशुचम्—अतिशयेन गुर्वी गुरुतरा, गुरु + तरप् + टाप् । शोचनं शुक्, शुच् + क्विप् (भावे) । "मन्युशोकौ तु शुक् स्त्रियाम्" इत्यमरः । गुरुतरा शुक् यस्याःसा, ताम् (बहु०) । शङ्के = शङ्क + लट् + इट् । "शङ्का वितर्कभययोः" इति शब्दार्णवः । उन्निद्राम् = उत्सृष्टा निद्रा यया सा उन्निद्रा, ताम् (बहु०) । अथवा निद्राया उत्क्रान्ता उन्निद्रा, ताम्, "निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या" इति समासः । अवनिशयनाम् = अवनिरेव शयनं यस्याः सा, ताम् (बहु०) ।

प्रोषितभर्तृकाको सतीधर्मका पालन करनेके लिए पलंगपर सोनेका निषेध होनेसे भूमिपर सोनेका विधान किया गया है ।

"अवनिशयनाऽऽसन्नवातायनस्थः" ऐसे पाठान्तरमें—अवनिरेव शयनं (शय्या) [रूपक०], तस्य आसन्नं (ष० त०) तच्च तत् वातायनं (क० धा०) । तस्मिंस्तिष्ठतीति (उपपद०), अवनिशयनाऽऽसन्नवातायन + स्था + कः । भूमिपर शय्याके निकटवर्ती खिड़कीपर बैठे हुए यह इसका अर्थ है ।

साध्वीं = "वोतो गुणवचनात्" इस सूत्रसे गुणवाचक साधुशब्दसे ङीष् प्रत्यय हुआ है । "सुचरित्रा तु सती साध्वी पतिव्रता ।" इत्यमरः ।

मत्सन्देशैः = सं + दिश + घञ् + सन्देशः, मम सन्देशाः, तैः (ष० त०) । अलम् = "अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम् ।" इत्यमरः । यह अव्यय है । सुखयितुं = सुख + णिच् + तुमुन् । सौधवातायनस्थः = सुधा (लेपः) अस्याऽस्तीति सौधं, सुधा + अण् । सौधशब्दका यौगिक अर्थ चूनेका लेपवाला भवन है, "सौधोऽस्त्री राजसदनम्" इत्यमरः । अमरकोशकी इस उक्तिके अनुसार योग रूढिमें सौधका अर्थ राजभवन है । कुबेरके अनुचर यक्षका भवन भी किसी राजभवनसे कम नहीं था, इससे यहांपर "सौध" पदका प्रयोग किया गया है । ईयतेऽनेनेति अयनम्, इण् + ल्युट् (अन) । वातस्याऽयनं वातायनम् (ष० त०) । सौधस्य वातायनं (ष० त०), तस्मिंस्तिष्ठतीति सौधवातायन + स्था + कः (उपपदसमासः) । पश्य = दृशिर् + लोट् + सिप् ।

“सखी धात्री च पितरौ मित्रदूतशुकादयः ।
सुखयन्तीष्टकथनसुखोपायैर्वियोगिनीम ॥”

अर्थात् सहेली, धाय, माता, पिता, मित्र, दूत और शुक आदि इष्टकथन और सुखके उपायोंसे वियोगिनीको आनन्दित करते हैं, रत्नाकरकी इस उक्तिके अनुसार मेघ यक्षका दूत है अतः आधी रातके समयमें भी पतिव्रता यक्षपत्नीके पास जाकर उसके पतिका सन्देश कहनेमें कुछ दोष नहीं है। यहाँपर जागरणरूप कामदशाका प्रतिपादन किया गया है ॥ २५ ॥

आधिक्षामां विरहशयने सन्निषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः ।
नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या
तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—आधिक्षामां विरहशयने सन्निषण्णैकपार्श्वां प्राचीमूले कलामात्रशेषां हिमांऽशोः तनुम् इव (स्थिताम्) या रात्रिः मया सार्धम् इच्छारतैः क्षण इव नीतः विरहमहतीं ताम् एव उष्णैः अश्रुभिः यापयन्तीम् (तां पश्य) :

पुनस्तामेव विशिनष्टि—“आधिक्षामाम्” इत्यादिभिश्चतुर्भिः ।

व्याख्या—(हे मेघ !) आधिक्षामां=मनोव्यथाकृशां, विरहशयने=वियोगशयने, सन्निषण्णैकपार्श्वां=सम्यङ्निलीनैकपार्श्वाम्, अत एव प्राचीमूले=पुर्वदिङ्मुखे, उदयाऽचलप्रान्त इति भावः । कलामात्रशेषां=कलामात्राऽवशिष्टां, हिमांऽशोः=चन्द्रमसः, तनुम् इव=मूर्तिम् इव, स्थितामिति शेषः । देवपरिपीतकलान्तरत्वादेककलाऽऽत्मिकाममावास्यायां चन्द्रमूर्तिमिवेति भावः । तथा या=यज्जातीया । रात्रिः=रजनी, मया सह, इच्छारतैः=मनोरथकृतसुरतविशेषैः, क्षण इव=अल्पवेला इव, नीता=यापिता, विरहमहतीं=वियोगदीर्घा, ताम् एव=तज्जातीयां रात्रिमेव, उष्णैः=अशीतैः अश्रुभिः=नयनसलिलैः, यापयन्तीं=गमयन्तीं, तां पश्येति पूर्वश्लोकस्थाभ्यां पदाभ्यां सम्बन्धः । एतेन कार्श्यावस्थोक्ता ॥ २६ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! मनोव्यथाक्षीणां विरहशय्यायामेकपार्श्वेन शयानां तथोदयाऽचलप्रान्ते कलामात्राऽवशिष्टां चन्द्रमूर्तिमिव स्थितां विरहदीर्घां रजनीमशीतनयनजलमुन्मुच्य यापयन्तीं तां पश्य ॥ २६ ॥

अनुवादः—मनकी वेदनासे क्षीण, विरहकी शय्यापर एकही करवटसे लेटनेवाली, उदय पर्वतके प्रान्तमें एकही कलासे अवशिष्ट चन्द्रकी मूर्तिकी सदृश तथा

पहले जो रात मेरे साथ इच्छासे की हुई सुरतक्रीडाओंसे कुछ क्षणके समान बिताई गई थी विरहसे दीर्घ वैसीही रातको गरम आसुओंसे बिताती हुई मेरी प्रियाको देखो ॥ २६ ॥

टिप्पणी—आधिक्षामाम् आ + धा + किः (कर्मणि)=आधिः । क्षै + क्तः (कर्तरि) टाप्=क्षामा, "क्षायो मः" इस सूत्रसे तकारके स्थानमें मकार हुआ है ।

आधिना क्षामा, ताम् (तृ० त०) । "पुंस्याधिर्मानसी व्यथा ।" इत्यमरः । विरहशयने=विरहस्य शयनं, तस्मिन् (ष० त०) । पल्लव आदिसे रचित विरहकी बिछौनेपर अथवा भूमिरूप शयनपर ।

संनिषण्णैकपार्श्वां–नि + सद् + क्तः (कर्तरि)=निषण्णम् । सम्यक् निषण्णं, "कुगतिप्रादय" इति समासः । संनिषण्णम् एकं पार्श्वं यस्याः सा, ताम् (बहु०) ।

प्राचीमूले=प्राञ्चति (प्राप्नोति) सूर्यम् इति प्राची, प्र + अञ्च + क्विन् (कर्तरि) + ङीप् । प्राच्या मूलं तस्मिन् (ष० त०) । "प्राची" पदका ग्रहण चन्द्रमाकी क्षीण अवस्था झलकानेके लिए है और 'मूल पदका ग्रहण दर्शनीयताका प्रदर्शन करनेके लिए है । कलामात्रशेषां=कला एव कलामात्रं, "मयूरव्यंसकादयश्चे" ति समासः । कलामात्रं शेषो यस्याः सा ताम् (बहु०) । सोलहवें भागको "कला" कहते हैं, "कला तु षोडशो भागः" इत्यमरः । हिमांऽशोः=हिमा अंशवो यस्य स हिमांऽशुस्तस्य (बहु०) । तनुं="स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः" इत्यमरः । देवताओंके और (पन्द्रह) कलाओंके पीनेसे अमावस्यामें एकमात्र कलासे अवशिष्ट चन्द्रमूर्तिकी सदृश यह इसका समष्टि अर्थ है । चन्द्रमूर्तिके साथ यक्षपत्नीकी उपमा देनेसे उसकी स्वभावतः कोमलता, वैसी कृश होनेपर भी लावण्यका अस्तित्व और रसिकोंके हृदयमें चुभनेवाली दुःखपूर्ण अवस्था व्यक्त होती है । मया="सार्धं" पदेन योगे "सहयुक्तेऽप्रधाने" इति तृतीया । इच्छारतैः=रम् + क्तः=रतम् । इच्छया रतानि, तैः (तृ० त०) क्षण इव=अल्पकाल इव ।

"निर्व्यापारस्थितौ काल विशेषोत्सवयोः क्षणः ।" इत्यमरः ।

"क्षण" शब्द नपुंसक लिङ्ग नहीं है, "क्षणम्" ऐसा जो प्रयोग देखा जाता है, वह "कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इस सूत्रसे द्वितीया होनेपर उत्पन्न है । "क्षण इव" यहांपर "क्षणे" ऐसा सप्तम्यन्त पाठ भी नहीं है यह तो कर्मवाच्य प्रयोगमें रात्रिके उपमानके तौरपर प्रथमा विभक्तिमें प्रयुक्त है । नीता=नी + क्तः + टाप् । विरहमतीं=विरहेण महती, ताम् (तृ० त०), महत्त्वेन प्रतीयमानामिति भावः ।

यापयन्तीं =√या+णिच् (पुक्)+लट् (शतृ)+ङीप् । पहले जो रात मेरे साथ इच्छासे की गई सुरतक्रीडाओंसे अल्पकालकी समान बिताई गई थी विरहसे लम्बी लगनेवाली वैसी ही रातको गरम आँसुओंको गिराकर बिताती हुई उस मेरी प्रियाको देखो यह समष्टि अर्थ है। सुखका समय दीर्घ भी अल्प और दुःखका समय अल्प भी दीर्घ रूपमें प्रतीत होता है यह अनुभव सिद्ध है।

इस श्लोकमें कार्श्यावस्था कही गई है, और उपमा अलङ्कार है ॥ २६ ॥

पादानिन्दोरमृतशिशिराञ्जालमार्गप्रविष्टान्
पूर्वप्रीत्या गतमभिमुखं संनिवृत्तं तथैव ।
चक्षुः खेदात्सलिलगुरुभिः पक्ष्मभिश्छादयन्तीं
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं न प्रबुद्धां न सुप्ताम् ॥ २७ ॥

अन्वयः—जालमार्गप्रविष्टान् अमृतशिशिरान् इन्दोः पादान् पूर्वप्रीत्या अभिमुखं गतं तथैव संनिवृत्तं चक्षुः खेदात् सलिलगुरुभिः पक्ष्मभिः छादयन्तीं, साऽभ्रे अह्नि न प्रबुद्धां न सुप्तां स्थलकमलिनीम् इव (स्थितां तां पश्य) ॥ २७ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) जालमार्गप्रविष्टान् = गवाक्षविवरगतान्, अमृतशिशिरान्=पीयूषशीतलान्, इन्दोः=चन्द्रमसः, पादान्=किरणान्, पूर्वप्रीत्या= पूर्वस्नेहेन, मत्सहाऽवस्थानजातेनेति शेषः । अभिमुखं=संमुखं यथा तथा, गतं= प्राप्तं, तथैव=तेन प्रकारेणैव, संनिवृत्तं=प्रतिनिवृत्तं, विरहकाले इन्दुपादानामत्यर्थदुःसहत्वादिति भावः । तादृशं चक्षुः=नेत्रं, खेदात्—विरहदुःखात्, सलिलगुरुभिः=अश्रुदुर्भरैः, पक्ष्मभिः=नयनरोमभिः, छादयन्तीम्=आच्छादयन्तीम्, अत एव साऽभ्रे=मेघसहिते, अह्नि=दिवसे; दुर्दिन इत्यर्थः । न प्रबुद्धां=न विकसितां, सूर्यस्य मेघावृतत्वादिति भावः । तथा न सुप्तां=न मुकुलितां; दिनस्य सत्त्वादिति भावः । तादृशीं स्थलकमलिनीम् इव=स्थलपद्मिनीम् इव, स्थितामिति शेषः । तां पश्येति पूर्वश्लोकस्थाभ्यां पदाभ्यां सम्बन्धः । एतेन विषयद्वेषाऽऽख्या षष्ठी कामदशा सूचिता ॥ २७ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! गवाक्षविवरप्रविष्टानमृतशीतलांश्चन्द्रकिरणान् पूर्वस्नेहेन सम्मुखगतमपि विरहवशात्प्रतिनिवृत्तं नयनमश्रुदुर्वहैः पक्ष्मपुटैराच्छादयन्तीं मेघच्छन्नेऽह्नि विकासरहितामनिमीलितां च स्थलकमलिनीमिव स्थितां तां पश्य ॥ २७ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! खिड़कियोंसे प्रवेश करती हुई और अमृतकी सदृश ठण्डी चन्द्रमाकी किरणोंपर पहलेकी प्रीतिसे उसके नेत्र जैसे जाते हैं वैसे ही लौट

आते हैं, तब वह उनको विरहके दुःखसे आँसुओंसे भारी पलकोंसे आच्छादित करती है । अत एव मेघोंसे ढके हुए दिनमें न विकसित और न अविकसित ही होनेवाली स्थलकमलिनी समान रही हुई मेरी प्रियाको देखो ॥ २७ ॥

टिप्पणी—जालमार्गप्रविष्टान्=जालस्य मार्गः (विवरम्) (प० त०), तेन प्रविष्टाः, तान् (तृ० त०)। अमृतशिशिरान्=अमृतानि इव शिशिराः, तान् "उपमानानि सामान्यवचनैः" इति उपमानकर्मधारयः । अथवा अमृतेन शिशिरास्तान् (तृ० त०)। चन्द्रमाकी किरणें अमृतकी समान ठण्डी हैं इस अर्थमें उपमानकर्मधारय समास है। अथवा अमृतसे ठण्डी इस अर्थमें तृतीयातत्पुरुष ससास है। चन्द्रमा "सुधांऽशु" अर्थात् अमृतमय किरणोंसे युक्त कहे जाते हैं, अत एव तृतीयातत्पुरुष भी उचित है ।

पूर्वप्रीत्या=प्रीणनं प्रीतिः, प्री+क्तिन् । पूर्वाचाऽसौ प्रीतिः, तया (क० धा०) संनिवृत्तं=सं+नि+वृत्+क्तः । पतिकी उपस्थितिमें चन्द्रकी किरणें अतीव आनन्द देती थीं, अतः विरहकी अवस्थामें पहलेके अभ्यासके अनुसार यक्षपत्नीने उनमें नेत्रपात किया, परन्तु विरहतांपके उद्दीपन होनेसे उनसे शीघ्र नेत्रोंको लौटा लिया यह इसका तात्पर्य है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराजने लाटाऽनुप्रासके उदाहरणमें इसी प्रकारका भाववाला श्लोक दिया है :—

"यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ॥"

खेदात्=हेतौ पञ्चमी । खिद+घञ् । सलिलगुरुभिः=सलिलेन गुरूणि, तैः (तृ० त०) । पक्ष्मभिः=करणे तृतीया ।

"पक्ष्माऽक्षिलोम्नि किञ्जल्के तन्त्वाद्यंशेऽप्यणीयसि" । इत्यमरः ।

छादयन्तीं=छद+णिच्+लट् (शतृ)+ङीप् ।

साऽभ्रे=अभ्रेण सहितं, तस्मिन् (तुल्ययोगबहु०)। यह "अह्नि" इस पदका विशेषण है । प्रबुद्धां=प्र+बुध्+क्तः+टाप् । सुप्तां=स्वप्+क्त+टाप् । यहाँपर न प्रबुद्धां न सुप्ताम् ऐसा समस्त (समासयुक्त) पाठान्तर पाया जाता है, उसमें नञ् समास नहीं हुआ है, नञ् समास होता तो "न लोपो नञः" इस सूत्रसे नञ्के नकारका लोप होकर "अप्रबुद्धाम्" "असुप्ताम्" ऐसे रूप बनते, हाँ, "सुप्सुपा समास' हो सकता है ।

चन्द्रमाकी किरणोंको देखनेके लिए पहले गये हुए पीछे तापाऽतिशयके कारण लौटाये हुए नेत्रोंको आँसुओंसे भरी हुई पलकोंसे आच्छादित करती

हुई विरहिणी यक्षाऽङ्गना न जगी हुई और न सोई-सी होकर मेघसे आच्छादित दिनमें न खिली हुई और न मूंदी हुई स्थलकमलिनीकी सदृश मालूम होती थी यह इसका तात्पर्य है। यहांपर विषयद्वेष नामकी छठी कामदशा सूचित की गई है।

इस श्लोकमें "अमृतशिशिराम्" इसमें लुप्तोपमा और "स्थलकमलिनीम् इव इसमें श्रोती उपमा है, इस प्रकार इन दोनों अलङ्कारोंकी निरपेक्षतासे स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है ॥ २७ ॥

निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीं
शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागण्डलम्बम् ।
मत्संभोगः कथमुपनयेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रा-
माकाङ्क्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम् ॥ २८ ॥

अन्वयः—शुद्धस्नानात् परुषम् आगण्डलम्बम् अलकम् अधरकिसलयक्लेशिना निःश्वासेन नूनं विक्षिपन्तीं स्वप्नजोऽपि मत्संभोगः कथम् उपनयेत् इति नयनसलिलोत्पीडरुद्धाऽवकाशां निद्राम् आकाङ्क्षन्तीम् (तां पश्य) ॥ २८ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) शुद्धस्नानात्=केवलमज्जनात्, तैलादिरहितस्नानात्, परुषं=कठोरस्पर्शम्, आगण्डलम्बम्=आकपोललम्बमानम्, अलकं=चूर्णकुन्तलं, जातावेकवचनम् । अधरकिसलयक्लेशिना=अधरपल्लवपीडकेन, उष्णेनेत्यर्थः । निःश्वासेन=दीर्घश्वासेन नूनं=निश्चितं, विक्षिपन्तीं=चालयन्तीं, तथा स्वप्नजोऽपि=स्वप्नाऽवस्थाजनितोऽपि, साक्षात्सम्भोगाऽसम्भवादिति भावः । मत्संभोगः=मत्समागमः, कथं=केनाऽपि प्रकारेण, उपनयेत्=आगच्छेत् इति=एतादृशेन आशयेन, नयनसलिलोत्पीडरुद्धाऽवकाशाम्=अश्रुसमूहनिरुद्धस्थानां, दुर्लभामिति भावऽ । निद्रां=संवेशम्, आकाङ्क्षन्तीम्=इच्छन्तीं, न त्वनुभवन्तीम्, तां=मत्प्रियां, पश्य=अवलोकय । अत्राऽश्रुविसर्जनेन लज्जात्यागो व्यज्यते ॥२८॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! दीर्घनिःश्वासेन कपोलफलकयोर्लम्बायमानात् रूक्षांश्चूर्णकुन्तलांश्चालयन्तीं स्वप्नदशायामपि मत्सहवासं प्राप्तुं नयनजलनिवारितप्रसरां निद्रामिच्छन्तीं मत्प्रियां पश्य ॥ २८ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! तैलके बिना स्नान करनेसे रूखे और कपोलों तक लटकते हुए अलकोंको पल्लवके समान ओष्ठको गरम करनेवाले निःश्वाससे इधर-उधर हिलाती हुई तथा स्वप्नाऽवस्थामें भी मेरे साथ समागम-सुख किसी भी

प्रकारसे प्राप्त हो इस आशयसे आँसुओंसे रोकी गई निद्राको चाहती हुई मेरी प्रियाको देखो ॥ २८ ॥

टिप्पणी—शुद्धस्नानात्=शुद्धं च तत् स्नानं, तस्मात् (क० ध०) । स्त्रियां स्वभावतः प्रसाधनको पसन्द करनेवाली होती हैं । अतः स्नानके पहले सुगन्धित तैल और उद्वर्तन आदिका उपयोग करके तब वे स्नान करती हैं । परन्तु यक्षपत्नीके विषयमें यह बात नहीं है, वह प्रोषितभर्तृकाका है । अतः सतीधर्मके अनुसार उसे शरीरसंस्कारका निषेध किया गया है । इसलिइ उसके केश शुद्ध स्नानसे रूखे और नहीं सँवारेजानेसे कपोलों तक लटकने लगे यह तात्पर्य है ।

आगण्डलम्बं=लम्बते इति लम्बः, "लबि अवस्रंसने" धातुसे 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" इस सूत्रसे अच् प्रत्यय हुआ है । आ गण्डाभ्याम् इति आगण्डम्, "आङ् मर्यादाऽभिविध्योः" इरा सूत्रते अव्ययीभाव हुआ है । आगणडं लम्बः, तं, "सुप्सुपा" समासः ।

अलकम्="जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्" इस सूत्रसे जातिवाचक शब्दमें विकल्पसे बहुवचन होनेसे पक्षमें एकवचन भी होता है ।

अधरकिसलयक्लेशिना=अधरः किसलयम् इव "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याऽप्रयोगे" इति उपमितसमासः । महाकविने अभिज्ञानशाकुन्तल नाटकमें भी—

"अधरः किसलयरागः कोमलविटपाऽनुकारिणौ बाहू ।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम्,' ॥ (१–२१)

इस श्लोकमें अधरका किसलय (पल्लव) से सादृश्य दिखलाया है । अधरकिसलयं क्लिश्नाति इति अधरकिसलयक्लेशी, तेन (अधरकिसलय=क्लिश्+णिनिः; उपपदसमासः) । पल्लवके समान अधरको क्लेश देनेवाला अर्थात् जलानेवाला ।

विक्षिपन्तीं=विक्षिपतीति विक्षिपन्ती, ताम् । वि+क्षिप+लट् (शतृ)+ङीप् । स्वप्नजः=स्वप्ने जातः, "सप्तम्यां जनेर्डः" इति डः । स्वप्न+जत्+डः । मत्सम्भोगः=मम सम्भोगः (ष० त०) । कहीं कहींपर "मत्संयोगः" ऐसा पाठान्तर भी मिलता है, अर्थमें कुछ भेद नहीं है ।

कथं="केन प्रकारेण" ऐसा विग्रहकर किम् शब्दसे "किमश्च" इस सूत्रसे थमु (थम्) प्रत्यय हुआ और "किमः कः" इस सूत्रसे किं शब्दके स्थानमें "क" आदेश होकर "कथम्" ऐसा अव्यय पद निष्पन्न होता है ।

उपनयेत्=उप+नी+लिङ् (प्रार्थनायाम्)+तिप् । यहाँपर "उप" उपसर्गपूर्वक नीधातुका अर्थान्तर अर्थात् आगमनरूप दूसरे अर्थमें प्रयुक्त होनेसे—

"धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहात् ।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया" ॥

इस नियमके अनुसार नीधातु "नदी वहति" ऐसे प्रयोगमें वह धातुके समान अकर्मक हो गया है । "उपनमेत्" ऐसा भी पाठान्तर मिलता है, उसमें उप+नम्+लिङ् (विधौ)+तिप्, ऐसी प्रक्रिया समझकर "उपगच्छेत्" ऐसा पर्याय देना चाहिए, अर्थात् प्राप्त हो । इसी भावका श्लोक महाकविने अन्यत्र भी दिया है :—

"कथमुपलभे निद्रां स्वप्ने समागमकारिणीम् ॥" (विक्रमोर्वशीय १०–११)
"प्रजागरात्खिलीभूतस्तस्याः स्वप्नसमागमः ।"
(अभिज्ञानशाकुन्तल ६–२२)

नयनसलिलोत्पीडरुद्धाऽवकाशां=नयनयोः सलिलानि (ष० त०), तेषाम् उत्पीडः (समूहः) [ष० त०] । रुद्धः अवकाशः यस्याः सा (बहु०) । नयनसलिलोत्पीडेन रुद्धाऽवकाशा, ताम् (तृ० त०) यह "निद्राम्" इस पदका विशेषण है ।

आकाङ्क्षन्तीम्=आङ्+काङ्क्ष+लट् (शतृ) ङीप् ।

इस श्लोकमें आँसू छोड़नेसे लज्जाका त्याग व्यङ्ग्य होता है इसी प्रकार "अधरकिसलयक्लेशिना" यहाँपर लुप्तोपमा अलंकार है ॥ २८ ॥

आद्ये बद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा
शापस्यान्ते विगलितशुचा तां मयोद्वेष्टनीयाम् ।
स्पर्शक्लिष्टामयमितनखेनासकृत्सारयन्तीं
गण्डाभोगात्कठिनविषमामेकवेणीं करेण ॥ २९ ॥

अन्वयः—आद्ये विरहदिवसे दाम हित्वा या शिखा बद्धा, शापस्य अन्ते विगलितशुचा मया उद्वेष्टनीयां स्पर्शक्लिष्टां कठिनविषमाम् एकवेणीं ताम् अयमितनखेन करेण गण्डाऽभोगात् असकृत् सारयन्तीम् (तां पश्य) ॥ २९ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) आद्ये=प्रथमे, विरहदिवसे=वियोगदिने, दाम=मालां, हित्वा=त्यक्त्वा, या, शिखा=केशपाशी, बद्धा=ग्रथिता, शापस्य=शपनस्य, वर्षं यावत् प्रियविरहरूपस्येति शेषः । अन्ते=अवसाने, विगलितशुचा=अपगतशोकेन, मया=प्रियतमेन, उद्वेष्टनीयां=मोचनीयां, शिथिलग्रन्थिवन्धीकर्तुं

योग्यामिति भाव । स्पर्शक्लिष्टाम्=आमर्शने सव्यथां, कठिनविषमां=कठोरनिम्नोन्नताम्, एकवेणीम्=एकीभूतवेणीम् एकबन्धनवतीं वेणीमिति भावः । तां=शिखाम्, अयमितनखेन=अकर्तितनखरेण, करेण=हस्तेन, गण्डाऽऽभोगात्=कपोलविस्तारात्, असकृत्=बहुशः, सारयन्तीम्=अपसारयन्तीं, तां पश्येति पूर्वेण सम्बन्धः । असकृत्सारणाच्चित्तविभ्रमाऽवस्था सूचिता ।। २९ ।।

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! प्रथमे वियोगदिने पुष्पमालापरित्यागपूर्वकं ता केशपाशी बद्धा, शापाऽवसाने मया मोचनीयां रूक्षां स्पर्शे सति मूलकेशेषु सव्यथाम् एकीभूतवेणीं तां केशपाशीं दीर्घनखेन हस्तेन कपोलफलकाद् मुहुर्मुहुरपसारयन्तीं मत्प्रियां पश्य ।। २९ ।।

अनुवादः—हे मेघ ! वियोगके प्रथम दिनमें पुष्पमालाको उतारकर जो चोटी बाँधी गई थी, शापके अन्तमें शोकरहित होकर मुझसे खोली जानेवाली, छूनेपर पीडा देनेवाली कठोर और विषम तथा एक ही चोटीके रूपमें विद्यमान उस (चोटी)-को विना कटे नाखूनोंसे युक्त हाथसे कपोलप्रदेशसे वारंवार हटाती हुई मेरी प्रियाको देखो ।। २९ ।।

टिप्पणी—आद्ये=आदौ भवः, तस्मिन् । 'दिगादिभ्यो यत्'' आदि+यत् । विरहदिवसे=विरहस्य दिवसः, तस्मिन् (ष० त०) ।

दाम=यह नपुंसकलिङ्गी दामन् शब्दके द्वितीयाका एकवचनाऽन्तरूप है और "हित्वा" इस पदका कर्म है ।

हित्वा="ओहाक् त्यागे" इस धातुसे क्त्वा प्रत्यय और "जहातेर्हिः" इस सूत्रसे "हा" के स्थानमें हि' आदेश हुआ है । शिरमें फूलोंकी माला पहनना केशप्रसाधनरूप शरीरसंस्कार है, अतः प्रोषितभर्तृकाको निषिद्ध होनेसे उसने उसे छोड़ दिया ।

शिखा=चोटी, यह "बद्धा" का कर्म है, कर्मवाच्य प्रयोगमें कर्मके उक्त होनेसे प्रथमा विभक्ति हुई है ।

बद्धा=बन्ध+क्तः+टाप् । शापस्य=शप+घञ् । "शापाऽऽक्रोशौ दुरेषणा ।" इत्यमरः । विगलितशुचा=विगलिता शुक् यस्य स विगलितशुक्, तेन (बहु०) ।

उद्वेष्टनीयाम्=उद्गतं वेष्टनं यस्याः सा उद्वेष्टना (बहु०), जिसका बन्धन दूर हो गया है । उद्वेष्टनां करोतीति उद्वेष्टयति, यहाँपर उद्वेष्टना शब्दसे "तत्करोति तदाचष्टे" इस वार्तिकसे णिच् प्रत्यय होकर ':आख्यानात् कृतस्तदाचष्टे कृल्लुक्,

प्रकृतिप्रत्यापत्तिः, प्रकृतिवच्च कारकम्'' इस वार्तिकसे कृत्प्रत्ययका लोप (अदर्शन) होकर "उद्वेष्ट" इस नाम धातुसे "उद्वेष्टयितुम् अर्हा" ऐसा विग्रह कर "तव्यत्तव्याऽनीयरः'' इस सूत्रसे अनीयर् प्रत्यय होकर टाप् प्रत्यय हुआ है। उद्वेष्ट+अनीयर्+टाप्=उद्वेष्टनीया, ताम् । बन्धन दूर करनेको योग्य । विरहके कारण संस्कार न होनेसे एकवेणीभूत पत्नीकी चोटीको विरहके अवसानमें खोलना पतिके लिए उपयुक्त कार्य है इसलिए ऐसा कहा गया है ।

स्पर्शक्लिष्टां=क्लिश+क्तः (कर्तरि)+टाप्=क्लिष्टा । स्पर्शे क्लिष्टा, ताम् (स० त०) । गाढ़ बन्धनके कारण स्पर्श होनेपर मूलकेशोंमें पीडा देनेवाली । यह "एकवेणीम्" इस पदका विशेषण है ।

कठिनविषमां=कठिना चाऽसौ विषमा (निम्नोन्नता), ताम् । यहाँपर दोनों पद विशेषण हैं, इसलिए ऐसे स्थलमें पूर्वपदको विशेषण और उत्तरपदको विशेष्य तौरपर मानकर "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" इससे कर्मधारय हुआ है।

कठिना च विषमा च ऐसा विग्रह कर द्वन्द्व समास करें तो इतरेतरयोगमें "कठिनाविषमे'' ऐसा पद होगा समाहारमें "कठिनाविषमम्" बनेगा अतः ऐसे स्थलमें द्वन्द्व समास हो ही नहीं सकता ।

एकवेणीम्=एका चाऽसौ वेणी, ताम्, "पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाऽधिकरणेन'' इस सूत्रसे कर्मधारय समास होकर "पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु'' इस सूत्रसे पूर्व पदका पुंवद्भाव हो गया है ।

अयमितनखेन=यम+क्तः (कर्मणि)=यमिताः । न यमिताः (नञ्०) । अयमिता नखा यस्य सः, तेन (बहु०) ।

करेण=यह पद सारण क्रियाका करण है ।

गण्डाऽऽभोगात्=गण्डस्य आभोगः, तस्मात् (ष० त०) । "आभोग; परिपूर्णता'' इत्यमरः । असकृत्=न सकृत् (नञ्०) । सारयन्ती=सृ+णिच्+लट् (शतृ०)+ङीप् ।

यहांपर चोटीको वारंवार हटाते रहनेसे यक्षपत्नीकी चित्तविभ्रमदशा सूचित होती है । इस श्लोकमे स्वभावोक्ति अलंकार है ।। २९ ।।

सा संन्यस्ताभरणमबला पेशलं धारयन्ती
शय्योत्सङ्गे निहितमसकृद् दुःखदुःखेन गात्रम् ।
त्वामप्यस्रं नवजलमयं मोचयिष्यत्यवश्यं
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ॥ ३० ॥

अन्वयः—अवलां संन्यस्ताऽऽभरणम् असकृत् दुःखदुःखेन शय्योत्सङ्गे निहितं पेशलं गात्रं धारयन्ती सा त्वाम् अपि नवजलमयम् अस्रम् अवश्यं मोचयिष्यति, प्रायः आर्द्रान्तरात्मा सर्वः करुणावृत्तिः भवति ॥ ३० ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) अवला=दुर्बला, संन्यस्ताऽऽभरणं=परित्यक्तभूषणं, प्रोषितभर्तृकत्वात्कृशत्वाच्चेति भावः । असकृत्=अनेकशः, दुःखदुःखेन=अतिशयदुःखेन, शय्योत्सङ्गे=तल्पमध्ये, निहितं=स्थापितं, पेशलं=मृदुलं, गात्रं=शरीरं, धारयन्ती=वहन्ती, सा=मत्प्रिया, त्वाम् अपि=भवन्तम् अपि, पूर्वदशाऽऽदर्शिनं जनमपीति भावः । किमुत मामिति शेषः । नवजलमयं=नूतनतोयरूपम्, अस्रं=बाष्पम्, अवश्यं=निश्चितं, मोचयिष्यति=त्याजयिष्यति, रमणविरहिणीं तां दृष्ट्वा त्वमप्यवश्यं बाष्पं मोक्ष्यसीति भावः । उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति—प्राय इति । प्रायः=बाहुल्येन आर्द्रान्तरात्मा=मृदुहृदयः, सर्वः=सकलः, करुणावृत्तिः=दयामयचित्तवृत्तिः, भवति=वर्त्तते, अतोऽस्मिन्नवसरे सर्वथा त्वया चरमदशापरिहाराय द्रुततरं गन्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ ३० ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! दुर्बलां, परित्यक्तभूषणं शयनीयमध्ये निहितं कोमलं शरीरं धारयन्तीं तां दृष्ट्वा त्वमपि नूतनजलरूपमश्रु मोक्ष्यसि, यतः प्रायश आर्द्रहृदयः सकलोऽपि जनः कारुणिकाऽन्तःकरणवृत्तिर्भवति ॥ ३० ॥

अनुवादः—हे मेघ ! अलङ्कारोंसे रहित और वारवार अतिशय दुःखसे शय्यापर रखे हुए कोमल शरीरको धारण करती हुई दुर्बल मेरी प्रियाको देखकर तुम भी नूतनजलरूप आंसू निश्चय गिराओगे, क्योंकि प्रायः कोमलहृदयवाले सब लोग करुणापूर्ण चित्तवृत्तिवाले होते हैं ॥ ३० ॥

टिप्पणी—अबला=अविद्यमानं बलं यस्याः सा (नञ्बहु०), यहांपर नञ् अल्पार्थक है । अतः प्रकृतमें अबलाका अर्थ हुआ दुर्बला । संन्यस्ताऽऽभरणम्=आभ्रियते अनेन इति आभरणं "करणाऽधिकरणयोश्चे"ति करणे ल्युट् । आङ्+भृ+ल्युट् । सं=नि+अस्=क्तः (कर्मणि)=संन्यस्तम् । संन्यस्तानि आभरणानि यस्मात्तत् (बहु०) प्रोषितभर्तृकाके नियमसे और कृश होनेसे भी यक्षपत्नीने अपने शरीरसे अलङ्कारोंको उतार दिया था । यह पद "गात्रम्" पदका विशेषण है ।

असकृत्=न सकृत् (नञ्) । दुःखदुःखेन=दुःखप्रकारम् इति दुःखदुःखं, तेन "प्रकारे गुणवचनस्य" इस सूत्रसे द्वित्व और कर्मधारयवद्भाव हो गया है ।

शय्योत्सङ्गे–उद् + सञ्ज + घञ् (भावे)=उत्सङ्गः । शय्याया उत्सङ्गः, तस्मिन् (ष० त०) । निहितं = नि = धा (हि) + क्तः ।

पेशलम्=इसका पाठान्तर "पेलवम्" भी मिलता है, अर्थमें भेद नहीं है । पेशलका अर्थ सुन्दर, दक्ष कोमल है, यहांपर यह कोमल अर्थमें है ।

धारयन्ती + धृ + णिच् + लट् (शतृ) + ङीप् । "कोमल शरीरको धारण करती हुई" कहनेसे सामर्थ्यका अतिशय अभाव होनेसे मूर्च्छावस्था सूचित होती है ।

नवजलमयं=नवं च तत् जलम् (क० धा०), प्रचुरं नवजलम् अथवा नवजलम् एव नवजलमयं, तत् "तत्प्रकृतवचने मयट्" इस सूत्रसे प्रचुर अर्थमें वा स्वरूप अर्थमें मयट् प्रत्यय हुआ है ।

मोचयिष्यति=मुच्+णिच्+लृट्+तिप् । महोपाध्याय मल्लिनाथजीने "द्विकर्मसु पचादीनामुसंख्यानम्" इस वार्तिकसे पचादि धातुओंमें मुच्धातुका पाठ होनेसे द्विकर्मक होकर द्वितीया हुई है, ऐसा लिखा है । परन्तु उक्त वार्तिक सिद्धान्तकौमुदी तथा काशिका आदि प्रामाणिक ग्रन्थोंमें नहीं मिलता है, अतः मुच् धातुका द्विकर्मकत्व संदिग्ध है । इसलिए शारदारञ्जन रायके मताऽनुसार यहाँपर मुच् धातु भी एक प्रकारसे गत्यर्थक ही है, इसलिए "गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माऽकर्मकाणामणि कर्ता स णौ" इस सूत्रसे मुच् धातुकी अण्यन्ताऽवस्थाके कर्ता "त्वम्" को ण्यन्ताऽवस्थामें कर्मसंज्ञा होनेसे द्वितीया होकर "त्वाम्" ऐसा रूप हुआ है ।

प्रायः=यह अव्यय है । आर्द्राऽन्तरात्मा=अन्तर्गत आत्मा अन्तरात्मा (गति०) । आर्द्रः अन्तरात्मा (अन्तःकरणम्) यस्य सः (बहु०) । करुणावृत्तिः=करुणामयी वृत्तिर्यस्य सः (बहु०) । मल्लिनाथके मताऽनुसार यहाँपर पूर्वोक्त प्रकारसे बहुव्रीहि समास हुआ है, परन्तु मयट् प्रत्ययका लोप यहाँ चिन्त्य है । मयट् प्रत्ययके विना करुणा वृत्तिर्यस्य सः ऐसा विग्रह कर बहुव्रीहि समास करेंगे तो पूर्वपद करुणाका पुंवद्भाव होकर "करुणावृत्तिः" ऐसा पद बनेगा जिससे छन्दोभङ्गका प्रसङ्ग उपस्थित होगा । इसलिए 'करुणायां वृत्तिः (प्रवृत्तिः) यस्य सः" ऐसा विग्रह कर व्यधिकरण बहुव्रीहि समास करना उचित है ।

इस श्लोकमें चतुर्थ चरणमें स्थित "प्रायः कोमल हृदयवाले सबलोग करुणापूर्ण चित्तवृत्तिवाले होते हैं" ऐसी सामान्य उक्तिसे तृतीय चरणस्थित "मेरी प्रिया तुमसे भी नूतन जलरूप आँसू निश्चय गिरवाएगी" इस विशेष उक्तिका

समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलंकार है । महाकविने वियोगमें होनेवाली कामदशाओंके वर्णन-प्रसङ्गमें इस श्लोकमें आठवीं मूर्च्छाऽवस्थाका वर्णन किया है। नयनप्रीति और मरण इन दो अवस्थाओंका वर्णन महाकविने छोड़ दिया है। पहले जिनका समागम हुआ है, उन्हींका प्रवास होता है; इसलिए समागमसे पहले ही नयनप्रीति होनेसे उसका वर्णन छोड़ दिया गया है। रह गई मरणरूप दशम अवस्था, सो रसविच्छेद होनेके भयसे उसका भी परिहार किया गया है ॥ ३० ॥

जाने सख्यास्तव मयि मनः सम्भृतस्नेहमस्मा-
दित्थंभूतां प्रथमविरहे तामहं तर्कयामि ।
वाचालं मां न खलु सुभगंमन्यभावः करोति
प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद् भ्रातरुक्तं मया यत् ॥ ३१ ॥

अन्वयः—तव सख्याः मनो मयि संभृतस्नेहं जाने । अस्मात् अहं प्रथमविरहे ताम् इत्थंभूतां तर्कयामि । सुभगम्मन्यभावो मां वाचालं न करोति खलु । हे भ्रातः ! मया यत् उक्तं (तत्) निखिलम् अचिरात् ते प्रत्यक्षम् (भविष्यति) ।

नन्वेतादृशीमवस्थामापन्नेति कथं त्वया निश्चितमत आह—ज्ञान इति ।

व्याख्या—(हे मेघ !) तव=भवतः, सख्याः=मत्प्रियायाः, मनः=चित्तं, मयि=मद्विषये, संभृतस्नेहं=सञ्चिताऽनुरागं, जाने=जानामि, अस्मात्=स्नेहज्ञानकारणात्, अहं=यक्षः, प्रथमविरहे=पूर्ववियोगे, प्रथमग्रहणं दुःखाऽतिशयद्योतनाऽर्थम् । तां=त्वत्सखीम्, इत्थंभूतां=पूर्वोक्ताऽवस्थामापन्नां, तर्कयामि=संभावयामि । सुभगम्मन्यभावः=सुभगमानित्वं, मां=यक्षं, वाचालं=बहुभाषिणं, न करोति=न विदधाति, खलु=निश्चयेन, अहं सौभाग्यशालित्वाऽभिमानितां न प्रकटयामीत्यर्थः । किन्तु हे भ्रातः=हे बन्धो, मया=यक्षेण, यत्='आधिक्षामाम्' इत्यादि, उक्तम्=अभिहितं (तत्), निखिलं=सर्वम्, अचिरात्=शीघ्रमेव, ते=तव, प्रत्यक्षम्=चक्षुर्ग्राह्यं, भविष्यतीति शेषः ॥ ३१ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ; मत्प्रियाया मनो मयि स्निग्धमित्यहं जाने । अस्मादहं पूर्ववियोगे तां तादृगवस्थामापन्नां तर्कयामि । सुभगमानित्वेन नाऽहं वाचालतां प्रदर्शयामि । मदुक्तः सर्वोपि विषयः सत्वरं त्वद्दृष्टिगोचरी भविष्यति ॥ ३१ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! तुम्हारी सखी (मेरी प्रिया) का मन मेरे प्रति प्रेमपूर्ण है मैं इस बातको जानता हूँ, इस कारणसे मैं पहले वियोगमें "वे ऐसी हो गई हैं" इस प्रकार तर्कना करता हूँ । अपनेको सौभाग्यशाली समझनेका भाव

मुझे वाचाल नहीं बना रहा है । हे भाई ! मैंने जो कुछ कहा है, वह सब शीघ्र ही तुम्हें प्रत्यक्ष हो जायगा ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—मयि=विषये सप्तमी । सम्भृतस्नेहं=सं+भृ+क्तः=सम्भृतः । स्निह+घञ्=स्नेहः । सम्भृतः स्नेहो यस्य तत् (बहु०) जाने=ज्ञा+लट्+इट् । "अनुपसर्गाज्ज्ञः" इस सूत्रसे क्रियाफलके कर्तृगामी होनेपर आत्मनेपद हुआ है । अस्मात्=हेतौ पञ्चमी । प्रथमविरहे=प्रथमश्चाऽसौ विरहः, तस्मिन् (क० धा०) । इत्थम्भूताम्=अनेन प्रकारेण इति इत्थम्, "इदमस्थमुः" इति थमु· प्रत्ययः । इदम्+थमुः । "कृन्मेजन्तः" इस सूत्रसे अव्यय हुआ है । इत्थं भूता इति, ताम् (सुप्सुपा०) ।

तर्कयामि=तर्क+णिच्+लट्+मिप् । सुभगम्मन्यभावः=आत्मानं सुभगं मन्यत इति सुभगम्मन्यः, "आत्ममाने खश्च" इति खश् "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इति मुमागमश्च । सुभग+मन्+खश् (कर्तरि) । सुभगम्मन्यस्य भावः (ष० त०) । वाचालं=बहुगर्ह्या वाक् यस्य स वाचालः, तम् "आलजाटचौ बहुभाषिणि" इस सूत्रसे आलच् प्रत्यय "कुत्सायामिति वक्तव्यम्" इस वार्तिकसे कुत्सा-(निन्दा) के अर्थ में हुआ है । वाच्+आलच्=वाचालः ।

"स्याज्जल्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह्यवाक् ।" इत्यमरः ।

प्रत्यक्षम्=अक्षम् (इन्द्रियम्) प्रतिगतम् "अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया" इति समासः ।

"प्रत्यक्षं स्यादैन्द्रियकम्" इत्यमरः ।

इस श्लोकमें तृतीय चरणके अर्थके प्रति चतुर्थचरणगत वाक्यार्थकी हेतुताके वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ॥ ३१ ॥

रुद्धापाङ्गप्रसरमलकैरञ्जनस्नेहशून्यं
प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम् ।
त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के मृगाक्ष्या
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति ॥ ३२ ॥

अन्वयः—अलकैरुद्धाऽपाङ्गप्रसरम् अञ्जनस्नेहशून्यं मधुनः प्रत्यादेशात् अपि विस्मृतभ्रूविलासं त्वयि आसन्ने (सति) उपरिस्पन्दि मृगाक्ष्या नयन मीनक्षोभात् चलकुवलयश्रीतुलाम् एष्यति इति शङ्के ॥ ३२ ॥

श्लोकद्वयेन कान्तायाः सुनिमित्तं भावयति—रुद्धाऽपाङ्गप्रसरमित्यादि ।

व्याख्या—(हे मेघ !) अलकैः=चूर्णकुन्तलैः, रुद्धाऽपाङ्गप्रसरं=निवारितकटाक्षव्यापारम्, अञ्जनस्नेहशून्यं=कालाञ्जनस्निग्धत्वशून्यं, कालाञ्जनवर्जनादिति शेषः । मधुनः=मद्यस्य, प्रत्यादेशात् अपि=निराकरणात् अपि, त्यागादपीति भावः, व्रतवशादिति शेषः । विस्मृतभ्रूविलासं=प्रस्मृतभ्रूभङ्गं, त्वयि=भवति, आसन्ने=निकटस्थे सति, स्वकुशलवार्तासूचक इति शेषः । उपरिस्पन्दि=ऊर्ध्वभागस्पन्दनयुक्तं, मृगाक्ष्याः=हरिणलोचनायाः, नयनं=लोचनं, वाममिति शेषः । मीनक्षोभात्=मत्स्यचलनात्, चलकुवलयश्रीतुलां=चञ्चलनीलकमलशोभोपमाम्, एष्यति=प्राप्स्यति, इति=इत्थं, शङ्के=तर्कयामि ।। ३२ ।।

सरलार्थः—हे मेघ ! विरहात्कटाक्षशून्यमञ्जनरहितं मद्योपयोगाऽभावादपगतभ्रूविलासं मत्प्रियाया वामलोचनं त्वयि निकटस्थे सति ऊर्ध्वभागस्फुरणयुक्तं सत् मत्स्यसंचलनाच्चञ्चलनीलकमलशोभां प्राप्स्यतीति तर्कयामि ।। ३२ ।।

अनुवादः—हे मेघ ! जिसका कटाक्ष-व्यापार अलकोंसे रुद्ध हो गया है, स्निग्ध अञ्जनसे शून्य, मद्यका निराकरण करनेसे भ्रूविलासको भूलनेवाला, मृगलोचना मेरी प्रियाका वैसा बायाँ नेत्र, तुम्हारे निकट आनेपर ऊपरकी ओर फड़कता हुआ मछलीके चलनेमें चञ्चल नीलकमलकी शोभाकी उपमाको प्राप्त कर लेगा मैं ऐसी सम्भावना करता हूँ ।। ३२ ।।

टिप्पणी—अलकैः=करणे तृतीया वा अनुक्ते कर्तरि तृतीया । रुद्धाऽपाङ्गप्रसरं=रुध्+क्तः=रुद्धः । अपाङ्गयोः प्रसरः (स० त०) । रुद्धा अपाङ्गप्रसरा यस्य तत् (बहु०) । व्रतके कारण संस्कारके अभावसे बिखरे हुए अलकोंसे यक्षपत्नी अपाङ्गोंसे (नेत्रोंके प्रान्त भागोंसे) देख नहीं सकती थी ।

अञ्जनस्नेहशून्यम् = अञ्ज+ल्युट् = अञ्जनम् । स्निह+घञ्=स्नेहः । अञ्जनेन स्नेहः (तृ० त०), तेन शून्यम् (तृ० त०) । प्रोषितभर्तृकाको शरीर-संस्कार निषिद्ध है, अतः यक्षप्रियाका नेत्र स्निग्ध अञ्जन (कज्जल वा सुरमा)से रहित था ।

मधुनः="मधु मद्ये पुष्परसे क्षौद्रेऽपि" । यह क्लीबलिङ्गी है ।

प्रत्यादेशात्=प्रति+आङ्+दिश+घञ् (भावे) । "प्रत्यादेशो निराकृतिः" इत्यमरः । विस्मृतभ्रूविलासं=भ्रुवोर्विलासः (ष० त०) । वि+लस+घञ्+विलासः । विस्मृतो भ्रूविलासो येन तत् (बहु०) । यक्षपत्नीने व्रतके कारण भ्रूविलासको छोड़ दिया था, उसपर भी मद्यतकको छोड़नेके कारण उसके नेत्र भ्रूविलासको भूल गये थे इस बातको "अपि" पद द्योतन करता है । मद्यका

निषेध केवल ब्राह्मणके लिए है, भोगयोनिको प्राप्त यक्षजाति के लिए उसका निषेध नहीं है, प्रोषिभर्तृकाके नियमके अनुसार यक्षपत्नीने पतिके विरह कालमें उसका वर्जन किया था ।

त्वयि आसन्ने = भावे सप्तमी । आसन्ने = आङ् + सद् + क्तः ।

उपरिस्पन्दि = उपरि (उर्ध्वम्) स्पन्दते तच्छीलम्, उपरि + स्पन्द + णिनिः (ताच्छील्ये) । नयन पदसे यहाँ वामनयन लेना चाहिए, स्त्रियोंकी बाई आँखका फड़कना शुभशकुन माना जाता है । जैसा कि निमित्तनिदानमें लिखा गया है :–

"स्पन्दान्मूर्ध्नि च्छत्रलाभं, भाले पट्टं, शुभं भ्रुवि ।
इष्टप्राप्ति दृशोरूर्ध्वमपाङ्गे हानिमादिशेत् ।।" इति ।

इस प्रकार यहाँ पर नेत्रके ऊर्ध्व भागके फड़कनेपर इष्टप्राप्ति बतलाई गई है । स्त्रियोंके वामभागका प्राशस्त्य निम्नलिखित श्लोकमें दिखाया है ।

"वामभागस्तु नारीणां पुंसां श्रेष्ठस्तु दक्षिणः ।
दाने देवादिपूजायां स्पन्देऽलङ्करणेऽपि च ।।" इति ।

मृगाक्ष्याः = मृगस्य इव अक्षिणी यस्याः सा मृगाक्षी, तस्याः (व्यधिकरण-बहु०) । यहाँपर "बहुव्रीहौ सवथ्यक्षणोः स्वाङ्गात् षच्" इस सूत्रसे बहुव्रीहि समासवाले मृगाक्षि शब्दसे समासाऽन्त षच् प्रत्यय होकर "षिद्गौरादिभ्यश्च" इस सूत्रसे ङीष् प्रत्यय होकर "मृगाक्षी" पद बना है ।

मीनक्षोभात् = क्षुभ + घञ् (भावे) = क्षोभः । मीनेन क्षोभः, (तृ० त०) तस्मात् (हेतौ पञ्चमी) ।

चलकुवलयश्रीतुलां = चलतीति चलं, पचाद्यच् । चलं च तत् कुवलयम् (क० धा०) । तस्य श्रीः (ष० त०) । चलकुवलयश्रियाः तुला, ताम् (ष० त०) । यहाँपर "तुल्याऽर्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्तरस्याम्" इस सूत्रमें "अतुलोपमाभ्याम्" लिखनेके कारण तुला शब्दके योगमें षष्ठी ही होती है, तृतीया नहीं । तुलाका अर्थ है उपमा । मल्लिनाथजीकी टीकाकी किसी प्रतिमें श्रियाः तुला' ऐसा विग्रह कर षष्ठी तत्पुरुष ही समास किया है, परन्तु किसी प्रतिमें श्रिया तुला ऐसा विग्रह कर "तुल्याऽर्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्" इति कृद्योगे तृतीया, ऐसा लिखा है वह पाठ गलत है । लेखकके मतिविपर्यासके कारण ऐसा हुआ है ऐसा प्रतीत होता है ।

एष्यति = इण् + लृट् + तिप् । शङ्के = शक + लट् + इट् ।

इस श्लोकमें उपमा अलंकार है। इस श्लोकका अर्थ रामायणके—

“तस्याः शुभं वाममरालपक्ष्मराजीवृतं कृष्णविशालशुक्लम् ।
प्रास्पन्दतैकं नयनं सुकेश्या मीनाहतं पद्ममिवाऽभिताम्रम् ॥”

(सुन्दरकाण्ड २९–२)

इस श्लोकके अनुसार होनेसे यह अन्यच्छायायोनि है ॥ ३२ ॥

वामश्चास्याः कररुहपदैर्मुच्यमानो मदीयै-
र्मुक्ताजालं चिरपरिचितं त्याजितो दैवगत्या ।
सम्भोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनानां
यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—मदीयैः कररुहपदैः मुच्यमानः चिरपरिचितं मुक्ताजालं दैवगत्या त्याजितः संभोगान्ते मम हस्तसंवाहनानां समुचितः सरसकदलीस्तम्भगौरः अस्या वाम ऊरुः चलत्वं यास्यति ॥ ३३ ॥

व्याख्या— मदीयैः=मत्सम्बन्धिभिः, ममेति भावः। कररुहपदैः=नखचिह्नैः मुच्यमानः=परिहीयमाणः, नखक्षतरहित इत्यर्थः। चिरपरिचितं=बहुकालाऽभ्यस्तं, मुक्ताजालं=मौक्तिकसरमयं कटिभूषणं, दैवगत्या = विधिवशेन, त्याजितः=मोचितः, संभोगान्ते=सुरताऽवसाने, मम=कान्तस्य, हस्तसंवाहनानां=करमर्दनानां, समुचितः = योग्यः, सरसकदलीस्तम्भगौरः=आर्द्रकदलीस्तम्भपाण्डुरः, अस्याः=प्रियायाः, वामः=दक्षिणेतरः, ऊरुः=सक्थि, चलत्वं=स्पन्दनं, यास्यति=प्राप्स्यति ॥ ३३ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! मद्दूते त्वय्यासन्ने सति मदीयनखक्षतरहितस्त्याजितमौक्तिकसरमयकटिभूषणः सुरताऽवसाने मत्करमर्दनयोग्य आर्द्रकदलीस्तम्भपाण्डुरो मत्प्रियाया वाम ऊरुः स्पन्दनं प्राप्स्यति ॥ ३३ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! मेरे नाखूनोंके चिह्नों (नखक्षतों) से रहित, भाग्यवश चिरपरिचित हारमय कटिभूषणसे शून्य, समागमके अनन्तर मेरे हाथोंसे मर्दनके योग्य और रससे आर्द्र केलेके स्तम्भके समान सफेद प्रियतमाका बायाँ ऊरु फड़क उठेगा ॥ ३३ ॥

टिप्पणी—मदीयैः=मम इमानि मदीयानि, तैः, “त्यदादीनि च” इस सूत्रसे अस्मद् शब्दकी वृद्धसंज्ञा होकर “वृद्धाच्छः” इससे छ प्रत्यय होकर उसके स्थानमें “आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्’ इस’ सूत्रसे ईय आदेश होकर अस्मद्

शब्दके स्थानसे "प्रत्ययोत्तरपदयोश्च" इससे मद् आदेश होकर "मदीय" पदकी सिद्धि हुई है । अस्मद् (मद्)+छ (ईयः)=मदीयानि तैः ।

कररुहपदैः=करे रोहन्तीति कररुहाः "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इस सूत्रसे "रुह" धातुके इगुपध होनेसे कप्रत्यय हुआ है । कर+रुह+कः, उपपदसमासः । "पुनर्भवः कररुहो नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम् ।" इत्यमरः । कररुहाणां पदानि, तैः (ष० त०) । मुच्यमानः=मुच्यत इति मुच्+लट्+यक् (कर्मणि)+शानच् । नायक नायिकाके ऊरुमें संभोगकालमें नखक्षत करता है । रतिरहस्यमें नखक्षत करनेके स्थान बतलाये गये हैं—

"कण्ठकक्षकुचपार्श्वभुजोरःश्रोणिसक्थिषु नखास्पदमाहुः ।"

अर्थात् गला, बाहुमूल, पयोधर, बाहुमूलका अधोभाग, बाहु, छाती, कटि और ऊरु नखक्षत करनेके स्थान हैं ।

चिरपरिचितं=चिरं परिचितम् (सुप्सुपा समासः) । परि+चि+क्तः=परिचितम् । मुक्ताजालं=मुक्तानां जाल, तत् (ष० त०) ।

दैवगत्या=देवादागतं दैवं, "तत आगतः" इत्यण् । देव+अण् । दैवस्य गतिस्तया (ष० त०) ।

त्याजितः=त्यज+णिच्+क्तः (कर्मणि) । यहाँपर महोपाध्याय मल्लिनाथजीने "द्विकर्मसु पचादीनां चोपसंख्यानमिष्यते" । इस वार्तिकसे त्यज धातुको पचादि धातुओंमें पढ़े जानेसे द्विकर्मक मान लिया है, वस्तुतः यह पक्ष सिद्धान्तकौमुदी-सम्मत नहीं है । शारदारञ्जन रायजीने त्यागका भी गतिविशेष होनेसे "गतिबुद्धि०" आदि सूत्रसे त्यज धातुको द्विकर्मक माना है । अर्थात् गत्यर्थक धातुके अण्यन्तावस्थाके कर्ताको ण्यन्ताऽवस्थामें कर्मसंज्ञा हुई हैं । जैसेकि अण्यन्ताऽवस्थामें—"ऊरुः मुक्ताजालं त्यक्तवान्" इस वाक्यमें कर्तृसंज्ञक ऊरु, ण्यन्ताऽवस्थामें—दैवगतिः ऊरुं मुक्ताजालं त्याजितवान्" इस प्रकार कर्मसंज्ञक हुआ है । प्रकृतमें कर्मवाच्य प्रयोग होनेसे गौणकर्म ऊरुमें "दैवगत्या मुक्ताजालं त्याजित ऊरुः" इस प्रकार प्रथमा विभक्ति हो गई है । यही मत युक्ततर प्रतीत होता है ।

संभोगान्ते=संभोगस्य अन्तः, तस्मिन् (ष० त०) । हस्तसंवाहनानां=हस्ताभ्यां संवाहनानि, तेषाम् (तृ० त०) । सं+वह+णिच्+ल्युट्=संवाहनानि ।

"संवाहनं मर्दनं स्यात्" इत्यमरः ।

सरसकदलीस्तम्भगौरः=रसेन सहितः सरसः (तुल्ययोगबहुव्रीहिः) । "सरस" पदसे रससे आर्द्र अर्थात् अच्छी तरहसे पका हुआ जोकि सूखा नहीं है

ऐसा अर्थ विवक्षित है। क्योंकि उसीमें सफेदी सम्भव है। कदल्याः स्तम्भः (ष० त०), सरसश्चासौ कदलीस्तम्भः (क० धा०), सरसकदलीस्तम्भ इव गौरः "उपमानानि सामान्यवचनैः" इति समासः ।

"गौरः शरीरे सिद्धार्थे शुक्ले पीतेऽरुणाऽपि च।" इति मालतीमाला। चलत्वं = चलतीति चलः, चल + अच्। चलस्य भावः चलत्वं, तत्। चल + त्व। यास्यति=या + लृट् + तिप्। स्त्रियोंका बायाँ और पुरुषोंका दहना अङ्ग फड़कना शुभ माना गया है ऊरु फड़कनेका फल—

"ऊरोः स्पन्दाद्रतिं विद्यादूर्वोः प्राप्तिं सुवाससः।" निमित्तनिदानमें ऐसा लिखा गया है। अर्थात् एक ऊरु फड़कनेका फल रतिप्राप्ति और दो ऊरु फड़कनेका फल वस्त्रप्राप्ति मानी गई है। वाल्मीकिरामायणके सुन्दरकाण्डमें भी ऐसा ही श्लोक है :—

"गजेन्द्रहस्तप्रतिमश्च पीनस्तयोर्द्वयोः संहतयोः सुजातः।
प्रस्पन्दमानः पुनरूरुरस्या रामं पुरस्तात् स्थितमाचचक्षे ॥"
(२९-४)

इस श्लोकमें उपमा अलङ्कार है॥ ३३॥

तस्मिन्काले जलद ! यदि सा लब्धनिद्रासुखा स्या-
दन्वास्यैनां स्तनितविमुखो याममात्रं सहस्व ।
मा भूदस्याः प्रणयिनि मयि स्वप्नलब्धे कथंचित्
सद्यःकण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि गाढोपगूढम् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—हे जलद ! तस्मिन् काले सा लब्धनिद्रासुखा स्यात् यदि, एनाम् अन्वास्य स्तनितविमुखः (सन्) याममात्र सहस्व। अस्याः प्रणयिनि मयि कथञ्चित् स्वप्नलब्धे (सति) गाढोपगूढं सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि मा भूत् ॥३४॥

व्याख्या—हे जलद = हे मेघ ! तस्मिन् = पूर्वोक्ते, काले = समये, निशीथ इति भावः। सा = मत्प्रिया, लब्धनिद्रासुखा = प्राप्तस्वापानन्दा, स्यात् = भवेत्, यदि = चेत्, (तर्हि) एनां = निद्राणां मत्प्रियाम्, अन्वास्य = पश्चादासित्वा, स्तनितविमुखः = गर्जितपराङ्मुखः, निःशब्दः सन्निति भावः। नो चेन्निद्राभङ्गः स्यादिति भावः। याममात्रं = प्रहरमात्रं, सहस्व = मर्षय, प्रतीक्षस्वेति भावः। यामसहनस्य प्रयोजनमाह—मा भूदिति। अस्याः = प्रियायाः, प्रणयिनि = प्रेयसि, मयि = यक्षे, कथञ्चित् = केनाऽपि प्रकारेण, कष्टेनेति भावः। स्वप्नलब्धे = स्वापप्राप्ते सति, गाढोपगूढं = दृढाऽऽलिङ्गनं, सद्यः = तत्क्षणं, कण्ठच्युतभुजलता-

ग्रन्थि=गलस्तुतबाहुवल्लीबन्धनं, मा भूत्=नो भवेत्, कथञ्चित् प्राप्तस्यालिङ्गनस्य सद्यो विघातो मा भूदिति भावः ।। ३४ ।।

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! त्वदुपसर्पणकाले मत्प्रिया निद्राणा भवेद्यदि, तर्हि प्रहरमात्रं निःशब्दः सन् प्रतीक्षस्व; येन केनाऽपि प्रकारेण प्रेयसि मयि स्वप्नोपलब्धे सति अस्या गाढालिङ्गनं साऽन्तरायं न स्यात् ।। ३४ ।।

अनुवादः—हे मेघ ! उस समय मेरी प्रियतमाने किसी तरह निद्रासुखको प्राप्त किया हो तो तुम उसके पीछे बैठकर गर्जनको छोड़कर एक प्रहरतक प्रतीक्षा करो; उसके प्रणयी मेरे किसी प्रकारसे स्वप्नमें प्राप्त होनेपर गाढ आलिङ्गन उसी क्षण कण्ठमें बाहुलताके बन्धनसे च्युत न हो जाय ।। ३४ ।।

टिप्पणी—जलद=जलं ददातीति जलदः, तत्सम्बुद्धौ, जल+दा+कः, उपपदसमासः ।

तस्मिन् काले=मेघके प्रियाके समीप जानेके समयमें, अर्थात् आधीरातमें, क्योंकि यक्ष—"मत्सन्देशैः सुखयितुमलं पश्य साध्वीं निशीथे ।" (७–२५) पहले ही ऐसा कह चुका है ।

लब्धनिद्रासुखा—लभ+क्तः (कर्मणि)=लब्धम् । निद्रायाः सुखम् (ष० त०) । लब्धं निद्रासुखं यया सा (बहु०) ।

स्यात्=अस+लिङ् (संभावनायाम्) । एनाम्=एतद् शब्दसे द्वितीयाके एकवचनमें "द्वितीयाटौस्स्वेनः" इस सूत्रसे अन्वादेशमें "एन" आदेश हुआ है ।

अन्वास्य=अनु+आस+क्त्वा (ल्यप्) । यद्यपि "आस उपवेशने" धातु अकर्मक है, तो भी "अनु" उपसर्गके योगसे सकर्मक हो गया है । इसका कर्म है "एनाम्" । स्तनितविमुखः=स्तनितात् विमुखः, (प० त०) ।

"स्तनितं गर्जितं मेघनिर्घोषे रसितादि च ।" इत्यमरः ।

याममात्रं=याम एव याममात्रं, तत्, 'मयूरव्यंसकादयश्चे' ति समासः । "कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इति कालस्य अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । "द्वौ यामप्रहरौ समौ ।" इत्यमरः । सहस्व='षह मर्षणे" इति धातोः प्रार्थनायां लोट् । "याममात्रं सहस्व" अर्थात् एक प्रहर (तीन घण्टे) तक प्रतीक्षा करो, कहनेका प्रयोजन यह है कि उत्तम स्त्रियोंका बहुत समयतक सोना अनुचित है, इसलिए परिमित समय बतलाया गया । जैसे कि कहा गया है :—

"पद्मिनी यामनिद्रा च, द्विप्रहरा च चित्रिणी।
हस्तिनी नामत्रितया, घोरनिद्रा च शङ्खिनी॥"

यक्षपत्नी लक्षणके, निरीक्षणोंमें "पद्मिनी" मानी गई है। अथवा संभोगकी परमाऽवधि एकप्रहर मानी गयी है, जैसे कि रतिविलासमें कहा गया है—

"परमा तु रतिर्यूनामिष्टा यामाऽवसायिकी।"

इस विषयमें मल्लिनाथजीके रतिसर्वस्वका यह श्लोक उपस्थित किया है—

"एकवाराऽवधिर्यामो रतस्य परमो मतः।
चण्डशक्तिमतोर्यूनोरद्भुतक्रमवर्तिनोः ॥"

अर्थात् प्रचुर सामर्थ्यवाले दम्पतियोंकी रतिक्रीडाकी अवधि एक प्रहरतक मानी गई है।

सहस्व=सह+लोट् (प्रार्थनायाम्)। "सहेथाः" यह पाठान्तर भी मिलता है, अर्थमें कुछ भेद नहीं है।

प्रणयिनि=प्रणय+इनिः=प्रणयी, तस्मिन्।

स्वप्नलब्धे—स्वप+नङ्=स्वप्नः स्वप्ने लब्धः, तस्मिन्, (स० त०); भावे सप्तमी।

गाढोपगूढं=गाह्+क्तः=गाढम्। उपगूहनम् उपगूढं, "नपुंसके भावे क्तः" इति क्तः, उप+गुह्+क्तः। गाढं च तत् उपगूढम् (क० धा०)। सद्यःकण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि=समानेऽहनि सद्यः (अव्ययम्) "सद्यः परुदि" त्यादिना निपातः। कण्ठात् च्युतः (प० त०)। भुजौ लते इव भुजलते (उपमितक० धा०)। भुजलतयोः ग्रन्थिः (ष० त०)। सद्यः कण्ठच्युतः (सुप्सुपा०)। सद्यःकण्ठच्युतो भुजलताग्रन्थिः यस्य तत् (बहु०)।

मा भूत्=माङ्के योगमें भू धातुसे "माङि लुङ्" इस सूत्रसे लुङ् हुआ है और "न माङ्योगे" इस सूत्रसे माङ्के योगमें लुङ्में अट् आगमका निषेध होकर "मा भूत्" ऐसा प्रयोग निष्पन्न हुआ है।

इस श्लोकमें निद्राकी उक्तिसे "तामुन्निद्राम्' इस श्लोकमें पठित निद्राके अभावसे विरोधकी शङ्का नहीं करनी चाहिए क्योंकि "कथञ्चित्" कहनेसे सातवीं अवस्था (प्रजागर) में पाक्षिक निद्राकी भी संभावना है। जैसे कि रसरत्नाकरमें भी कहा गया है :—

"आसक्ती रोदनं निद्रा निर्लज्जाऽनर्थवाग्भ्रमः।
सप्तमादिषु जायन्ते दशाभेदेषु वासुके॥"

इस श्लोकमें "याममात्रं सहस्व" अर्थात् प्रहरतक प्रतीक्षा करो, इस कार्य के प्रति उत्तरार्ध वाक्यार्थकी हेतुता होनेसे काव्यलिङ्ग अलङ्कार है और "भुजलता" यहांपर लुप्तोपमा है, इस प्रकार इन दोनोंका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ३४ ॥

तामुत्थाप्य स्वजलकणिकाशीतलेनानिलेन
प्रत्याश्वस्तां सममभिनवैर्जालकैर्मालतीनाम् ।
विद्युद्गर्भः स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे
वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—(हे मेघ !) तां स्वजलकणिकाशीतलेन अनिलेन उत्थाप्य अभिनवैः मालतीनां जालकैः समं प्रत्याश्वस्तां त्वत्सनाथे गवाक्षे स्तिमितनयनां मानिनीं विद्युद्गर्भो धीरः (सन्) स्तनितचनैः वक्तुं प्रक्रमेथाः ॥ ३५ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) तां=मत्प्रियां, स्वजलकणिकाशीतलेन=निजसलिलबिन्दुशिशिरेण, अनिलेन=वायुना, उत्थाप्य=प्रबोध्य, अभिनवैः=नूतनैः मालतीनां=जातिपुष्पाणां, जालकैः=कुड्मलैः समूहैर्वा, समं=सह, प्रत्याश्वस्तां=सुस्थितां, पुनरुच्छ्वसिताम् । एवं च त्वत्सनाथे=भवत्सहिते, गवाक्षे=वातायने, स्तिमितनयनां=निश्चलनेत्रां, मानिनीं=मनस्विनीम्, अनौचित्याऽसहिष्णुमिति भावः । तादृशीं मत्प्रियाम्, विद्युद्गर्भः=तडिद्गर्भः, अन्तर्लीनविद्युत्कः इत्यर्थः । धीरः=दृढः सन्, स्तनितवचनैः=रसितवचोभिः, वक्तुं=भाषितुं, प्रक्रमेथाः=उपक्रमस्व ॥ ३५ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! जातिपुष्पसुकुमारां मत्प्रियां निजसलिलबिन्दुशिशिरेण वातेन प्रबोध्य त्वत्सहिते वातायने निश्चललोचनां मनस्विनीं तां तडिद्गर्भो दृढः सन् गर्जितवचनैर्भाषितुमुपक्रमस्व ॥ ३५ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! मेरी प्रियतमाको अपने जलबिन्दुओंसे ठण्डी हवासे जगाकर नयी चमेलीकी कलियोंके साथ सुस्थिता और तुमसे युक्त खिड़कीमें निलश्च नेत्रोंवाली मनस्विनीको बिजलीको भीतर लेकर धीर होते हुए तुम गर्जनरूप वचनोंसे भाषणका आरम्भ करो ॥ ३५ ॥

टिप्पणी—स्वजलकणिकाशीतलेन = जलस्य कणिकाः (ष० त०) जलकणिकाः (ष० स०) । ताभिः शीतलस्तेन (तृ० त०) । उत्थाप्य=उद् + स्था + णिच् + क्त्वा (ल्यप् ।

जैसे प्रभुको सेवकजन पांव दबाना और पंखा झलना इत्यादि कर्मोंसे जगाते

हैं उसी प्रकार मेघसे यक्षपत्नीको जल बिन्दुओंसे ठण्डी हवासे जगानेकी बात कही गई है । प्रभुको कैसे जगाना चाहिए यह बात भोजने लिखी है :—

"मृदुभिर्मर्दनैः पादे शीतलैर्व्यजनैस्तनौ ।
श्रुतौ च मधुरैर्गीतैर्निद्रातो बोधयेत्प्रभुम् ।।"

अर्थात् कोमलतापूर्वक पाँव दबाकर, पंखा झलकर और मधुर गीतोंसे स्वामीको जगाना चाहिए । मालतीनां="सुमना मालती जातिः" इत्यमरः ।

जालकैः="क्षारको जालकं क्लीव कलिका कोरकः पुमान् ।" इत्यमरः । "समं" पदेन योगे तृतीया ।

प्रत्याश्वस्तां=प्रति+आङ्+श्वस्+क्तः (कर्तरि) टाप् ।

इस विशेषणसे यक्षपत्नी चमेलीकी कलीकी सदृश सुकुमार प्रतीत होती है ।

त्वत्सनाथे = नाथेन सहितः सनाथः (तुल्ययोगबहु०) । त्वया सनाथः, तस्मिन् (तृ० त०) ।

गवाक्षे=गवाम् अक्षि इव गवाक्षः, तस्मिन् (उपमितक० धा०), "अक्ष्णोऽदर्शनात्" इति समासाऽन्तः अच् । "वातायनं गवाक्षः" इत्यमरः ।

स्तिमितनयनां=स्तिमिते नयने यस्याः सा, ताम् (बहु०) ।

प्रियतमके यहाँसे किसी के आनेकी उत्कण्ठासे निश्चल नेत्रोंवाली यह तात्पर्य है ।

मानिनीम्=प्रशस्तो मानोऽस्ति यस्याः सा मानिनी, ताम् ।

मान+इनिः+ङीप् । यहाँपर मानिनीका पर्याय मनस्विनी है, अनौचित्यका सहन न करनेवाली यह अर्थ विवक्षित है ।

विद्युद्गर्भः=विद्युत् गर्भः (अभ्यन्तरस्था) यस्य सः (बहु०) ।

"गर्भोऽपवारकेऽन्तःस्थे कुक्षिस्थे चाऽर्भके मतः ।" इति शब्दार्णवः ।

बिजलीको बाहर रखनेपर बिजलीकी चमकसे यक्षपत्नी वक्ताका मुख देखने में रुकावट होनेकी आशङ्कासे "विद्युद्गर्भः" अर्थात् बिजलीको भीतर रखते हुए ऐसा विशेषण दिया गया है, यह कोलाचल मल्लिनाथजीका अभिमत है। अन्य टीकाकार एकान्तमें परस्त्रीके साथ मेघके संभाषणमें अनौचित्य होनेसे "विद्युद्गर्भः" इस विशेषणकी साऽर्थकता मानते हैं ।

किसी पुस्तकमें "विद्युद्गर्भे" सप्तम्यन्त पाठ स्वीकार कर गवाक्षका विशेषण माना गया है ।

धीरः=धीर पदका अर्थ यहाँपर दृढ माना गया है, क्योंकि ऐसे अवसरपर मेघमें दृढ़ता न हो तो यक्षपत्नीको भली भाँति आश्वासन नहीं दे सकेगा।

किसी पुस्तकमें "धीरस्तनितवचनैः" ऐसा पाठान्तर मिलता है।

स्तनितवचनैः=स्तनितानि एव वचनानि, तैः (रूपक०)।

वक्तुं=वच्+तुमुन्। प्रक्रमेथाः=प्र+क्रम+लिङ् (विधौ)। प्र उपसर्ग-पूर्वक क्रम धातुसे "प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्" इस सूत्रसे आरम्भ अर्थमें आत्मने पद हुआ है।

इस श्लोकमें "जालकैः समम्" यहाँपर सहोक्ति अलङ्कार है और स्तनितमें वचनका आरोप प्रकृत कथनमें उपयोगी है इसलिए परिणाम हुआ इस प्रकार दोनों अलंकारोंकी परस्पर निरपेक्षतासे संसृष्टि अलंकार है। ३५॥

"भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे! विद्धि मामम्बुवाहं
तत्संदेशैर्हृदयनिहितैरागतं त्वत्समीपम्।
यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि॥ ३६॥

अन्वयः—हे अविधवे! मां भर्त्तुः प्रियं मित्रं हृदयनिहितैः तत्सन्देशैः, त्वत्समीपम् आगतम् अम्बुवाहं विद्धि। यः अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि पथि श्राम्यतां प्रोषितानां वृन्दानि मन्द्रस्निग्धैः ध्वनिभिः त्वरयति॥ ३६॥

व्याख्या—सन्देशप्रकारं प्रतिपादयति—भर्तुरिति। हे अविधवे=हे सधवे, हे जीवद्भर्तृके इति भावः। माम्=आगन्तुकं, भर्तुः=तव पत्युः, प्रियं=वल्लभं, मित्रं=सुहृदं, हृदयनिहितैः=मन स्थापितैः तत्सन्देशैः=भर्तृसन्देशैः, त्वत्समीपं=भवन्निकटम्, आगतम्=आयातं, भर्तृसन्देशकथनार्थमागतमिति भावः। अम्बुवाहं=मेघं, विद्धि=जानीहि। न केवलमहं वार्ताहरः किन्तु संयोजकोऽपीत्याशयेनाऽऽह—य इति। यः=अम्बुवाहः, अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि=विरहिणीबद्धकचमोचनोत्कण्ठितानि, पथि=मार्गे, श्राम्यतां=श्रान्तिमापन्नानां, प्रोषितानां=प्रवासिनां, पान्थानामिति भावः। वृन्दानि=सङ्घान्, मन्द्रस्निग्धैः=गम्भीरश्राव्यैः, ध्वनिभिः=गर्जितैः, करणैः, त्वरयति=शीघ्रगमनाय प्रेरयति, अतो मद्वचनं श्रोतव्यमिति भावः॥ ३६॥

सरलाऽर्थः—"हे जीवद्भर्तृके! यः कान्ताविरहेण विषीदतः पान्थान् स्वगृहे सत्वरगमनाय प्रेरयति, तादृशं मां सन्देशकथनार्थमागतं भर्तुः प्रियं मित्रं मेघं जानीहि" हे मेघ! त्वया मत्प्रियां प्रतीत्थं प्रतिपादनीयम्।

अनुवादः—"हे सौभाग्यवति ! मुझे तुम्हारे प्रियतमके प्रियमित्र और हृदयमें रखे गये उनके सन्देशोंके साथ तुम्हारे पास आया हुआ मेघ समझो। जो (मेघ) विरहिणियोंकी चोटीको खोलनेके लिए उत्कण्ठित तथा मार्गमें थके हुए पथिकगणोंको गम्भीर और मधुर गर्जनोंसे घरमें शीघ्र पहुँचनेके लिए प्रेरणा देता है" (हे मेघ ! तुम्हें मेरी प्रियतमाको ऐसा कहना चाहिए)। ३६ ॥

टिप्पणी—अविधवे=विगतः धवः (पतिः) यस्याः सा विधवा (बहु०) "धवः प्रियः पतिर्भर्ता" "विश्वस्ताविधवे समे" इत्युभयत्राऽप्यमरः। न विधवा अविधवा, तत्सम्बुद्धौ (नञ्०)।

"हे अविधवे" ऐसे सम्बोधनसे पतिका जीवन सूचित होकर अनिष्टशङ्काका निवारण होता है। इस प्रकारका प्रयोग अन्यत्र भी पाया जाता है। जैसे कि रामायणमें भी सीताजीकी उक्ति है—

"ये मामाहुः पितुर्गेहे पुत्रिण्यविधवेति च।"

इसी तरह भासने भी "उत्तिष्ठ अविधवे ! उत्तिष्ठ" ऐसा प्रयोग किया है। भर्तुः=भृ+तृच् ङस्। प्रियं=प्री+कः।

प्रियं मित्रम्=परपुरुषकी शङ्काके परिहारके लिए इस विशेषणकी सार्थकता है।

हृदयनिहितैः=नि+धा+क्तः=निहिताः। हृदये निहिताः, तैः (स० त०) तत्सन्देशैः=सन्दिश्यन्त इति सन्देशाः, कर्मणि घञ् सम्+दिश+घञ्. तस्य सन्देशाः, तैः (ष० त०) "सहयुक्तेऽप्रधान" इति विनाऽपि तद्योगं तृतीया "तत्सन्देशान्मनसि निहितान्" ऐसा भी पाठान्तर मिलता है।

त्वत्समीपं=तव समीपः, तम् (ष० त०)।

अम्बुवाहम्=अम्बु वहतीति, तम् "कर्मण्यण्" इत्यण्। अम्बु + वह + अण्। विद्धि=विद्+लोट्+सिप्।

अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि=अविद्यमानं बल यासां ताः अबलाः (नञ् बहु०)। यहांपर नञ् अल्पाऽर्थक है।

अबलानां वेणयः (ष० त०), तासां मोक्षः (ष० त०), यस्मिन् उत्सुकानि (स० त०)। प्रोषितभर्तृकाके नियमके अनुसार विरहिणी स्त्रियां केशसंस्कार नहीं करती थीं अतः उनके केश रूखे और परस्परमें वद्ध हो जाते थे। प्रवाससे लौटनेपर उनके पति उन्हें खोलते थे, यही बात यहाँपर दिखाई गई है।

श्राम्यतां=श्राम्यन्तीति श्राम्यन्तः तेषाम्। श्रम+लट् (शतृ०)। यह "प्रोषितानाम्" इस पदका विशेषण है।

प्रोषितानाम् = प्र+वस्+क्त+आम्। “व” के स्थान में सम्प्रसारण “उ” हो गया है।

वृन्दानि=“स्त्रियां तु संहतिर्वृन्दं निकुरम्बं कदम्बकम्।” इत्यमरः।

मन्द्रस्निग्धैः=मन्द्राश्च ते स्निग्धाः, तैः (क० धा०)। दोनों पद जब विशेषण होते हैं तब उनमें पूर्वपद विशेषण और उत्तरपद विशेष्य माना जाकर कर्मधारय माना जाता है। यह “ध्वनिभिः” इस पदका विशेषण है। ऐसे स्थलपर द्वन्द्व समास नहीं होता है।

त्वरयति = त्वर+णिच्+लट्+तिप्। त्वर धातु घटादिगणमें पढ़ा गया है, इसलिए “घटादयो मितः” इससे मित्त्वका अतिदेश होकर “मितां ह्रस्वः” इससे ह्रस्व हो गया है

इस श्लोकमें “अविधवे” यह विशेषण “तुम्हारे पति जीते हैं” इस अभिप्रायसे युक्त है इसलिए परिकर अलंकार है। साहित्यदर्पणमें उसका ऐसा लक्षण है—

“उक्तिर्विशेषणैः साऽभिप्रायैः परिकरो मतः”। १०–५७

अर्थात् जहांपर साऽभिप्राय विशेषणका प्रयोग होता है, वहांपर परिकर अलंकार होता है॥ ३६॥

इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा
त्वामुत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया वीक्ष्य संभाव्य चैव।
श्रोष्यत्यस्मात्परमवहिता सौम्य! सोमन्तिनीनां
कान्तोदन्तः सुहृदुपगतः संगमात्किञ्चिदूनः॥ ३७॥

अन्वयः—इति आख्याते मैथिली पवनतनयम् इव सा उन्मुखी उत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया (सती) त्वां वीक्ष्य संभाव्य च अस्मात् परम् अवहिता (सति) श्रोष्यति एव। हे सौम्य! सीमन्तिनीनां सुहृदुपगतः कान्तोदन्तः संगमात् किञ्चिदूनः॥ ३७॥

व्याख्या—भर्तृमैत्र्यादिज्ञापनस्य फलमाह—इत्याख्यात इति। (हे मेघ!) इति=एवम्, आख्याते=कथिते सति, मैथिली=सीता; पवनतनयम् इव=वायुपुत्रम् इव, हनूमन्तमिवेति भावः। सा=मत्प्रिया, उन्मुखी=उन्नमितवदना, उत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया=औत्सुक्यविकसितचित्ता सती, त्वां=भवन्तं, वीक्ष्य=दृष्ट्वा, संभाव्य च=सत्कृत्य च, अस्मात्=भर्तृमैत्रीज्ञापनात्, परम्=अनन्तरं, सर्वं श्रोतव्यमिति भावः। अवहिता=साऽवधाना सती, श्रोष्यति एव =आकर्णयिष्यति एव।

ननु सन्देशमात्रश्रवणादस्याः को लाभ इत्याशङ्क्याऽर्थान्तरमुपन्ययति—सौम्येति । हे सौम्य = हे सज्जन, सीमन्तिनीनां = वधूनां, सुहृदुपगतः = मित्रप्राप्तः सन्, कान्तोदन्तः = प्रियवृत्तान्तः, संगमात् = कान्तसम्पर्कात्, किञ्चिदूनः = ईषन्न्यूनः । कान्तोदन्तः कान्तसंगमसमो हर्षजनक इति भावः ।। ३७ ।।

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! इत्थमभिहिते सति सीता हनूमन्तमिव मत्प्रिया त्वां दृष्ट्वा सत्कृत्य चाऽप्रमत्ता सती मत्सन्देशमाकर्णयिष्यत्येव, यतो वधूनां मित्राऽऽनीतः प्रियवृत्तान्तः प्रियसम्पर्कसदृशो भवति ।। ३७ ।।

अनुवादः—हे मेघ ! ऐसा कहने पर सीताजीने जिस प्रकार हनूमान् को देखा था उसी प्रकार मेरी प्रिया ऊँचा मुँह कर और उत्कण्ठासे विकसित चित्तवाली होती हुई तुम्हें देखकर सत्कारपूर्वक सम्पूर्ण सन्देश सावधान होकर सुनेगी ही, क्योंकि हे सज्जन ! मित्रसे लाया गया प्रियतमका वृत्तान्त स्त्रियोंको समागम से कुछ ही कम होता है ।। ३७ ।।

टिप्पणी—इति = यह अव्यय है । आख्याते = आङ् + ख्या + क्तः (भावे), भावे सप्तमी । मैथिली = मिथिलायां भवा, "तत्र भवः" इत्यण्, "टिड्ढाणञि" त्यादिना ङीप् । मिथिला + अण् + ङीप् । "मिथिला" राजर्षि जनककी राजधानी थी । इसे आजकल "तिरहुत" "जनकपुर" वा "दरभङ्गा" भी कहते हैं । महाराज जनक जब मिथिलामें यज्ञ कर रहे थे, तब सीता यज्ञभूमिसें उत्पन्न हुई थीं, इसलिए सीताजीको मिथिलामें उत्पन्न होनेके कारण "मैथिली" कहते हैं ।

पवनतनयं = पवनस्य तनयः, तम् (ष० त०) । हनूमान्जीको 'पवनतनय' और "वायुपुत्र" भी कहते हैं । वे वानरराज सुग्रीवके मन्त्री थे । इन्होंने सौ योजन तक विस्तीर्ण समुद्रका लङ्घन कर सीताजीका पता लगाकर उन्हें रामकी अंगूठी देकर उनकी मणिको प्रत्यभिज्ञानके तौरपर रामचन्द्रजीको समर्पित किया । जैसे सीताजीने हनूमान् को उत्कण्ठासे विकसित हृदयवाली होकर दर्शन आदि व्यवहार किया था वैसे ही मेरी पत्नी भी तुम्हें देखकर व्यवहार करेगी प्रकृतमें यह तात्पर्य हैं । सीता और हनूमान्को उपमानके तौरपर रखनेसे यक्षपत्नीका पातिव्रत्य और मेघकी दूतगुणसम्पत्ति अभिव्यक्त होती है । "रत्नाकर" नामक ग्रन्थमें दूतके गुण लिखे गये हैं :—

"ब्रह्मचारी बली धीरो मायावी मानवर्जितः ।
धीमानुदारो निःशङ्को वक्ता दूतः स्त्रियां भवेत् ।।"

अर्थात् स्त्रीके विषयमें ब्रह्मचारी, बलवान्, धैर्यवाला, मायावी, निरभिमान, बुद्धिमान्, उदार, सन्देहरहित और वक्ता ऐसा दूत होना चाहिए ।

उन्मुखी=उन्नतं मुखं यस्याः सा (बहु०) । "स्वाऽङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्" इति ङीष् ।

उत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया=उद् + श्वस् + क्तः (कर्तरि)=उच्छ्वसितम् । उच्छ्वसितं हृदयं यस्याः सा (बहु०) । उत्कण्ठया उच्छ्वसितहृदया (तृ० त०) । वीक्ष्य=वि + ईक्ष + क्त्वा (ल्यप्) । संभाव्य=सम् + भू + णिच् + क्त्वा (ल्यप्) ।

जब सीताजीने हनुमान्का परिचय अच्छी तरह पा लिया तब उनका सन्देह दूर हुआ और वे निम्नलिखित श्लोकोंमें उनकी सम्भावना (सत्कार) करती है–

"विक्रान्तस्त्वं समर्थस्त्वं प्राज्ञस्त्वं वानरोत्तम ।
येनेदं राक्षसपदं त्वयैकेन प्रधर्षितम् ।। ३६–७ ।।
शतयोजनविस्तीर्णः सागरो मकरालयः ।
विक्रमश्लाघनीयेन क्रमता गोष्पदीकृतः ।। ८ ।।
नहि त्वां प्राकृतं मन्ये वानरं वानरर्षभ ।
यस्य ते नाऽस्ति संत्रासो रावणान्नाऽपि संभ्रमः ।। ९ ।।
अर्हसे त्वं कपिश्रेष्ठ ! मया समभिभाषितुम् ।
यद्यसि प्रेषितस्तेन रामेण विदितात्मना ।। १० ।।
(वाल्मीकिरा० सु० का०)

अवहिता=अवधानम् अवहितं, "नपुंसके भावे क्तः" इति भावे क्तः । अव + धा (हि) + क्तः–अवहितम् तत् अस्ति यस्याः सा अवहिता "अर्श आदिभ्योऽच्" इत्यच् । अवहित + अच् + टाप् । अवहिताका अर्थ है साऽवधाना अप्रमत्ता वा ।

श्रोष्यति = श्रु + लृट् + तिप् । सीमन्तिनीनां=सीम्नः अन्तः सीमन्तः, "शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्" "सीमन्तः केशवेशे" इति पररूपत्वम् । "सीमन्त" माँगको कहते हैं । सीमन्तः अस्ति आसां ताः सीमन्तिन्यः, तासाम् "अत इनि ठनौ" इति इनिः, तदन्तात् स्त्रीत्वविवक्षायाम् "ऋन्नेभ्यो ङीप्" इति ङीप् । सीमन्त + इनिः + ङीप् ।

"स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधूः ।" इत्यमरः ।

सुहृदुपगतः=शोभनं हृदयं यस्य स सुहृत् (बहु०), "सुहृद्दुर्हृदौ मित्रा-

ऽमित्रयोः" इति हृदयस्य हृद्भावो निपात्यते। सुहृदा उपगतः (तृ० त०)। "सुहृदुपगत" इति पुस्तकान्तरपाठः।

कान्तोदन्तः=कम्+क्तः=कान्तः। कान्तस्य उदन्तः (ष० त०)। अथवा कान्तश्चाऽसौ उदन्तः (क० धा०)।

संगमात्=संगमनं संगमः, तस्मात्। "ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च" इत्यप्। सम्+गम्+अप्। "पञ्चमी विभक्ते" इति पञ्चमी।

इस श्लोकमें उपमा और अर्थान्तरन्यासकी संसृष्टि है ।। ३७ ।।

तामायुष्मन्मम च वचनादात्मनश्चोपकर्तुं
ब्रूया एवं "तव सहचरो रामगिर्याश्रमस्थः।
अव्यापन्नः कुशलमबले ! पृच्छति त्वां वियुक्तः"
पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव ॥ ३८ ॥

अन्वयः—हे आयुष्मान् ! मम वचनात् आत्मन उपकर्तुं च ताम् एवं ब्रूयाः-"हे अबले ! तव सहचरः रामगिर्याश्रमस्थः अव्यापन्नः वियुक्तः (सन्) त्वां कुशलं पृच्छति"। सुलभविपदां प्राणिनाम् एतद् एव पूर्वाभाष्यम् ।। ३८ ।।

व्याख्या—संप्रति सन्दिशति—तामिति।

हे आयुष्मन्=हे जैवातृक ! परोपकारश्लाघ्यजीवित इति भावः। मम=यक्षस्य, वचनात्=प्रार्थनावचसः, आत्मनः=स्वस्य, उपकर्तुं च=उपकारं कर्तुं च, परोपकारेण आत्मानं कृतार्थयितुं चेति भावः। तां=मत्प्रियाम्, एवम्=इत्थं, वक्ष्यमाणप्रकारं वचनमिति भावः। ब्रूयाः=कथयेः, त्वमिति शेषः। किमित्याह—अव्यापन्न इति। हे अबले=हे प्रोषितभर्तृके !, तव=भवत्याः, सहचरः=सहचारी, रामगिर्याश्रमस्थः=चित्रकूटाश्रमस्थः, अव्यापन्नः=विशिष्टामापदमप्राप्तः, न मृत इति भावः। वियुक्तः=वियोगं प्राप्तः सन्, त्वां=भवतीं, कुशलं=मङ्गलं, जीवनधारणरूपमिति भावः। पृच्छति=अनुयुङ्क्ते। ननु बहूनां प्रष्टव्यविषयाणां विद्यमानत्वेऽपि किमर्थं कुशलस्यैव प्रश्न इति चेत्तत्राऽऽह—पूर्वाऽऽभाष्यमिति। सुलभविपदाम्=अयत्नसिद्धविपत्तीनां, प्राणिनां=जीवानाम्, एतद् एव=कुशलम् एव, पूर्वाऽऽभाष्यं=प्रथमं भाषणीयम् ।। ३८ ।।

सरलाऽर्थः—हे जैवातृक ! त्वं मत्प्रियामेवं कथय—"रामगिर्याश्रमस्थस्त्वत्प्रियः कुशली सन् त्वदीयं कुशलं च पृच्छति"। अयत्नसिद्धविपत्तीनां जीवानां प्रथमं कुशलमेव प्रष्टव्यम् ।। ३८ ।।

अनुवादः—हे चिरञ्जीव ! तुम मेरी प्रार्थनासिद्धिके लिए और परोपकारसे

अपने को कृतार्थ करने के लिए भी मेरी प्रियतमाको ऐसा कहो—"हे अबले ! तुम्हारा बिछुड़ा हुआ सहचर रामगिरि आश्रममें है तथा कुशली है, और तुम्हारी कुशल पूछ रहा है" क्योंकि सुलभ विपत्तिवाले प्राणियोंको कुशल ही पूछना चाहिए ।। ३८ ।।

टिप्पणी—आयुष्मन्=प्रशस्तम् आयुरस्ति यस्य स आयुष्मान्, तत्सम्बुद्धौ । आयुस् + मतुप् (भूम्नि प्रशंसायां वा) । यक्षने "भ्रातः" कहकर सम्बोधन किया है, इसलिए वह "आयुष्मन्" अर्थात् "हे चिरञ्जीव" कहकर सम्बोधन करता है । अथवा यहाँ प्रशंसाके अर्थमें मतुप् प्रत्यय हुआ है, इस कारण आयुष्मान्का अर्थ हुआ परोपकारसे प्रशंसनीय जीवनवाला ।

वचनात्=वच + ल्युट् (भावे) । "ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे चे"ति कर्मणि पञ्चमी ।

आत्मनः=यहाँपर आत्माका उपकार क्रियाके कर्म होनेसे द्वितीयाकी प्राप्ति थी परन्तु "कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव" अर्थात् कर्म आदिका भी सम्बधमात्रकी विवक्षामें षष्ठी ही होती है, इस नियमसे "मातुः स्मरति" इत्यादि प्रयोगके समान षष्ठी हुई है । ऐसा प्रयोग अन्यत्र भी पाया जाता है, जैसे कि भारविका प्रयोग है—

"सा लक्ष्मीरुपकुरुते यया परेषाम्" ।

श्रीहर्षका भी ऐसा प्रयोग उपलब्ध होता है—

"साधूनामुपकर्तुं, लक्ष्मीं द्रष्टुं विहायसा गन्तुम् ।
न कुतूहलि कस्य मनश्चरितं च महात्मनां श्रोतुम् ।।"

उपकर्तुम्=उप + कृ + तुमुन् । ब्रूयाः=ब्रू + लिङ् (विधौ) + सिप् । इस श्लोकके "तव सहचरः" यहाँसे लेकर चालीसवें श्लोकके "मन्मुखेनेदमाह" यहां तकका वाक्य यक्षने मेघको अपनी प्रियाके प्रति कहनेके लिए निर्देश किया है । तदनन्तर इकतालीसवें श्लोकके 'श्यामास्वङ्गम्'से आरम्भ कर 'प्रेमराशीभवति' उन्चासवें श्लोकपर्यन्तका भाग अपना सन्देश कहनेके लिए अनुरोध किया है ।

अबले=अविद्यमानं बलं यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ (नञ्बहु०) । सहचरः=सह चरतीति, "पचाद्यच्" । सह + चर + अच् । "तव सहचरः" कहनेसे पतिमात्र नहीं, न प्रियमात्र ही बल्कि चक्रवाकके समान अलग होकर रहने में असमर्थ इस प्रकारका अभिप्राय प्रतीत होता है ।

रामगिर्याश्रमस्थः = रामगिरेः आश्रमाः (ष० त०)। रामगिर्याश्रमेषु तिष्ठतीति (रामगिर्याश्रम + स्था + कः, उपपदसमासः)। रामगिरिके आश्रम कहने यक्षके तपस्विभावका द्योतन होता है और आश्रमके बहुत्वसे यक्षकी भ्रमणशीलता भी परिलक्षित होती है।

अव्यापन्नः=वि + आङ् + पद् + क्तः (कर्तरि)=व्यापन्नः (मृतः)। न व्यापन्नः (नञ्०) "अव्यापन्नः" इस प्रकार विध्यर्थ-जीवित वा कुशली न कहकर निषेधार्थ अव्यापन्न (अमृत) कहनेसे वियोगदुःखकी दुःसहताके कारण मृतप्राय ऐसा अर्थ जाना जाता है। तथाऽपि तुम्हें पानेकी आशासे किसी तरह जी रहा है यह अर्थ भी प्रस्फुट होता है।

वियुक्तः = वि + युज् + क्तः। "वियुक्ताम्" ऐसा पाठान्तर पाया जाता है, उसमें वह यक्षपत्नीका विशेषण है।

पृच्छति = प्रच्छ + लट् + तिप्। "प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्" धातु द्विकर्मक है, इस लिए इसके दो कर्म हैं—"त्वाम्" और "कुशलम्" सुलभविपदां = सुखेन लभ्या इति सुलभा, सु + लभ + खल् (कर्मणि) + टाप्। सुलभा विपत् येषां ते सुलभविपदः, तेषाम् (बहु०), यह "प्राणिनाम्" का विशेषण है। संसारमें प्राणियों को विपत्ति ही सुलभ है सम्पत्ति नहीं, यह अनुभवसिद्ध बात है। भगवान् पतञ्जलिने भी योगदर्शनमें "परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" ऐसा कहा है। महाकवि कालिदासने भी इसी प्रकार रघुवंशमें भी—

"विपदुत्पत्तिमतामुपस्थिता" ऐसा लिखा है।

प्राणिनां = प्राणः सन्ति एषां ते प्राणिनः, तेषाम्। प्राण + इनि + आम्।

"प्राणी तु चेतनो जन्मी जन्तुजन्युशरीरिणः।" इत्यमरः।

पूर्वाभाष्यम् = अवश्यम् आभाषितुं योग्यम् आभाष्यम् "कृत्याश्च" इति आवश्यकाऽर्थे ण्यत् प्रत्ययः, आङ् + भाष् + ण्यत् (कर्मणि)। पूर्वम् आभाष्यम् (सुप्सुपा०)। "पूर्वाशास्यम्" ऐसा पाठान्तर भी पाया जाता है। आङ् + शास् + ण्यत् = आशास्यम्। पूर्वम् आशास्यम् (सुप्सुपा०)। इस श्लोकमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ ३८ ॥

अङ्गेनाङ्गं प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्तं
सास्त्रेणास्त्रद्रुतमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन ।
उष्णोच्छ्वासं समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती
संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—(हे सुन्दरि !) दूरवर्ती वैरिणा विधिना रुद्धमार्गः (तव सहचरः) तनुना गाढतप्तेन साऽस्रेण उत्कण्ठितेन समधिकतरोच्छ्वासिना अङ्गेन प्रतनु तप्तम् अस्रद्रुतम् अविरतोत्कण्ठम् उष्णोच्छ्वासम् अङ्गं तैः सङ्कल्पैः विशति ॥ ३९ ॥

व्याख्या—(हे सुन्दरि !) दूरवर्ती=विप्रकृष्टस्थः, वैरिणा=विरोधिना, विधिना=दैवेन, रुद्धमार्गः=प्रतिबद्धपथः (तव सहचर इति पदद्वयं पूर्वश्लोकादनुवर्तनीयम्), तनुना=कृशेन, गाढतप्तेन=अत्यन्तसन्तप्तेन, साऽस्रेण=अश्रुसहितेन, उत्कण्ठितेन=वेदनायुक्तेन समधिकतरोच्छ्वासिना=दीर्घनिःश्वासिना, अङ्गेन=स्वशरीरेण, प्रतनु=अतिशयकृशं, तप्तं=तापयुक्तं, वियोगदुःखेनेति शेषः । अस्रद्रुतम्=अश्रुक्लिन्नम्, अविरतोत्कण्ठम्=अविच्छिन्नवेदनम्, उष्णोच्छ्वासं=तीव्रनिःश्वासम्, अङ्गं=त्वदीयं शरीरं, तैः=स्वाऽनुभूतैः, सङ्कल्पैः=मनोरथैः विशति=प्रविशति, एकीकरोतीति भावः ॥ ३९ ॥

सरलाऽर्थः—हे सुन्दरि ! प्रतिकूलदैवेन प्रतिबद्धपथो, दूरस्थस्त्वत्प्रियः कृशेन संतप्तेन साऽश्रुणा वेदनायुक्तेन दीर्घनिःश्वासिना स्वशरीरेण भवत्या अपि तादृशमेव शरीरं मनोरथैरेकीकरोति ॥ ३९ ॥

अनुवादः—हे सुन्दरि ! प्रतिकूल दैवसे मार्गके रोकेजानेसे दूरस्थित तुम्हारा सहचर, दुबले-पतले, सन्तप्त, आँसूवाले, उत्कण्ठित और लम्बे निःश्वासवाले अपने शरीरसे बहुत ही दुबले-पतले, विरहके तापसे युक्त, आँसुओंसे गीले, अविच्छिन्न उत्कण्ठावाले और गरम निःश्वासवाले तुम्हारे शरीरको अपने अनुभूत मनोरथोंसे प्रवेश करता है ॥ ३९ ॥

टिप्पणी—दूरवर्ती=दूरे वर्तते तच्छील इति, दूर+वृत्+णिनिः, (उपपदसमासः)। रामगिरि पर्वतमें रहा हुआ यक्ष, कुबेरकी अलकापुरीमें विद्यमान अपनी प्रियतमासे दूरवर्ती था।

वैरिणा=वीरस्य भावः कर्म वा वैरं, तेन, वीर+अण्। यहाँपर वीर शब्दसे ष्यञ्की प्राप्ति थी परन्तु पाणिनिके "द्वन्द्वाद्वुन् वैरमैथुनिकयोः" इस सूत्रमें अण्-प्रत्ययान्त वैर शब्दको देखनेसे "हायनाऽन्तयुवादिभ्योऽण्" इस सूत्रसे अण्प्रत्यय करना चाहिए। "वैरं विरोधो विद्वेष" इत्यमरः। वैरम् अस्याऽस्तीति वैरी, तेन। वैर+इनिः।

"रिपौ वैरिसपत्नाऽरिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः।" इत्यमरः।

विधिना=वि+धा+किः, "दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः।" इत्यमरः।

रुद्धमार्गः=रुध् + क्तः=रुद्धः । रुद्धो मार्गो यस्य सः (बहु०) ।

विरोधी दैवके कारण ही यक्षको अपने स्वामी कुबेरसे १ सालतक पत्नीसे विरह होनेका शाप मिला था, इसीसे पत्नीसे उसका मिलने का मार्ग रुका हुआ था ।

गाढतप्तेन=तप + क्तः (कर्तरि)=तप्तम् । गाढं तप्तं, तेन (सुप्सुपा०) यह "अङ्गेन" पदका विशेषण है । यहाँपर यक्षने इस विशेषणसे पत्नीके तप्त शरीरसे भी अपने शरीरका ताप अधिक बतलाया है । साऽस्रेण=अस्रेण सहितं सास्रं, तेन (तुल्ययोगबहु०) ।

उत्कण्ठितेन = उत्कण्ठा (उत्सुकता वेदना वा) सञ्जाता अस्य तत् उत्कण्ठितं, तेन "तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्" इति इतच्प्रत्ययः । अथवा उद्+कण्ठ+क्तः (कर्तरि) ।

समधिकतरोच्छ्वासिना=अतिशयेन अधिकम् अधिकतरं, "द्विवचनविभज्योपपदे तरवीयसुनौ" इति तरप्प्रत्ययः । अधिक+तरप् । सम्यक् अधिकतरं "कुगतिप्रादय" इति समासः । समधिकतरम् उच्छ्वसतीति समधिकतरोच्छ्वासि तेन । समधिकतर+उद्+श्वस्+णिनिः "सहसुपा" इति समासः ।

प्रतनु=प्रकृष्टं तनु, तत् "कुगतिप्रादय" इति समासः । यहाँपर यक्षने अपनी पत्नीके अङ्गको "प्रतनु" कहा है, जिसके कि यक्षके शरीरसे भी उसका शरीर पतला प्रतीत होता । एक तो वह "तन्वी श्यामा" (उत्तरमेघ २२ वाँ श्लोक)के अनुसार कृशाङ्गी थी ही उसपर भी विरहके कारण उसका शरीर कृशतर होना स्वाभाविक ही है । आदिकवि वाल्मीकिने भी सीताका शरीरको भी ऐसा ही लिखा है, जैसे कि—

> "सा प्रकृत्यैव तन्वङ्गी तद्वियोगाच्च कार्शिता ।
> प्रतिपत्पाठशीलस्य विद्येव तनुतां गता" ॥

'अस्रद्रुतं=द्रु+क्तः (कर्तरि)=द्रुतम् । अस्रैः द्रुतम् (तृ० त०), तत् । "अश्रुद्रुतम्" ऐसा पाठान्तर है ।

> "अश्रु नेत्राऽम्बु रोदनं चाऽस्रमस्रु च"त्यमरः ।

विरहके कारण अश्रुपातसे शरीरका गीला होना स्वाभाविक ही है ।

अविरतोत्कण्ठं=न विरता (नञ्०) । अवरिता उत्कण्ठा यस्य तत् (बहु०)

उष्णोच्छ्वासम्=उद्+श्वस्+घञ्=उच्छ्वासः । उष्ण उच्छ्वासो यस्य तत् (बहु०) ।

तैः=यह अनुभूतार्थका प्रतिपादक है, इसलिए "यैः" पद न होनेपर भी ऐसे स्थानमें अविमृष्टविधेयांऽश दोष नहीं होता है। "तैः" इसका अर्थ हुआ पहले अनुभव किये गये ।

इस श्लोकमें "सम" अलङ्कार है। जहाँपर योग्य दो वस्तुओंकी औचित्य से श्लाघा की जाती है वहाँ "सम" अलङ्कार होता है। जैसे कि साहित्यदर्पणमें लिखा गया है—

"समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा या योग्यवस्तुनोः" १०–९२ ॥ ३९ ॥

शब्दाख्येयं यदपि किल ते यः सखीनां पुरस्तात्
कर्णे लोलः कथयितुमभूदाननस्पर्शलोभात् ।
सोऽतिक्रान्तः श्रवणविषयं लोचनाभ्यामदृश्य-
स्त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह ॥ ४० ॥

अन्वयः—(हे अबले !) यः ते सखीनां पुरस्तात् यत् शब्दाऽऽख्येयम्, (तत्) अपि आननस्पर्शलोभात् कर्णे कथयितुं लोलः अभूत् किल । श्रवणविषयम् अतिक्रान्तो लोचनाभ्याम् अदृश्यः स त्वाम् उत्कण्ठाविरचितपदम् इदं मन्मुखेन आह ॥ ४० ॥

व्याख्या—साम्प्रतं स्वावस्थाद्योतनायोपक्रमते—शब्दाऽऽख्येयमिति । (हे अबले !) यः=त्वत्प्रियः, ते=तव, सखीनां=वयस्यानां, पुरस्तात्=अग्रे, यत्=वचनं, शब्दाख्येयं=पदैरुच्चैः, कथनीयं, यद्वा निरर्थकम् । तत् अपि, आननस्पर्शलोभात्=त्वन्मुखसम्पर्कगार्ध्यात्, अधरमधुपानलोभादिति भावः । कर्णे=श्रोत्रे, कथयितुं=भाषितुं, लोलः=चञ्चलः, लालस इति भावः । अभूत्=आसीत् । किल=निश्चयेन । श्रवणविषयं=कर्णपथम्, अतिक्रान्तः=लङ्घितवान्, श्रवणेन्द्रियाऽविषय इति भावः । लोचनाभ्यां=नेत्राभ्याम्, अदृश्यः=अदर्शनीयः, लोचनाऽगोचर इति भावः । अतिदूरवर्तित्वाद् द्रष्टुं श्रोतुं च न शक्य इति यावत् । सः=त्वत्प्रियः, उत्कण्ठाविरचितपदम्=औत्सुक्यनिर्मितशब्दम्, इदं=वक्ष्यमाणं "श्यामास्वङ्गम्" इत्यादि वाक्यकदम्बकं, मन्मुखेन=मदाननेन करणभूतेन, आह=ब्रूते, अतः परं यद्वाक्यकदम्बकमहं ब्रवीमि तत्त्वत्प्रियस्यैव बोध्यमिति भावः ॥ ४० ॥

सरलाऽर्थः—हे अबले ! यस्ते प्रियः प्राक् सखीनामग्रे शब्दप्रतिपादनीयमपि वचनं त्वदधरमधुपानलोलुपत्वात्कर्णसमीपे प्रतिपादयितुं लालस आसीत् ।

स एतर्हि दूरवर्तित्वान्नयनश्रवणाऽगोचरः सन् वक्ष्यमाणं वाक्यकदम्बकं मन्मुखेनोपन्यस्यति ॥ ४० ॥

अनुवादः—हे अबले ! जो प्रियतम पहले सखियोंके सामने कहनेके लिए योग्य वचनको भी तुम्हारे मुखको छूनेके लोभसे कानमें बतानेके लिए उत्कण्ठित था । अभी वही तुम्हारा प्रियतम कान और नेत्रोंके विषयसे दूर होकर तुम्हें उत्कण्ठासे रचे गये पदोंसे युक्त यह वाक्यसमूह मेरे मुखसे कहता है ॥ ४० ॥

टिप्पणी—पुरस्तात्=पूर्व (पुर्)+अस्तातिः । यह अव्यय है । शब्दाऽऽख्येयम्=आख्यातुं योग्यम्, आङ्+ख्या+यत्=आख्येयम् । शब्देन आख्येयम् (तृ० त०) ।

आननस्पर्शलोभात्=स्पृश+घञ्=स्पर्शः । लुभ+घञ्=लोभः । आननस्य स्पर्शः (ष० त०) । आननस्पर्शे लोभात् (स० त०) । मुखके स्पर्शमें लोभसे यह शब्दाऽर्थ है, तथा अधरपानके लोभसे यह इसका भावाऽर्थ है ।

कथयितुं=कथ+णिच्+तुमुन् ।

लोलः=“लोलुपो लोलुभो लोलो लालसो लम्पटोऽपि च ।” इति यादवः । अभूत्=भू+लुङ्+तिप् ।

किल=यह ऐतिह्य वा निश्चय अर्थका द्योतक अव्यय है ।

श्रवणविषयं=श्रूयते आभ्यामृ इति श्रवणे, श्रु+ल्युट् । श्रवणयोर्विषयः तम् (ष० त०) ।

अतिक्रान्तः=अति+क्रम्+क्तः (कर्तरि) ।

अदृश्यः=द्रष्टुं शक्यो दृश्यः, दृश्+क्यप् (कर्मणि) । न दृश्यः (नञ्०) ।

दूर होनेके कारण जिसका शब्द सुना नहीं जा सकता है और जो देखा भी नहीं जा सकता है यह समष्टि अर्थ है । “अदृश्यः” के स्थानपर “अदृष्टः” ऐसा भी पाठान्तर है ।

उत्कण्ठाविरचितपदम् = उद्+कण्ठ+अ (भावे)+टाप्=उत्कण्ठा, वि+रच+णिच्+क्तः (कर्मणि)=विरचितम् । विरचितानि पदानि (सुप्तिङन्तशब्दा वाक्यानि वा) यस्य, तत् (वहु०) ।

मन्मुखेन=मम मुखं मन्मुखं, तेन (ष० त०) ॥ ४० ॥

श्यामास्वङ्गं, चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं,
वक्त्रच्छायां शशिनि, शिखिनां वर्हभारेषु केशान् ।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान् ,
हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि ! सादृश्यमस्ति ॥ ४१ ॥

अन्वयः—(हे प्रिये !) श्यामासु अङ्गं, चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं; शशिनि वक्त्रच्छायां, शिखिनां बर्हभारेषु केशान्, प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान् उत्पश्यामि । हन्त ! हे चण्डि ! क्वचिदपि एकस्मिन् (वस्तुनि) ते सादृश्यं न अस्ति ।। ४१ ।।

व्याख्या—अतः प्रभृति श्लोकनवकेन मेघसन्देशः प्रतिपाद्यते । सादृश्य-प्रतिकृति-स्वप्नदर्शन—तदङ्गस्पृष्टस्पर्शाख्याश्चत्वारो वियोगिनां विनोदनोपायास्तत्र सदृशवस्तुदर्शनमाह—श्यामास्वङ्गमिति । (हे प्रिये !) श्यामासु=प्रियङ्गुलतासु; अङ्गं=शरीरम्, उत्पश्यामि=उत्प्रेक्षे, एवं परत्राऽपि क्रियापदं योजनीयम् । सौकुमार्यादिसाम्याच्छ्यामादिकं त्वच्छरीरावयवत्वेन तर्कयामीति भावः । चकितहरिणीप्रेक्षणे=त्रस्तमृगीविलोकने, दृष्टिपातं=त्वन्नयनव्यापारं, शशिनि=चन्द्रे; वक्त्रच्छायां=त्वन्मुखकान्ति, शिखिनां=मयूराणां, बर्हभारेषु=पिच्छकलापेषु; केशान्=त्वत्कचान्, नीलत्वबहुत्वादि तत्सादृश्येनेति भावः । एवं च प्रतनुषु=स्वल्पासु, नदीवीचिषु=नदीतरङ्गेषु, भ्रूविलासान्=भ्रूविभ्रमान्, उत्पश्यामि=उत्प्रेक्षे, तथाऽपि नाऽस्ति मनोनिर्वृतिरित्याशयेनाऽऽह—हन्तेति । हन्तेति विषादे । हे चण्डि=हे कोपने, क्वचिदपि=कस्मिन्नपि, एकस्मिन्=एकसंख्यके (वस्तुनि=पदार्थे), ते=तव, सादृश्यं=साम्यं, साकल्येनेति शेषः ? न अस्ति=नो वर्तते; अतो न निर्वृणोमीति भावः । अनेनाऽस्याः सौन्दर्यमनुपममिति व्यज्यते ।। ४१ ।।

सरलाऽर्थः—हे प्रिये ! प्रियङ्गुलतास्वङ्गं, भीतमृगीविलोकने दृष्टिपातं; चन्द्रमसि मुखकान्ति, मयूरपिच्छकलापेषु केशपाशान्, एवं च स्वल्पेषु सरित्तरङ्गेषु, ते भ्रूविलासांस्तर्कयामि; परं हन्त ! कस्मिन्नप्येकस्मिन्पदार्थे त्वदीयं साम्यं न वर्तते ।। ४१ ।।

अनुवादः—हे प्रिये ! प्रियङ्गुलताओंमें तुम्हारे शरीरकी, डरी हुई मृगियोंके नेत्र-व्यापारमें तुम्हारे दृष्टिपातकी, चन्द्रमामें तुम्हारी मुखकान्तिकी, मयूरोंके पंखोंमें तुम्हारे केशोंकी और नदीकी पतली तरङ्गोंमें तुम्हारी भौहोंके विलासकी तर्कना किया करता हूँ, परन्तु खेद है कि, हे भामिनि ! किसी भी एक पदार्थमें तुम्हारा सादृश्य नहीं है ।। ४१ ।।

टिप्पणी—श्यामासु = "श्यामा तु महिलाऽऽह्वया ।
लता गोवन्दनी गुन्द्रा प्रियङ्गुः फलिनी फली ।।" इत्यमरः ।

यक्षने सुकुमारताके कारण प्रियङ्गुलताओंमें अपनी प्रियाके शरीरका सादृश्य

दिखाया है वर्णमें दोनोंका सादृश्य दुर्घट है; क्योंकि प्रियङ्गुलता श्यामवर्णकी होती है ।

अङ्गम्=अङ्ग पदके दो अर्थ हैं, शरीर और हाथ पैर आदि अवयव । यहाँ पर दोनों अर्थ लिये जा सकते हैं ।

चकितहरिणीप्रेक्षणे=चक+क्त (कर्तरि)+टाप्=चकिता । प्र+ईक्ष+ल्युट्=प्रेक्षणम् । चकिताश्च ता हरिण्यः (क० धा०) । चकितहरिणीनां प्रेक्षणं तस्मिन् (ष० त०) । दृष्टिपातं=दृश्+क्तिन्=दृष्टिः । पत+घञ्=पातः । दृष्टेः पातः, तम् (ष० त०) ।

डरी हुई मृगियोंके समान तुम्हारा भी दृष्टिपात चञ्चल है, यह बात यहाँपर दिखलाई गई है । महाकवि भवभूतिने भी "त्रस्तैकहायनकुरङ्गविलोलदृष्टेः" उत्तररामचरित (३—२८) में रामके मुखसे सीताजीका ऐसा ही वर्णन कराया है । स्वयम् महाकवि कालिदास भी उत्तर-मेघके उन्नीसवें श्लोकमें 'चकितहरिणीप्रेक्षणा" लिख चुके हैं ।

शशिनि=शशोऽस्याऽस्तीति शशी, तस्मिन्, शश+इनिः । चन्द्रमामें जो कलङ्क है, उसे कवियोंने शश (खरगोश) के रूपमें माना है; इसीसे वे "शशी" कहलाते हैं ।

वक्त्रच्छायां=वक्त्रस्य छाया, ताम् (ष० त०) । यहाँपर पूर्व पदार्थ वक्त्रका बाहुल्य न होनेसे छाया बाहुल्ये" इस सूत्रसे यह पद नपुंसक लिङ्गमें नहीं रहा ।

शिखिनां=शिखा+इनि+आम् । बर्हभारेषु=बर्हाणां भारः, तेषु (ष० त०) । अनेक वर्णोंवाले फूलोंसे भूषित स्त्रियोंके केशोंकी मयूरोंके पिच्छोंसे तुलना की जाती है ।

प्रतनुषु=प्रकृष्टास्तनवः, तासु "कुगतिप्रादय" इति समासः ।

नदीवीचिषु=नदीनां वीचयः, तासु (ष० त०) भ्रूविलासान्=भ्रूवोः विलासाः, तान् (ष० त०) । इसका पाठान्तर "भ्रूपताकाः" ऐसा मिलता है, उसमें "भ्रुवः पताका इव" इस प्रकार से उपमित कर्मधारय समास करना चाहिए । इसका अर्थ हुआ झण्डेकी सदृश भौंहों को ।

उत्पश्यामि=उद्+दृश् (पश्य)+लट्+मिप् ।

हन्त—यह हर्ष और विषाद आदिका द्योतक अव्यय है, यहाँपर विषाद अर्थमें इसका प्रयोग हुआ है ।

"हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्याऽऽरम्भविषादयोः" । इत्यमरः ।

चण्डि = चण्डत इति चण्डी, तत्सम्बुद्धौ । "चडि कोपे" इति धातोः पचाद्यच् "बह्वादिभ्यश्चेति" इति ङीष्, चडि + अच् + ङीष् । मल्लिनाथजी ने "गौदादित्वात् ङीष्" लिखा है, परन्तु गौरादिगणमें चण्ड शब्दका पाठ उपलब्ध नहीं है । प्रियतमाके अङ्गोंके उपमानके तौरपर श्यामा आदि वस्तुओंका वर्णन करनेसे उसके क्रोधकी सम्भावनासे यक्ष उसे "चण्डि" कहकर सम्बोधन करता है । पीछे समाधान करता है कि किसी भी एक वस्तुमें तुम्हारी समता नहीं है, अर्थात् तुम असाधारण हो । इसी कारण इस श्लोकमें उपमेय (प्रिया) का उपमानोंसे (श्यामा आदि पदार्थोंसे) गुणोंके आधिक्यकी प्रतीति होनेसे व्यतिरेक अलङ्कारकी ध्वनि है ।

एकस्मिन् = "एकाकी त्वेक एककः" इत्यमरः ।

सादृश्यं = सदृशस्य भावः कर्म वा, सदृश + ष्यञ् ।

अस्ति = अस् + लट् + तिप् ।

इस श्लोकमें प्रियाके अङ्गोंके सदृश श्यामा आदि वस्तुओंके अनुभवसे प्रियाके अङ्गरूप वस्तुओंकी स्मृति होनेसे स्मरण अलङ्कार है । जैसे कि साहित्यदर्पणमें लिखा है :—

"सदृशाऽनुभवाद्वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते ।" इति । १०–४०

"गुणपताका" नामक ग्रन्थके अनुसार विरहियोंको दिल बहलानेके लिए चार उपाय हैं—१ प्रियजनके सदृश पदार्थको देखना, २ प्रतिकृति याने चित्र वा मूर्तिकी रचना करना, ३ स्वप्न देखना और ४ प्रिय वा प्रियाके अङ्गसे स्पृष्ट वस्तुका स्पर्श करना । इस पद्यमें सदृश वस्तुओंका दर्शन बतलाया गया है, ऐसे ही भावका श्लोक महाकविने रघुवंशमें भी कहा है—

"कलमन्यभृतासु भाषितं, कलहंसीषु मदाऽलसं गतम् ।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः ८–५९। ॥४१॥"

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागै शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—(हे प्रिये !) प्रणयकुपितां त्वां धातुरागैः शिलायाम् आलिख्य

आत्मानं ते चरणपतितं कर्तुं यावत् इच्छामि, तावत् मुहुः उपचितैः अस्रैः मे दृष्टि आलुप्यते । क्रूरः कृताऽन्तः तस्मिन् अपि नौ संगमं न सहते ॥ ४२ ॥

व्याख्या—सम्प्रतिकृतिदर्शनमाह—त्वामालिख्येति । (हे प्रिये !) प्रणयकुपितां=प्रेमक्रुद्धां, प्रदर्शितप्रणयकोपां न तु अपराधकुपितामिति भावः । त्वां=भवतीं, त्वत्प्रतिकृतिमिति भावः । धातुरागैः=गैरिकादिवर्णैः, शिलायां=पाषाणपट्टे, आलिख्य=लिखित्वा, आत्मानं=स्वं, मामित्यर्थः, मत्प्रतिकृतिमिति भावः । ते=तव, चित्रस्थिताया इति भावः । चरणपतितं=पादनिपतितं, कर्तुं=विधातुं, लिखितुमिति भावः । यावत्=यत्कालाऽवधिम्, इच्छामि=वाञ्छामि, तावत्=तत्कालाऽवधिम्, इच्छासमकालमेवेति भावः । मुहुः=बहुशः, उपचितैः=प्रवृद्धैः, अस्रैः=अश्रुभिः कर्तृभिः, मे=मम, दृष्टिः=नेत्रम्,आलुप्यते=आव्रियते इत्यर्थः । ततो दृष्टिप्रतिबन्धनाल्लेखनं प्रतिबध्यत इति भावः । क्रूरः=घातुकः, कृताऽन्तः=दैवं, तस्मिन् अपि = चित्रे अपि, नौ=आवयोः, संगमं = सहवासं, न सहते= न क्षमते ॥ ४२ ॥

सरलाऽर्थः—हे प्रिये ! प्रेमक्रुद्धां त्वत्प्रतिकृतिं गैरिकादिवर्णैः प्रस्तरपट्टे लिखित्वा स्वं त्वत्पादपतितं यावदिच्छामि तावत् बहुशः प्रवृद्धैरश्रुभिर्मदीयं नेत्रमाव्रियते, घातुकं दैवं चित्रेप्यावयोः समागमं न मृष्यति ॥ ४२ ॥

अनुवादः—हे प्रिये ! प्रेमसे रूठी हुई तुमको गेरू आदि धातुओंसे पत्थरपर लिखकर अपनेको तुम्हारे चरणोंपर गिरा हुआ जब लिखना चाहता हूँ, तब बहुत बढ़े हुए आँसुओंसे मेरी आँखें अवरुद्ध हो जाती हैं । कठोर दैव चित्रमें भी हमारे समागमको सहन नहीं करता है ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—प्रणयकुपितां=प्र+नी+अच् (भावे)=प्रणयः । कुप्+क्त (कर्तरि)+टाप्=कुपिता । प्रणयेन कुपिता, ताम् (तृ० त०) । "कोप" इसका दूसरा पर्याय है "मान" । वह कोप दो प्रकार होता है, प्रणयकोप और ईर्ष्याकोप । बहुत हर्ष होने पर भी बिना कारणके कोपको "प्रणयकोप" कहते हैं । प्रकृतमें नायिकाका यही प्रणयकोप विवक्षित है ।

धातुरागैः—रज्यत एभिरिति रागाः, रञ्ज+घञ् (करणे) । धातव एव रागाः, तैः (रूपक०) ।

"धातुर्वाताऽऽदिशब्दाऽऽदिगैरिकादिष्वजादिषु ॥" इति यादवः ।

"चित्राऽऽदिरञ्जकद्रव्ये लाक्षाऽऽदौ प्रणयेच्छयोः ।
सारङ्गादौ च रागः स्यादारुण्ये रञ्जने पुमान् ॥" इति शब्दाऽर्णवः ।

आलिख्य=आङ्+लिख्+क्त्वा (ल्यप्) ।

चरणपतितं=पत्+क्तः (कर्तरि)=पतितः । चरणयोः पतितः, तम् (स० त०) कर्तुं+कृ+तुमुन् ।

यावत्, तावत्=“यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे ।” इत्यमरः ।

उपचितैः=उप+चि+क्तः (कर्तरि ।

अस्रैः=अनुक्ते कर्तरि तृतीया । “अस्रमश्रुणि शोणिते ।” इति विश्वः ।

दृष्टिः=दृश्+क्तिन् ।

आलुप्यते=आङ्+लुप्+लट्+यक् (कर्मणि)+त ।

क्रूरः=“नृशंसो घातुकः क्रूर”, इत्यमरः ।

कृतान्तः=कृतः अन्तः येन सः (बहु०) ।

“कृताऽन्तो यमसिद्धान्तदैवाऽकुशलकर्मसु ।” इत्यमरः । कृताऽन्तका अर्थ यमराज आदि भी होता है । इस पदसे यमराजके सदृश क्रूर दैव ऐसा अर्थ व्यङ्ग्य होता है ।

नौ=अस्मद् शब्दकी षष्ठीके द्विवचनमें ‘युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वानावौ” इस सूत्रसे “नौ” आदेश हुआ है ।

संगमं=सम्+गम्+अप् । सहते=सह+लट्+त ।

हम दोनोंके चित्रस्थित संगमको भी न सहनेवाला दैव साक्षात् संगमका सहन नहीं करता है यह क्या कहा जाय यह बात “अपि” शब्दसे द्योतित होती है ।

इस श्लोकमें “तस्मिन् अपि” यहांपर अर्थापत्ति अलङ्कार है ॥ ४२ ॥

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो-
लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसन्दर्शनेषु ।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥ ४३ ॥

अन्वयः—(हे प्रिये !) स्वप्नसंदर्शनेषु मया कथमपि लब्धायाः ते निर्दयाऽऽश्लेषहेतोः आकाशप्रणिहितभुजं मां पश्यन्तीनां स्थलीदेवतानां मुक्तास्थूलाः अश्रुलेशाः तरुकिसलयेषु बहुशो न पतन्ति (इति) न खलु ॥ ४६ ॥

व्याख्या—अधुना स्वप्नप्रदर्शनमाह—मामिति । (हे प्रिये !) स्वप्नसंदर्शनेषु =स्वप्नविलोकनेषु, मया = यक्षेण, कथमपि=केनाऽपि प्रकारेण, महता प्रयत्नेनेति भावः । लब्धायाः=प्राप्तायाः, ते=तव, मत्प्रियायाः । निर्दयाः

ऽऽश्लेषहेतोः = गाढालिङ्गनार्थमिति भावः। आकाशप्रणिहितभुजं = गगनप्रसारितबाहुं, मां=यक्षं, पश्यन्तीनां=विलोकयन्तीनां, न तु दृष्टवतीनामिति भावः। स्थलीदेवतानां=वनस्थलीदेवीनां, मुक्तास्थूलाः=मौक्तिकपीवराः, अश्रुलेशाः=बाष्पबिन्दवः, तरुकिसलयेषु=वृक्षपल्लवेषु, बहुशः=भूरिशः, न पतन्ति (इति) न=न स्खलन्ति (इति) न, पतन्त्येवेति भावः। खलु=निश्चयेन ।। ४३ ।।

सरलाऽर्थः—हे प्रिये! स्वप्नाऽनुभवेषु मया महता प्रयासेन प्राप्तायास्तव गाढालिङ्गनाऽर्थं गगनप्रसारितबाहुं मां विलोकयन्तीनां वमदेवतानां मुक्तास्थूला बाष्पबिन्दवः पादपपल्लवेषु भूरिशः पतन्त्येव ।। ४३ ।।

अनुवादः—हे प्रिये! स्वप्नके अनुभवोंमें मुझसे किसी प्रकार जब तुम पाई जाती हो तब तुम्हारे गाढ आलिङ्गनके लिए आकाशमें हाथोंको फैलाये हुए मुझको देखती हुई वनदेवताओंकी मोतियोंकी समान आंसुओंकी बूंदें वृक्षोंके पल्लवोंमें कई बार गिरती ही रहती हैं ।। ४३ ।।

टिप्पणी—स्वप्नसंदर्शनेषु=सुप्तस्य विज्ञानं स्वप्नः, स्वप्+नन्। "स्वप्नः सुप्तस्य विज्ञानम्" इति विश्वः। सोये हुए पुरुषके ज्ञानको 'स्वप्न" कहते हैं। स्वप्न संदर्शनानि, तेषु (स० त०) ।

"दर्शनं समये शास्त्रे दृष्टौ स्वप्नेऽक्षिण संविदि।" शब्दार्णवके इस प्रमाणसे दर्शनका अर्थ हुआ संविद् अर्थात् ज्ञान, इस प्रकार "स्वप्नसंदर्शनेषु" इस उक्तिमें पुनरुक्तिकी प्रतीति होती है, परन्तु 'चूतवृक्ष' के सदृश सामान्यविशेष भावसे ऐसे शब्दोंके सदृश प्रयोगमें पौनरुक्त्य नहीं होता है। जैसे कि चूत विशेष और वृक्ष सामान्य है, इस प्रकार चूत नामका वृक्ष ऐसा अर्थ होता है, उसी प्रकार "स्वप्नसंदर्शन" इस पदके प्रयोगमें भी स्वप्न विशेष ज्ञान और संदर्शन सामान्य ज्ञान बतलाता है इन दोनों पदोंको मिलानेसे स्वप्ननामक ज्ञान ऐसे अर्थकी प्रतीति होकर पुनरुक्तिका परिहार होता है।

दृश्+ल्युट्=दर्शनम्। समीचीनानि दर्शनानि (गतिसमासः)।

लब्धायाः=लभ्+क्त+टाप्+ङस्। ते=युष्मद् शब्दकी षष्ठीके एकवचनमें "तव" के स्थानमें "ते" आदेश हुआ है, इसका वाक्यके आदिमें प्रयोग नहीं होता है।

निर्दयाऽऽश्लेषहेतोः=आश्लेषणम् आश्लेषः; आङ्+श्लिष+घञ्। निर्गता

दया यस्मात् सः निर्दयः (बहु०) । स चाऽसौ आश्लेषः (क० धा०) । स एव हेतुः (रूपक०), तस्य ‘षष्ठी हेतुप्रयोगे’’ इति षष्ठी ।

आकाशप्रणिहितभुजम्=प्र+नि+धा (हि)+क्तः (कर्मणि)=प्रणिहितः । प्रणिहितौ भुजौ येन सः प्रणिहितभुजः (बहु०) । आकाशे प्रणिहितभुजः, तम् (स० त०) ।

पश्यन्तीनां=दृश्+लट् (शतृ)+ङीप् । स्थलीदेवतानां=स्थलीनां देवताः; तासाम् (ष० त०) । मुक्तास्थूलाः=मुक्ता इव स्थूलाः (उपमितक० धा०) । अश्रुलेशाः=अश्रूणां लेशाः (ष० त०) । तरुकिसलयेषु=तरूणां किसलयानि, तेषु (ष० त०) बहुशः=बहु+शस् । यह अव्यय है । न पतन्ति (इति) न=अवश्य ही पड़ते हैं ऐसे निश्चयके अर्थमें नञ्का दुबारा प्रयोग किया गया है । जैसे कि आलङ्कारिक सूत्रमें लिखा है—

“स्मृतिनिश्चयसिद्धाऽर्थे नञ्द्वयप्रयोगः सिद्धः’’ ।

वनदेवताओंका वृक्षपल्लवोंमें अश्रुपात होनेका कारण—

‘‘महात्मगुरुदेवानामश्रुपातः क्षितौ यदि ।
देशभ्रंशो महद्दुःख मरणं च भवेद्ध्रुवम् ।।’’

इस उक्तिके अनुसार है । अर्थात् महात्मा, गुरु और देवताओंका अश्रुपात पृथिवीपर होगा तो देशभ्रंश, भारी दुःख और मरण भी निश्चय होगा । इसलिए जमीनपर देवताके अश्रुपातका निषेध देखनेसे यक्षका मरणाऽभाव सूचित करनेके लिए वृक्षपल्लवोंपर अश्रुलेप गिरनेकी बात लिखी गई है । इस श्लोकमें विरहीके मनोविनोदका तीसरा स्वप्नदर्शन बतलाया गया है । इस श्लोकमें ‘‘मुक्तास्थूलाः’’ इस पदमें लुप्तोपमा अलङ्कार है ।। ४३ ।।

भित्त्वा सद्यः किसलयपुटान्देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः ।
आलिङ्ग्यन्ते गुणवति ! मया ते तुषाराद्रिवाताः
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति ।। ४४ ।।

अन्वयः—देवदारुद्रुमाणां किसलयपुटान् सद्यो भित्त्वा तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो ये तुषाराऽद्रिवाता दक्षिणेन प्रवृत्ताः, हे गुणवति ! पूर्वम् एभिः तव अङ्गं स्पृष्टं भवेत् यदि किल इति ते मया आलिङ्ग्यन्ते ।। ४ ।।

व्याख्या—देवदारुद्रुमाणां=देवदारुतरूणां, किसलयपुटान्=पल्लवपुटान्; सद्यः=तत्क्षणे, भित्त्वा=विकास्य, तत्क्षीरस्रुतिसुरभयः=देवदारुनिर्यासनिष्यन्द-

सुगन्धय: ,ये, तुषाराऽद्रिवाता:=हिमालयवायव: दक्षिणेन=दक्षिणमार्गेण, प्रवृत्ता:=चलिता:, हे गुणवति=हे सौशील्यादिगुणसम्पन्ने, पूर्वं=प्राक्, एभि:=तुषाराऽद्रिवातै:, तव=भवत्या:, अङ्गं=शरीरम्, अथवा करचरणाऽऽदिकोऽवयव:, स्पृष्टम्=आमृष्टं, भवेत्=स्यात्, यदि=चेत्, ते=तुषाराऽद्रिवाता:, किलेति संभावनायाम् । इति=एवं बुद्ध्या, मया=यक्षेण, आलिङ्ग्यन्ते=आश्लिष्यन्ते ॥ ४४ ॥

सरलाऽर्थः—हे गुणवति ! देवदारुकिसलयानां विकासनेन सौरभसंपन्ना ये तुषाराऽद्रिवायव:, पूर्वमेभिस्तवाऽङ्गं स्पृष्टं भवेदिति संभाव्य ते मया आलिङ्ग्यन्ते ।

अनुवाद:—देवदारुवृक्षोंके पल्लवों को तत्क्षण विकासित कर उनके बहनेवाले दूधसे सुगन्धित जो हिमालय पर्वतके वायु दक्षिण–मार्गसे बहते हैं, हे गुणवति ! पहले इन्होंने तुम्हारे अङ्गका स्पर्श किया होगा ऐसी सम्भावना कर मैं उन वायुओंको आलिङ्गन करता हूँ ॥ ४४ ॥

टिप्पणी:—देवदारुद्रुमाणां=देवदारवश्च ते द्रुमा देवदारुद्रुमा:, तेषाम् (क० धा०) । यहाँपर "देवदारु" पदके साथ "द्रुम" पदका प्रयोग होनेसे पुनरुक्ति दोष नहीं समझना चाहिए । "देवदारु" पद संज्ञावाचक हैं अत: सामान्य-विशेष भावसे उसका "द्रुम" पदके साथ प्रयोग हुआ है ।

किसलयपुटान्=किसलयानि पुटा इव (उपमितक० धा०) तान् । दोनेके समान किसलयोंको । रघुवंशमें भी पुट शब्दका इसी अर्थमें प्रयोग किया गया है "दुग्ध्वा पय: पर्णपुटे मदीयम्" (२–६५) ।

भित्वा=भिद् + क्त्वा । तत्क्षीरस्रुतिसुरभय:=तेषा क्षीरं (ष० त०), तस्य स्रुति: (ष० त०), तया सुरभय: (तृ० त०) । यह पद तुषाराऽद्रिवातका विशेषण है । देवदारुवृक्षोंके दूध (निर्यास=गोंद) के बहनेसे सुगन्धवाले ।

तुषाराऽद्रिवाता:=तुषारस्य अद्रि: (ष० त०), तस्य वाता: (ष० त०) । हिमालय पर्वतके वायु । वायुके तीन गुण हैं—मान्द्य, सौरभ और शीतलता । हिमालय पर्वतके वायुमें इन तीनों गुणोंकी चर्चा की गई है ।

दक्षिणेन="प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्" इस वार्तिकसे "समेन एति" इत्यादि प्रयोगके समान विशेष्यके अप्रयोगमें तृतीया विभक्ति हुई है । भाष्यकारने एसे स्थलमें भी करणत्वकी प्रतीति मानकर "कर्तृकरणयोस्तृतीया" इसीसे तृतीया विभक्ति हुई है ऐसा माना है ।

प्रवृत्ता:=प्र + वृत् + क्त: (कर्तरि) । गुणवति=गुण + मतुप् + ङीप्,

सम्बुद्धौ प्रथमा । स्पृष्टं=स्पृश+क्तः । भवेत्=भू+लिङ् (संभावनायाम्)—तिप् । किल="वार्तासंभाव्ययोः किल ।" इत्यमरः ।

मया=कर्ताके अनुक्त होनेपर तृतीया हुई है ।

आलिङ्गयन्ते=आङ्+लिगि+लट् (कर्मणि)—झ ।

यहाँपर मेघदूतकी "निरुक्त" नामकी टीकाके रचयिताने "यद्यपि वायु स्पृश्य है तथाऽपि वह अमूर्त द्रव्य है इसलिए उसका आलिङ्गन नहीं किया जा सकता है इस स्थितिमें "आलिङ्गयन्ते" ऐसा कहना यक्षके उन्मत्त होनेसे प्रलाप है इसलिए दोष नहीं है ऐसा कहा हैं । परन्तु मल्लिनाथजी ने वायुके स्पर्शको ही आलिङ्गन मानकर इस समाधानका खण्डन किया है ।

इस श्लोकमें यदि और किल ये दोनों पद संभावनाके द्योतक हैं उसपर "भवेत्" यह लिङ् भी सम्भावनामें है; अतः सम्भावनाका अतिशय प्रतिपादित होता है ।

यह श्लोक रामायणके निम्नलिखित श्लोकका उपजीवक है—

"वाहि वात ! यतः कान्ता, तां स्पृष्ट्वा मामपि स्पृशेः ।
बह्वेतत्कामयानस्य शक्यमेतेन जीवितम् ॥ (किष्किन्धा० १–५३)

विरहियोंके मनोरञ्जनमें चौथा साधन प्रियाके अङ्गसे स्पृष्ट वायुका स्पर्श इस श्लोकमें वर्णित हुआ है ॥ ४४ ॥

संक्षिप्येत क्षण इव कथं दीर्घयामा त्रियामा
सर्वावस्थास्वहरपि कथं मन्दमन्दातपं स्यात् ।
इत्थं चेतश्चटुलनयने ! दुर्लभप्रार्थनं मे
गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—दीर्घयामा त्रियामा क्षण इव कथं संक्षिप्येत ? अहरपि सर्वाऽवस्थासु कथं मन्दमन्दाऽऽतपं स्यात् ? हे चटुलनयने ! इत्थं दुर्लभप्रार्थनं मे चेतः गाढोष्माभिः त्वद्वियोगव्यथाभिः अशरणं कृतम् ॥ ४५ ॥

व्याख्या—दीर्घयामा=आयतप्रहरा, त्रियामा=रात्रिः, क्षण इव=अल्पकाल इव, कथं=केन प्रकारेण, संक्षिप्येत=लघूक्रियेत । अहरपि=दिनमपि, सर्वाऽवस्थासु=सकलदशासु, सर्वकालेष्विति भावः । कथं=केन प्रकारेण, मन्दमन्दाऽऽतपम्=अत्यल्पसन्तापं, स्यात्=भवेत्, न स्यादेवेति भावः । हे चटुलनयने=हे चञ्चलाऽक्षि, इत्थम्=अनेन प्रकारेण, दुर्लभप्रार्थनम्=अप्राप्यमनोरथं, मे=मम, चेतः=चित्तं. गाढोष्माभिः=अतितीव्राभिः, त्वद्वियोगव्यथाभिः=त्वद्विरहबाधाभिः, अशरणम्=अनाथं, कृतं=विहितम् ॥ ४५ ॥

सरलाऽर्थः—दीर्घत्वेन प्रतीयमाना रात्रिः कथं लघूक्रियेत ? दिनमपि सर्वकालेषु कथमत्यल्पसन्तापं भवेत् ? हे मृगनयने ! इत्थमसुलभमनोरथं मे चित्तं त्वद्विरहव्यथाभिरनाथं विहितम् ॥ ४५ ॥

अनुवादः—लम्बे पहरोंवाली रात अल्प समयका तरह कैसे छोटी की जाय ? दिन भी सब अवस्थाओंमें कैसे मन्दसन्तापवाला होगा ? हे चञ्चलनेत्रे ! इस प्रकार दुर्लभ अभिलाषवाला मेरा मन अतिशय तीव्र तुम्हारे विरहके दुःखोंसे अनाथ किया गया है ॥ ४५ ॥

टिप्पणी—दीर्घयामा=दीर्घा यामा यस्याः, सा (बहु०) । "द्वौ यामप्रहरौ समौ" इत्यमरः । यह पद त्रियामाका विशेषण है । विरहकी वेदनासे दीर्घप्रहरोंवाली-सी प्रतीत होनेवाली रात, यह इसका तात्पर्य है । तीन घण्टोंका एक प्रहर होता है ।

त्रियामा=त्रयो यामा यस्याः सा (बहु०) ।

"निशा निशीथिनी रात्रिस्त्रियामा क्षणदा क्षपा " इत्यमरः ।

एक अहोरात्र (दिनरात) में आठ प्रहर होते हैं, इस प्रकार दिनमें चार और रातमें चार प्रहर होना इष्ट था परन्तु रातके आदि और अन्तके अर्धप्रहरोंका दिनमें व्यवहार होनेसे रातको "त्रियामा" कहते हैं; अमरकोषके टीकाकार क्षीरस्वामीका ऐसा कहना है ।

संक्षिप्येत=सम् + क्षिप + लिङ् (विधिलिङ्, कर्मणि)–त । दिनकी अपेक्षा रातमें प्रियाका विरहदुःख असहनीय होता है, अतएव वह रात दीर्घ प्रहरोंवाली प्रतीत होती है ।

सर्वाऽवस्थासु=सर्वाश्च ता अवस्थाः, तासु (क० धा०) "सर्वाऽवस्थासु" कहनेसे ग्रीष्म आदि ऋतुओंके मध्याह्न आदि अवस्थाएं ली जाती हैं ।

मन्दमन्दाऽऽतपं=मन्दप्रकारः मन्दमन्दः "प्रकारे गुणवचनस्य" इति निरुक्तिः "कर्मधारयवदुत्तरेषु" इति कर्मधारयवद्भावात् सुपो लुक् । मन्दमन्द, आतपो यस्मिंस्तत् (बहु०) ।

चटुलनयने = चटुले नयने यस्याः सा, तत्सम्बुद्धौ, (बहु०) । इत्थम्= अनेन प्रकारेण. "इदमस्थमुः" इति थमुप्रत्ययः ।

इदम्+थमुः । यह अव्यय है ।

दुर्लभप्रार्थनं=दुःखेन लब्धुं शक्या दुर्लभा, दुर् + लभ् + खल् । दुर्लभा प्रार्थना यस्य तत् (बहु०) यह "चेतः" इस पदका विशेषण है, 'न रात छोटी हो

सकता है और न दिन ही मन्दसन्तापवाला हो सकता है इसलिए दुर्लभ अभिलाषवाला मेरा चित्त, यह तात्पर्य है ।

गाढोष्माभिः = गाढ ऊष्मा यासां ता गाढोष्माणः, ताभिः (बहु०) । "डाबुभाभ्यामन्तरस्याम्" इससे विकल्पसे डाप् प्रत्यय हुआ है । डाप् प्रत्यय न होनेपर "गाढोष्मभिः" ऐसा प्रयोग होता है यह पद "त्वद्वियोगव्यथाभिः" इसका विशेषण है । ऊष्मन् शब्द पुंलिङ्ग है, समस्त पद बहुव्रीहि समासमें स्त्रीलिङ्ग हुआ है ।

त्वद्वियोगव्यथाभिः=तव वियोगः त्वद्वियोगः (ष० त०) । तस्य व्यथाः ताभिः (ष० त०) अनुक्ते कर्तरि तृतीया ।

अशरणम् =अविद्यमानं शरणं यस्य तत् (नञ् बहु०) । यह पद "चेतः" इस पदका विधेय है ।

"शरणं गृहरक्षित्रोः" इत्यमरः ॥ ४५ ॥

नन्वात्मानं बहु विगणयन्नात्मनैवावलम्बे
तत्कल्याणि ! त्वमपि नितरा मा गमः कातरत्वम् ।
कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥ ४६ ॥

अन्वयः—ननु ! बहु विगणयन् आत्मानम् आत्मना एव अवलम्बे । तत् कल्याणि ! त्वमपि नितरां कातरत्वं मा गमः । कस्य अत्यन्तं सुखं वा एकान्ततो दुःखम् उपनतम् ? दशा चक्रनेमिक्रमेण नीचैः उपरि च गच्छति ॥ ४६ ॥

व्याख्या— ननु=हे प्रिये !, बहु=अधिकं, विगणयन्=विचिन्तयन्, शापान्ते सति एवमेवं करिष्यामीति विचारयन्निति भावः । आत्मानं=स्वम्, आत्मना एव= =स्वेन एव, अवलम्बे =धारयामि । यथाकथाञ्चित्प्राणान्धारयामीति भावः । तत् =तस्मात्कारणात्, हे कल्याणि=हे सुभगे ! त्वत्सौभाग्येनैव जीवामीति भावः । त्वम् अपि, नितराम्=अत्यन्तं, कातरत्वं=भीरुत्वं, मद्वियोगदुःखाऽनुभूतौकातरत्वमिति भावः । मा गमः=नो गच्छेः । एकत्राऽवस्थानेन तादृक्सुखिनोरावयोरीदृशे वियोगात्मके दुःखे कथं न विभेमीत्याशङ्कां परिहरति—कस्येति । इह=संसारे, कस्य=जनस्य, अत्यन्तं=नित्यं, सुखम् =आनन्दः, उपगतं=प्राप्तं, वा=अथवा, एकाऽन्तः=नियमेन, दुःखं=व्यथा, उपनतं=प्राप्तम् । किन्तु—दशा= अवस्था, चक्रनेमिक्रमेण=रथाऽङ्गधारापरिपाट्या, नीचैः=अधः, उपरि च=ऊर्ध्वं च, गच्छति=प्रवर्तते, चक्रधारावज्जन्तोः सुखदुःखे पर्यावर्तेते इति भावः ॥ ४६ ॥

सरलाऽर्थः—हे प्रिये ! शापान्ते सति एवं करिष्यामीति विचिन्तयन् यथाकथञ्चित्प्राणान्धारयामि तत्त्वमपि कातरत्वाऽतिशयं मा गाः। नैरन्तर्येण सुखं दुखं वा केनाऽनुभूतम् ? जनानामवस्था चक्रधारावदध उपरि च प्रवर्तते ।।४६।।

अनुवादः—हे प्रिये ! "शापके अन्तमें मैं ऐसा करूँगा" इत्यादि बहुत विचार करता हुआ आप ही आनेको सँभालता हूँ। इसलिए हे कल्याणि ! तुम भी ज्यादा कातर मत बनो। किसे लगातार सुख ही सुख वा दुःख ही दुःख प्राप्त हुआ है ? अवस्था पहिएकी धारके क्रमसे नीचे और ऊपर चलती रहती है ।। ४६ ।।

टिप्पणी—ननु=यह यहांपर आमन्त्रण (सम्बोधन) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वैसे तो इसको—

"प्रश्नाऽवधारणाऽनुज्ञाऽनुनयाऽऽमन्त्रणे ननु ।"

इस अमरकोशकी उक्तिके अनुसार प्रश्न और अवधारण (निश्चय) आदि अर्थ भी हैं, परन्तु वाक्यके आदिमें होनेसे यहांपर आमन्त्रणमें ही इसे लेना युक्ततर है।

विगणयन्=वि+गण+णिच्+लट् (शतृ)। आत्मना = यहाँ पर "प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्" इस वार्तिकसे तृतीया हुई है।

अवलम्बे = अव+लबि+लट्+इट्। मैं आप ही अपनेको अवलम्बन करता हूँ अर्थात् शापके अन्तमें मैं यह करूँगा· इत्यादि विचारोंसे किसी तरह अपने जीवनको धारण करता हूँ। अथवा अमरकोषके—

"आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च ।"

इस उक्ति के अनुसार "आत्मना" यहांपर आत्माका अर्थ है धृति याने धैर्य। तब इसका भावार्थ हुआ मैं धैर्यसे अपनेको संभालता हूँ।

"आत्मना नावलम्बे ?" ऐसा भी पाठान्तर उपलब्ध है, इससे काकुकी कल्पना करनी पड़ती है।

"भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते ।"

इस उक्ति के अनुसार जहांपर कण्ठध्वनि भिन्न होती है वहांपर काकु होती है, तो इसका अर्थ हुआ क्या मैं आपको अपनेसे अवलम्बन नहीं करता हूँ ? अर्थात् करता हूँ।

कल्याणि=कल्याणशब्दसे स्त्रीत्वविवक्षामें "बह्वादिभ्यश्च" इस सूत्रसे ङीप् प्रत्यय हुआ है। यहां सम्बुद्धि (सम्बोधनके एकवचन) में प्रयोग किया है।

कल्याणीका अर्थ है सौभाग्यवती । तुम्हारे सौभाग्यसे मैं जी रहा हूँ ऐसा तात्पर्य निकलता है ।

नितरां=नि+तरप्+आमु (अद्रव्यप्रकर्षे), यह अव्यय है । कातरत्वं कातराया भावः, कातरा+त्व । यहाँपर "त्वतलोर्गुणवचनस्य" इस सूत्रसे पुंवद्भाव होकर "कातरत्वम्" बना है । यह "मा गमः" इसका कर्म है ।

मा गमः=माङ् के योगमें गम् धातुसे लुङ् हुआ और अट् आगमका निषेध हुआ है । यह मध्यमपुरुषके एकवचनका रूप है ।

अत्यन्तम्=अन्तम् अतिक्रान्तम्, "अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीया" इस वार्तिकसे प्रादिसमास हुआ है, यहाँ अव्ययीभाव नहीं है ।

एकाऽन्ततः=एकान्त+तसिः=यह अव्यय है ।

उपनतम्=उप+नम्+क्तः । चक्रनेमिक्रमेण=चक्रस्य नेमिः (ष० त०) । "चक्रं रथाऽङ्गं, तस्याऽन्ते नेमिः स्त्री स्यात् प्रधिः पुमान् ॥" इत्यमरः ।

चक्रनेमेः क्रमः, तेन (ष० त०) । "क्रमः शक्तौ परिपाट्याम्" इति विश्वः । सुख-दुःख लगातार घूमा करते हैं यह भाव—

"सुखस्याऽनन्तरं दुःखं दुःखस्याऽनन्तरं सुखम् ।
चक्रवत्परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥"

इस प्राचीन सुभाषितमें इस तरह झलकाया है ।

इसी भावको लेकर महाकवि भासने—

"कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना ।
चक्रारपङ्क्तिरिव गच्छति भाग्यपङ्क्तिः ॥"

स्वप्न वासवदत्तामें इस प्रकार अपना कल्पनाकौशल दिखलाया है । कविकुलगुरु कालिदासने "कस्याऽत्यन्तम्" श्लोकमें कैसे मनोहर प्रकारसे इसी भाव का चित्रण किया है यह हृदयसे ही संवेद्य है ।

इस श्लोकमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ ४६ ॥

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
शेषान्मासान्गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा ।
पश्चादावां विरहगणितं तं तमात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥ ४७ ॥

अन्वयः—(हे प्रिये !) शार्ङ्गपाणौ भुजगशयनात् उत्थिते मे शापान्तः ।

शेषान् चतुरो मासान् लोचने मीलयित्वा गमय। पश्चात् आवां विरहगणितं तं तम् आत्माऽभिलाषं परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु निर्वेक्ष्यावः ॥ ४७ ॥

व्याख्या—शापमूलकस्य विरहदुःखस्याऽवसानं प्रतिपादयति शापान्त इति। (हे प्रिये !) शार्ङ्गपाणौ=विष्णौ, भुजगशयनात्=शेषतल्पात्, उत्थिते=कृतोत्थाने सति, मे=मम, कुबेराऽनुचरस्य, शापान्तः=शापाऽवसानं, भविष्यतीति शेषः। शेषान्=अवशिष्टान्, चतुरः=चतुःसंख्याकान्, मासान्=त्रिंशद्दिनानि, लोचने=नेत्रे, मीलयित्वा=निमील्य, गमय=यापय, धैर्येणाऽतिवाहयेति भावः। ततः किमित्यत आह—पश्चादिति। पश्चात्=अनन्तरं, मासचतुष्टययापनाऽनन्तरमिति भावः। आवां=त्वं चाऽहं च, विरहगणितं=वियोगसंकल्पितं, तं तम्=अनेकप्रकाराऽवस्थितमिति भावः। आत्माऽभिलाषं=स्वमनोरथं, परिणतशरच्चन्द्रिकासु=परिपक्वशरज्ज्योत्स्नासु, क्षपासु=रात्रिषु, निर्वेक्ष्यावः=भोक्ष्यावहे ॥४७॥

सरलाऽर्थः—हे प्रिये। शेषतल्पान्नारायण उत्थिते सति मे शापनिवृत्तिर्भविता। अतोऽवशिष्टं मासचतुष्टयं धैर्येण यापय। तदनन्तरमावां विरहसंकल्पितं बहुप्रकाराऽवस्थितं स्वस्वमनोरथं शरज्ज्योत्स्नाद्योतितासु निशासु भोक्ष्यावहे ॥

अनुवादः—हे प्रिये ! शेषशय्यासे भगवान् विष्णुके उठनेपर मेरे शापका अन्त होगा। इस कारणसे अवशिष्ट चार महीनोंको आँखें मूँदकर बिताओ। तदनन्तर हम दोनों विरहमें संकल्पित अनेक प्रकारोंसे अवस्थित अपने मनोरथको शरत् ऋतुकी परिणत चन्द्रिकासे युक्त रातोंमें उपभोग करेंगे ॥ ४७ ॥

टिप्पणी—शार्ङ्गपाणौ=शृङ्गस्य विकारः शार्ङ्गम्, शृङ्ग+अण्। शार्ङ्गं पाणौ यस्य सः शार्ङ्गपाणिस्तस्मिन्, (व्यधिकरबहु०) यहाँपर "सप्तमी विशेषणे बहुव्रीहौ" इस सूत्रसे सप्तम्यन्त विशेषण शार्ङ्गपदका पूर्वप्रयोग अपेक्षित था, परन्तु यहाँपर यह सूत्र केवल व्यधिकरण पदोंवाले बहुव्रीहिका ज्ञापकमात्र हुआ, अतः "प्रहरणाऽर्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ" इस वार्तिकसे प्रहरणाऽर्थक शार्ङ्गपदका पूर्वप्रयोग हुआ है।

भुजगशयनात्=भुजः (कुटिलः) सन् गच्छतीति भुजगः, "अन्यत्राऽपि दृश्यत इति वक्तव्यम्" इति डः। भुज+गम्+डः। शी+ल्युट् (अधिकरणे)=शयनम्। भुजग एव शयनं, तस्मात् (रूपक०)। उत्थिते=उद्+स्था+क्तः। भावे सप्तमी।

आषाढ शुक्ल एकादशी (हरिशयनी) में भगवान् विष्णु क्षीरसमुद्रमें शेषशयनपर सोते और कार्त्तिकशुक्ल एकादशी (हरिबोधिनी) में जागते हैं, इस

प्रकार चार महीनों तक भगवान् सोते रहते हैं; उस समय भगवान्‌की पूजा करनी चाहिए, यह बात कूर्मपुराणमें लिखी है :—

"क्षीराब्धौ शेषपर्यङ्के आषाढ्यां संविशेद्धरिः ।
निद्रां त्यजति कार्त्तिक्यां तयोः संपूजयेद्धरिम् ।।"

इसी बातको भविष्यपुराणमें इस प्रकारसे दिखलाया है :—

"सुप्ते त्वयि जगन्नाथे जगत्सुप्तं चराऽचरम् ।
विबुद्धे त्वयि बुध्येत जगत् सर्वं चराऽचरम्" ।।

शापाऽन्तः=शप+घञ्=शापः । शापस्य अन्तः (ष० त०)। चतुरो मासान् =आषाढके प्रथम दिनसे लेकर हरिबोधिनी एकादशीपर्यन्त यह अभिप्राय है। परन्तु यहाँपर आषाढ शुक्ल प्रतिपदासे कार्तिकशुक्ल एकादशी तक चार मास ही नहीं अपितु दश दिन अधिक होते हैं; तब "चतुरो मासान्" यह प्रयोग कैसे ? ऐसी शङ्का उठ सकती है तो इसका उत्तर यह है कि जैसे "छत्रिणो यान्ति" इस प्रयोगमें बहुतसे छातेवालोंमें अल्पसंख्यक छत्ररहितोंका भी अजहल्लक्षणासे समावेश होता है उसी तरह चार मासोंमें अतिरिक्त दश दिनोंका भी समावेश हो गया है ।

वर्षा ऋतुमें श्रावण और भाद्रमास होते हैं इस स्थितिमें आषाढ आदि चार मासोंको कैसे वर्षा ऋतु बतलाया ? ऐसी शङ्का उठाकर कुछ लोगोंने साल भरमें तीन ऋतुओंका सिद्धान्त स्वीकार कर उसका परिहार किया है; महोपाध्याय मल्लिनाथजीने इस शङ्काको ही असंगत कहा है, क्योंकि वियोगभोगके आठ मास वीत गये हैं; अव अवशिष्ट चार मास हैं यह कहाकवि कहते हैं न कि वर्षाके चार मास । दक्षिणावर्तनाथजीने आषाढ आदि चार मासोके अनन्तर कैसे शरत् ऋतुका समय बतलाया है ? ऐसी शङ्का उठाई है इसका परिहार मल्लिनाथजी करते हैं कार्तिक मासकी समाप्तिपर्यन्त शरत् ऋतु रहनेसे "परिणतशरच्चन्द्रिकासु" कहा है न कि कार्तिक मासमें ही महाकविने शरत् ऋतुका प्रादुर्भाव वतलाया है इसलिए कुछ विरोध नहीं ।

मीलयित्वा=मील+णिच्+क्त्वा । लोचने मीलयित्वा गमय = आँखें मूँदकर बिताओ, लोकोक्तिके अनुसार यह कथन है ।

गमय=गम्+णिच्+लोट् (विधौ)+सिप् ।

आवां=त्वं च अहं च, यहाँपर "त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्" इस सूत्रसे एकशेष और "त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते" इस वार्तिकसे अस्मद्-शब्दका शेष रहा है ।

विरहगणितं=विरहे गणितः, तम् (स० त०) । यह "आत्माऽभिलाषम्" इस पदका विशेषण है । "विरहगुणितम्" ऐसा भी पाठान्तर कहीं मिलता है, इसमें विरहेण गुणितम् (तृ० त०) । विरहसे बड़ा हुआ यह अर्थ है ।

तं तम्=यहाँपर वीप्सामें द्विरुक्ति हुई है ।

आत्माभिलाषम्=अभि+लष+घञ्=अभिलाषः, आत्मनोः अभिलाषः, तम् (ष० त०) ।

परिणतशरच्चन्द्रिकासु=परि+णम्+क्त+टाप्=परिणता । शरदि चन्द्रिकाः (स० त०) । परिणताः शरच्चन्द्रिका यासां ताः, तासु (बहु०) ।

निर्वेक्ष्यावः=निर्+विश+लृट्+वस् ।

"निर्वेश उपभोगः स्यात्" इति "निर्वेशो भृतिभोगयो" इति चाऽमरः ।

चाँदनीवाली रातके कोमोद्दीपक होनेसे यक्षकी परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु निर्वेक्ष्यावः" ऐसी उक्ति है । इस श्लोकमें उदात्त अलङ्कार है ॥ ४७ ॥

भूयश्चाहं त्वमपि शयने कण्ठलग्ना पुरा मे
निद्रां गत्वा किमपि रुदती सस्वनं विप्रबुद्धा ।
सान्तर्हासं कथितमसकृत्पृच्छतश्च त्वया मे
दृष्टः स्वप्ने कितव ! रमयन्कामपि त्वं मयेति ॥ ४८ ॥

अन्वयः—भूयश्च आह—(हे प्रिये !) पुरा शयने मे कण्ठलग्ना अपि त्वं निद्रां गत्वा किमपि सस्वनं रुदती विप्रबुद्धा । असकृत् पृच्छतः मे "हे कितव ! त्वं काम् अपि रमयन् मया स्वप्ने दृष्ट" इति त्वया साऽन्तर्हासं कथितं च ॥४८॥

व्याख्या—सम्प्रति मेघवञ्चकत्वं निरसितुं गूढमभिज्ञानं प्रतिपादयति—भूय इति । (हे अबले !) भूयश्च=पुनरपि, आह=ब्रूते, त्वत्प्रियो मन्मुखेनेति शेषः । किं तादित्याह—त्वमपीति । (हे प्रिये !) पुरा=पूर्वं, शयने=तल्पे, मे=मम, कण्ठलग्ना अपि=गलसुश्लिष्टा अपि, त्वं=मत्प्रिया, निद्रां=स्वापं, गत्वा=प्राप्य, अनुभूयेति भावः । किमपि=केनाऽपि कारणेन, सस्वनं=सशब्दम्, उच्चैरित्यर्थः । रुदती=अश्रूणि विमुञ्चन्ती, विप्रबुद्धा=जागरिता, आसीदिति शेषः । ततश्च—असकृत्=बहुशः, पृच्छतः=प्रश्नं कुर्वतः, रोदनकारणमिति शेषः । मे=मम, हे कितव=हे धूर्त !, त्वं, कामपि=अज्ञातनामधेयां स्त्रियं, रमयन्=क्रीडयन् सन्, मया, स्वप्ने=संवेशे, दृष्टः—अवलोकितः, इति=एवं, त्वया=भवत्या, सान्तर्हासं=समन्दहासं यथा तथा, कथितं च=उक्तं च ॥ ४८ ॥

सरलाऽर्थः—हे अबले ! त्वत्प्रियः पुनरप्याह—हे प्रिये ! पुरा त्वं पर्यङ्के

मया सह शयाना निद्रामनुभूय सशब्दं रुदती जागरिता ! ततो बहुशो मया प्रश्ने कृते "रे धूर्त ! त्वं कयाऽपि ललनया विलसन्मया स्वप्नेऽवलोकित" इति त्वया समन्दहासमभिहितं च ॥ ४८ ॥

अनुवादः—हे अबले ! तुम्हारे पति फिर भी कहते हैं—हे प्रिये ! पहले बिछौने पर मेरे गलेसे लगकर सोई हुई तुम किसी कारणसे ऊँचे स्वरसे रोती हुई जाग उठी । बारंबार मेरे पूछनेपर तुमने मन्द हास्य कर "हे धूर्त ! मैंने स्वप्नमें किसी स्त्रीसे रमण करते हुए तुमको देखा ।" ऐसा कहा था ॥ ४८ ॥

टिप्पणी—भूयः = यह अव्यय है ।

आह = ब्रूञ् + लट् + तिप् । पुरा = यह अव्यय है ।

"स्यात्प्रबन्धे चिराऽतीते निकटागामिके पुरा ।" इत्यमरः ।

शयने = शीङ् + ल्युट् । कण्ठलग्ना = कण्ठे लग्ना (स० त०) । "त्वमपि" इसके स्थानमें कहींपर "त्वमसि" और कहींपर "त्वमयि" ऐसा भी पाठान्तर उपलब्ध होता है । "त्वमसि" इस पाठमें "असि" पदका सम्बन्ध "कण्ठलग्ना" इस पदके साथ है । "त्वमयि" इस पाठमें "अयि" सम्बोधनाऽर्थक है जो कि यक्षकी पत्नीके लिए प्रयुक्त हुआ है ।

किमपि = किम् और अपि ये दो अव्यय पद संयुक्त होकर यहाँ प्रयुक्त हुए हैं । शारदारञ्जन रायजीने रुद् धातुको सकर्मक मानकर इसे उसका कर्म माना है । परन्तु यह मत गलत है, क्योंकि रुद् धातु अकर्मक है । अत एव कुमारसम्भवके चतुर्थ सर्गके पन्द्रहवें श्लोकमें "गुरुशोकामनुरोदितीव माम्" इस वाक्यमें मल्लिनाथजीने "अनुरोदिति" यहाँपर रुद् धातुके अकर्मक होनेपर भी "अनु" उपसर्गके योगमें यह सकर्मक हुआ है ऐसा लिखा है ।

सस्वनं = स्वनैः (शब्दैः) सहितं यथा तथा (तुल्ययोगबहु०) । "सस्वरम्" ऐसा भी पाठान्तर है ।

रुदती = रुद् + लट् + शतृ + ङीप् । विप्रबुद्धा = वि + प्र + बुध् + क्त (कर्तरि) + टाप् । असकृत् = न सकृत् (नञ्तत्पु०) ।

पृच्छतः = प्रच्छ + लट् + शतृ । यह "मे" इस पदका विशेषण है । "षष्ठी चाऽनादरे" इस सूत्रसे अनादरमें भावे षष्ठी हुई है । "पृच्छते" ऐसा भी पाठान्तर मिलता है, उसमें "क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्", इस वार्त्तिकसे सम्प्रदानसंज्ञा होकर चतुर्थी हुई है ।

रमयन् = रम् + णिच् + लट् + शतृ । स्वप्ने = स्वप् + नन् । दृष्टः = दृश् +

क्तः । साऽन्तर्हासम्=अन्तः स्थितो हासः अन्तर्हासः (मध्यमपदलोपी समासः)। अन्तर्हासेन सहितं यथा तथा (तुल्ययोग बहु०), यह क्रियाविशेषण है ।

कथितं=कथ+णिच्+क्तः ।

इस श्लोक में सन्देशकी विश्वसनीयताके लिए पति और पत्नीके बीच हुई अन्य तृतीय व्यक्तिसे अविदित प्राचीन घटनाको अभिज्ञानके रूपमें दिखलाया है ॥ ४८ ॥

एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा
मा कौलीनादसितनयने ! मय्यविश्वासिनी भूः ।
स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ॥ ४९ ॥

अन्वयः—हे असितनयने ! एतस्मात् अभिज्ञानदानात् मां कुशलिनं विदित्वा कौलीनात् मयि अविश्वासिनी मा भूः । स्नेहान् विरहे किमपि ध्वंसिनः आहुः । तु ते अभोगात् इष्टे वस्तुनि उपचितरसाः (सन्तः) प्रेमराशीभवन्ति ॥ ४९ ॥

व्याख्या—हे असितनयने=हे कृष्णलोचने !, एतस्मात्=पूर्वोक्तात्, अभिज्ञानदानात्=लक्षणवितरणात्, पूर्वश्लोकप्रतिपादितादिति शेषः । मां=प्रियं, कुशलिनं=क्षेमवन्तं, विदित्वा=ज्ञात्वा, कौलीनात्=लोकप्रवादाद्धेतोः, "स्नेहः प्रवासाऽऽश्रयात्" इत्यादिरूपादिति भावः । मयि=प्रणयिनि विषये, अविश्वासिनी=विस्रम्भरहिता, मा भूः=न भव । स्नेहान्=प्रणयान्, विरहे=वियोगे सति, किमपि=केनाऽपि कारणेन, ध्वंसिनः=विनश्वरान्, आहुः=कथयन्ति । नेयं वस्तुस्थितिरिति शेषः, तु=अपितु, ते=स्नेहाः, अभोगात्=भोगाऽभावात्, विरह इति शेषः । इष्टे=अभीष्टे, वस्तुनि=पदार्थे, विषये, उपचितरसाः=प्रवृद्धाऽभिलाषाः (सन्तः), प्रेमराशीभवन्ति==प्रणयराशीभवन्ति, वियोगाऽसहिष्णुत्वमापद्यन्त इति भावः ॥ ४९ ॥

सरलाऽर्थः—हे सुन्दरि ! पूर्वोक्तादभिज्ञानात् मां क्षेमवन्तं ज्ञात्वा लोकाऽपवादान्मयि परस्त्रीसम्पर्कशङ्कया विस्रम्भरहिता मा भूः । स्नेहा विरहे न विनश्वराः, प्रत्युत ते भोगाऽभावात् सञ्चिताः सन्तः प्रेमराशिभावमापद्यन्ते ॥ ४९ ॥

अनुवादः—हे कृष्णनयने ! पूर्वोक्त अभिज्ञान देनेसे मुझे कुशलयुक्त जानकर लोकाऽपवादके कारण मेरे विषयमें अविश्वास मत करो । लोग स्नेहोंको वियोग होनेपर किसी कारणसे नष्ट होनेवाले कहते हैं, परन्तु वे उपभोग न होनेसे अभीष्ट पदार्थमें अभिलाष बढ़नेके कारण प्रेमके राशिरूप हो जाते हैं ॥ ४९ ॥

टिप्पणी—असितनयने=न सिते असिते (नञ्०) । असिते नयने यस्याः

सा असितनयना, तत्सम्बुद्धौ (बहु०) । आँखोंकी ताराएँ (पुतलियाँ) काली होनेसे यक्षने अपनी प्रियाको “असितनयने” कहकर सम्बोधन किया है ।

अभिज्ञानदानात्=अभिज्ञायते अनेनेति अभिज्ञानं, “करणाऽधिकरणयोश्चेति” करणे ल्युट् । अभि+ज्ञा+ल्युट् । अभिज्ञानस्य दानं, तस्मात् (ष० त०) । हेतौ पञ्चमी । अथ वा अभिज्ञानदानं प्राप्येत्यर्थे ,‘ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकणे चे’’ति पञ्चमी । अभिज्ञान कहते हैं चिह्न अथवा लक्षणको, पूर्वोक्त चिह्न अथवा लक्षण देनेसे वा चिह्न वा लक्षणको पाकर यह इसका अर्थ हुआ । यह मेघ यक्षका ही दूत है, इसके वचन यक्षके ही सन्देशवचन हैं इसमें लक्षण वा अभिज्ञान यक्षपत्नीका स्वप्नमें अपने पतिका किसी स्त्रीके साथ समागमकी बात, जिसे कि यक्षके कहे विना मेघ जान नहीं सकता उसे पूर्व श्लोकमें ही कह चुके हैं ।

कुशलिनं=कुशलम् अस्याऽस्तीति कुशली, तम्, कुशल+इनिः । विदित्वा=विद्+क्त्वा । कौलीनात्=कुले भवः कुलीनः. “कुलात्खः” इति खप्रत्ययः । कुल+खः (ईनः) ।

कुलीनस्य भावः कर्म वा कौलीनं, तस्मात् । “हायनाऽन्तयुवादिभ्योऽण्” इत्यण् । कुलीन+अण् ।

“स्यात्कौलीनं लोकवादे युद्धे पश्वहिपक्षिणाम् ।” इत्यमरः ।

लोकवाद अर्थात् लोकाऽपवादको “कौलीन” कहते हैं । यहाँपर मल्लिनाथ जीने कुले—जनसमूहे, भवात् कौलीनात्—लोकप्रवादात् लिखा है । लोकोक्ति जनसमूहमें ही होती है इसलिए व्युत्पत्ति ठीक ही है, पर उन्होंने प्रकृति और प्रत्ययका प्रदर्शन नहीं किया यही न्यूनता हुई, त्रुटि नहीं । वे व्युत्पत्तिके साथ “खप्रत्ययः” भी लिखते तो त्रुटि हो जाती, क्योंकि खप्रत्ययमें आदिवृद्धि नहीं होती है । कौलीन का अर्थ है—लोकवाद वा लोकोक्ति, लोकका कहना है; वह लोकवाद सामान्य लोकोक्ति वा लोकाऽपवाद (बदनामी) दो प्रकारका हैं । उनमें मल्लिनाथजीने यहाँपर सामान्य लोकोक्ति ली है, उनका कहना है—“इतने समयतक यक्ष जीते रहते तो तुम्हारे पास आ जाते” इस प्रकारकी लोकोक्तिसे मेरे विषयमें अविश्वासिनी याने जीवनके विश्वाससे रहित अर्थात् मरणकी शङ्का करने वाली मत बनो । यह अर्थ भी हो सकता है, परन्तु पीछेके दो वाक्योंका अवलोकन करनेसे यहाँपर कौलीनका अर्थ लोकाऽपवाद ज्ञात होता है यही अर्थ युक्ततर है । अर्थात् “तुम्हारे पति किसी दूसरी स्त्रीमें आसक्त हो गये, नहीं तो अबतक तुम्हारे पास आ गये होते” इस प्रकारके लोकपवादसे मुझपर अविश्वासिनी मत

बनो यही अर्थ यहांपर करना युक्तिसंगत है। इस प्रकार "अविश्वासिनी" पदका अर्थ "मेरे प्रिय किसी दूसरी स्त्रीमें आसक्त हुए हैं "ऐसी सम्भावना कर विश्वास न करनेवाली ऐसा होता है।

मयि=विषयमें सप्तमी। अविश्वासिनी=वि+श्वस्+घञ्=विश्वासः। न विश्वासः अविश्वासः (नञ्०)। अविश्वासः अस्ति अस्याः सा, अविश्वास+इनि+ङीप्। अविश्वासिनी पदका सामान्य अर्थ है विश्वास न करनेवाली।

मा भूः=निषेधाऽर्थक माङ्-अव्ययपूर्वक भू धातुसे लुङ् हुआ है, और अट् आगम नहीं हुआ।

किमपि=इसका अर्थ है किसी कारणसे। मल्लिनाथजीने किमपि=किञ्चिन्निमित्तं, न विद्यत इति शेषः। अर्थात् "किमपि" इसका "कुछ कारण" ऐसा अर्थ लिखकर "नहीं है" ऐसे दूसरे अर्थका वे व्यवहार करते हैं, इसमें क्लिष्ट कल्पना है; इसलिए स्वाभाविकता नहीं है।

विरहे=भावे वा कालाऽधिकरणे सप्तमी।

ध्वंसिनः=ध्वंसन्तीति तच्छीलाः, ध्वंस+णिनिः (ताच्छील्ये)। इसका अर्थ है नाशशील, यह "स्नेहाद्" का विधेय है।

आहुः=ब्रूञ् (आह)+लट्+झि।

ते=तद् शब्द पूर्वपरामर्शी अर्थात् पूर्वस्थ पदका परामर्श करनेवाला होता है, इसलिए इससे स्नेहको लेना चाहिए।

अभोगात्—भुज+घञ्=भोगः,। न भोगः अभोगः, तस्मात् (नञ्०); नञ्के दो भेद होते हैं प्रसज्यप्रतिषेध और पर्युदास। जहांपर विधिकी प्रधानता न होकर निषेधकी प्रधानता होती है तथा क्रियाके साथ नञ्का सम्बन्ध होता है उसे "प्रसज्यप्रतिषेध" कहते हैं। इसके विपरीत जहांपर विधिकी प्रधानता होकर निषेधकी प्रधानता नहीं होती है तथा उत्तरपदके साथ नञ्का सम्बन्ध होता है उसे "पर्युदास" कहते हैं।

प्रकृतमें निषेध अर्थकी प्रधानता होनेसे प्रसज्यप्रतिषेध है अतः क्रियापदके साथ नञ्का सम्बन्ध अभीष्ट होनेपर भी यहांपर उत्तरपद "भोग" के साथ नञ्का सम्बन्ध होनेसे "विधेयाऽविमर्श" वा "अविमृष्टविधेयांश" नामक दोषकी आपत्ति हो सकती है; परन्तु आलङ्कारिक वामनाचार्यने काव्याऽलङ्कार सूत्र "प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि समासोऽस्ति" ऐसा लिखकर अपवादके तौरपर कहीं-कहीं प्रसज्यप्रतिषेधमें भी समासका समर्थन किया है और इसका उदाहरण पाणिनिके सूत्र

“आदेच उपदेशेऽशिति” इसमें “अशिति” पदका निर्देश किया है । “अशिति” यहाँपर नञ्का शितके साथ समास होनेपर भी शित्के परे न रहते इस प्रकार प्रसज्यप्रतिषेधमें भी नञ् समास हुआ है, इसी तरह यहाँपर भी हो गया है ।

इष्टे=इष्+क्तः । यह “वस्तुनि” इस पदका विशेषण है ।

उपचितरसाः—उप+चि+क्तः=उपचितः । उपचितः रसः येषु ते (बहु०) यह पद स्नेहका विधेयविशेषण है ।

प्रेमराशीभवन्ति=प्रेम्णां राशयः (ष० त०) । अप्रेमराशयः प्रेमराशयः यथा संपद्यन्ते तथा भवन्ति, प्रेमराशीभवन्ति, प्रेमराशि+च्वि+भू+लट्+झि ।

विरहमें भोग न होनेपर अभीष्ट वस्तुमें तृष्णाकी वृद्धिसे स्नेह प्रेमकी राशियोंमें परिणत हो जाते हैं । अवस्थाके भेदसे स्नेह और प्रेमका भेद हो जाता है, जैसे कि कहा गया है :—

“आलोकनाऽभिलाषौ रागस्नेहौ ततः प्रेमा ।
रतिश्शृङ्गारो योगे, वियोगतो विप्रलम्भश्च ।।”

अर्थात् संयोगकी सात अवस्थाएँ होती हैं, दर्शन, अभिलाष, राग, स्नेह, प्रेम, रति और शृङ्गार । वियोगमें विप्रलम्भ शृङ्गार होता है । संयोगकी सात अवस्थाओंको रसरत्नाकरमें इस प्रकारसे स्पष्ट किया है :—

“प्रेक्षा दिदृक्षा रम्येषु, तच्चिन्ता त्वभिलाषकः ।
रागस्तत्सङ्गबुद्धिः स्यात्स्नेहस्तत्प्रवणक्रिया ।।
तद्वियोगाऽसहं प्रेम, रतिस्तत्सहवर्तनम् ।
शृङ्गारस्तत्समं क्रीडा संयोगः सप्तधा क्रमात् ।।”

अर्थात् सुन्दर पदार्थको देखनेकी इच्छाको “प्रेक्षा” कहते हैं । उसी प्रकारसे सुन्दर पदार्थको पानेके लिए जो चिन्ता होती है वह अभिलाष है । सुन्दर पदार्थके साथ संसर्गकी बुद्धि “राग” है, उसके लिए कार्य करनेको “स्नेह” कहते हैं । उस पदार्थके साथ होनेवाले वियोग न सहनेको “प्रेम” कहते हैं । अभीष्ट पदार्थके साथ रहनेको “रति” और उसके साथ क्रीडाको “शृङ्गार” कहते हैं ।

प्रेमराशीभवन्ति=प्रेम्णां राशयः (ष० त०) । अप्रेमराशयः प्रेमराशयो यथा भवन्ति तथा सम्पद्यन्ते प्रेम०, प्रेमराशि+च्वि+भू+लट्+झि ।। ४९ ।।

आश्वास्यैवं प्रथमविरहोदग्रशोकां सखीं ते
शैलादाशु त्रिनयनवृषोत्खातकूटान्निवृत्तः ।
साभिज्ञानप्रहितकुशलैस्तद्वचोभिर्ममापि
प्रातःकुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः ।। ५० ।।

अन्वयः—प्रथमविरहोदग्रशोकां ते सखीम् एवम् आश्वास्य त्रिनयनवृषोत्खातकूटात् शैलात् आशु निवृत्तः (सन्) साऽभिज्ञानप्रहितकुशलैः तद्वचोभिः प्रातः–कुन्दप्रसवशिथिलं मम अपि जीवितं धारयेथाः ।। ५० ।।

व्याख्या—इत्थमात्मकुशलसन्देशाऽनन्तरं प्रियाकुशलसन्देशानयनं सम्प्रति याचते—आश्वास्यैवमिति । (हे मेघ !) प्रथमविरहोदग्रशोकां=पूर्ववियोगतीव्रदुःखां, ते=तव, सखीं=भ्रातृजायां, मत्पत्नीमिति भावः । एवं=पूर्वोक्तप्रकारेण, आश्वास्य=आश्वस्तां कृत्वा, त्रिनयनवृषोत्खातकूटात्=शिववृषभावदारितशिखरात्, शैलात्=पर्वतात्, कैलासादित्यर्थः । आशु=शीघ्रं, निवृत्तः=प्रत्यावृत्तः सन्, साऽभिज्ञानप्रहितकुशलैः=सलक्षणप्रेषितक्षेमैः, तद्वचोभिः=त्वत्सखीवचनैः, प्रातःकुन्दप्रसवशिथिलं=प्राभातिकमाध्यपुष्पदुर्बलं, मम अपि, जीवितं=जीवनं, धारयेथाः=स्थापय, प्रियासन्देशवचनैर्ममाऽपि जीवनं रक्षेति भावः ।। ५० ।।

सरलार्थः—हे मेघ ! प्रथमवियोगेन तीव्रदुःखां मत्प्रियां पूर्वोक्तवचनैराश्वास्य कैलासाच्छीघ्रं प्रत्यायातस्त्वं प्राभातिककुन्दपुष्पमिव दुर्बलं मज्जीवनमपि प्रियासन्देशवचनैर्दृढीकुरु ।। ५० ।।

अनुवादः—हे मेघ ! प्राथमिक वियोगके कारण तीव्र दुःखवाली अपनी सखी (मेरी प्रिया) को इस प्रकारसे आश्वासन देकर शिवजीके वृषभ (नन्दी) से खोदे गये शिखरोंवाले कैलासपर्वतसे शीघ्र लौटकर तुम लक्षणोंके साथ कुशलवार्तासे युक्त प्रियाके वचनोंसे प्रातःकालके कुन्दपुष्पके समान शिथिल मेरे जीवन को भी दृढ़ कराओ ।। ५० ।।

टिप्पणी—प्रथमविरहोदग्रशोकां=प्रथमश्चाऽसौ विरहः (क० धा०) । उद्गतम् अग्र यस्य स उदग्रः (बहु०) । उदग्रः शोको यस्याः सा उदग्रशोका (बहु०) प्रथमविरहेन उदग्रशोका, ताम् (तृ० त०) । अनुभूत न होनेके कारण पहला वियोग अत्यन्त दुःख देनेवाला होता है यह बात अनुभवगम्य है ।

आश्वास्य=आङ्+श्वस्+णिच्+क्त्वा (ल्यप्) ।

त्रिनयनवृषोत्खातकूटात्—त्रीणि नयनानि यस्य स त्रिनयनः (बहु०) "त्रिनयन" पदमें "क्षुभ्नादिषु च" इस सूत्रसे णत्वका निषेध हुआ है । त्रिनयनस्य वृषः (ष० त०) । उत्खाताः कूटा यस्य उत्खातकूटः (बहु०) । त्रिनयनवृषेण उत्खातकूटः, तस्मात् (तृ० त०) ।

शैलात्=अपादान पञ्चमी । आशु=अव्यय ।

निवृत्तः = नि + वृत् + क्तः (कर्तरि) ।

साऽभिज्ञानप्रहितकुशलैः—अभिज्ञायते अनेनेति अभिज्ञानम्, अभि + ज्ञा + ल्युट् । अभिज्ञानेन सहितं साऽभिज्ञानम् (तुल्ययोगबहु०) प्रहितं कुशलं येषु तानि प्रहितकुशलानि (बहु०) । साऽभिज्ञानं (यथा तथा) प्रहितकुशलानि तैः (सुप्सुपा०) । कोई बनावटी वचनोंसे भी धोखा दे सकता है। इसीलिए "साभिज्ञान" पद देते हैं । ये प्रियाके ही वचन हैं ऐसा प्रमाणित करनेके लिए यह पद चरितार्थ है ।

तद्वचोभिः = तस्या वचांसि तद्वचांसि, तैः ।

प्रातःकुन्दप्रसवशिथिलं = कुन्दस्य प्रसवः (ष० त०) । "माध्यं कुन्दम्" इत्यमरः । प्रातर्भवः कुन्दप्रसवः (मध्यमपदलोपी०) । प्रातःकुन्दप्रसव इव शिथिलं, तद् (उपमानक० धा०) प्रातःकालमें कुन्दका पुष्प शिथिल होता है इस लिए कविने उसको प्रियाविरहसे दुर्बल अपने जीवनका उपमान बनाया है ।

धारयेथाः—धृ + णिच् + लिङ् + थास् । यहाँपर फल कर्तृगामी हुआ है इसलिए "णिचश्च" इस सूत्रसे आत्मनेपद हो गया है । "आत्मनश्चोपकर्तुम्" उत्तरमेघके इस वचनके अनुसार यहाँपर फल कर्तृगामी माना गया है । यह प्रार्थनामें लिङ् का प्रयोग हुआ है ।

इस श्लोकमें उपमा अलङ्कार है ॥ ५० ॥

कच्चित्सौम्य ! व्यवसितमिदं बन्धुकृत्यं त्वया मे
प्रत्यादेशान्न खलु भवतो धीरतां कल्पयामि ।
निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ॥ ५१ ॥

अन्वयः—हे सौम्य ! इदं मे बन्धुकृत्यं त्वया व्यवसितं कच्चित् ! प्रत्यादेशात् भवतो धीरतां न कल्पयामि खलु । याचितः (सन्) निःशब्दः अपि चातकेभ्यो जलं प्रदिशसि । हि सतां प्रणयिषु ईप्सिताऽर्थक्रिया एव प्रत्युक्तम् ॥ ५१ ॥

व्याख्या—अधुना मेघस्य प्रार्थनाऽङ्गीकारं प्रश्नपूर्वकं कल्पयति—कच्चिदिति । हे सौम्य = हे सज्जन !, इदम् = एतत्, मे = मम, बन्धुकृत्यं = बान्धवकार्यं, सन्देशनयनरूपमिति भावः । त्वया = भवता, व्यवसितं कच्चित् = करिष्यामिति निश्चितं किम् । तव तूष्णीकत्वेन प्रात्यादेशं न समर्थय इति प्रतिपादयति प्रत्यादेशादिति । प्रत्यादेशात् = निराकृतेः "नाऽहं त्वत्प्रार्थनां स्वीकरि-

ष्यामी"ति निराकरणादिति भावः । जायमानामिति शेषः । भवतः = तव, धीरता = गम्भीरतां, न कल्पयामि = न समर्थये, खलु = निश्चयेन । कुत इत्याह = निःशब्दोऽपीति । याचितः = प्रार्थितः सन्, निःशब्दः अपि = निर्गर्जितः अपि, अप्रतिजानानः अपि, त्वत्प्रार्थनां करिष्यामीति प्रतिज्ञामकुर्वन्नपीति: भावः । चातकेभ्यः=सारङ्गेभ्यः, जलं=पानीयं प्रदिशसि=ददासि, यस्त्वं प्रार्थितः सन् स्वीकृतिरूपं गर्जितमकृत्वाऽपि चातकेभ्यो जलं ददासि स त्वं मम प्रार्थनां निराकुर्या इति न समर्थयामीति भावः । उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति– प्रयुक्तमिति । हि=यस्मात् कारणात्, सतां=सज्जनानां, प्रणयिषु=याचकेषु विषये, ईप्सिताऽर्थक्रिया एव=अपेक्षितप्रयोजनसम्पादनम् एव, प्रयुक्तं=प्रतिवचनं, क्रिया केवलमुत्तरमित्यर्थः ।। ५१ ।।

सरलाऽर्थः—हे सज्जन । इदं मे बन्धुकृत्यं त्वया व्यवसितं किम् ? यस्त्वं प्रार्थितः सन् अङ्गीकृतिरूपं गर्जनमकृत्वाऽपि चातकेभ्यो जलं वितरसि स त्वं मत्प्रार्थनां निराकरिष्यसीति न समर्थये । यतः सज्जनानां याचकेषु अभीष्टप्रयोजनसम्पादनमेव प्रतिवचनं भवति ।। ५१ ।।

अनुवादः—हे सज्जन ! मेरे इस बन्धुकार्यको करनेके लिए क्या तुमने निश्चय किया है मेरी प्रार्थनाका प्रत्याख्यान करनेके कारण तुम गम्भीर हुए हो मैं ऐसी कल्पना नहीं करता हूँ । तुम प्रार्थित होते हुए शब्द नहीं करके भी चातकोंको जल देते हो, क्योंकि याचकोंके अभीष्ट प्रयोजनका सम्पादन करना ही सज्जनोंका उत्तर होता है ।। ५१ ।।

टिप्पणी—मे = "ते मयावेकवचनस्य" इस सूत्रसे अस्मद् शब्दको षष्ठीके एकवचनमें "मम" के स्थानमें "मे' आदेश हुआ है ।

बन्धुकृत्यं=बन्धोः कृत्यम् (ष० त०) । यहाँपर "मे" का "बन्धोः" के साथ अपेक्षा होनेपर भी गमकत्व होनेसे समास हुआ है । वृत्तिविग्रहयोः समानप्रकारोपस्थितिजनकत्वं गमकत्वम्, अर्थात् जहाँपर समासवृत्ति और विग्रह (वृत्त्यर्थके अवबोधक वाक्य) में एक ही प्रकारकी उपस्थिति होती है उसे "गमकत्व" कहते हैं । इसी प्रकारसे "देवदत्तस्य गुरुकुलम्" इत्यादि प्रयोग भी हो जाते हैं ।

व्यवसितं = वि + अव + सो + क्तः । कच्चित् = "कच्चित् कामप्रवेदने" इत्यमरः । "कच्चित्" इस अव्यय पदके अभिप्रायको जतानेमें प्रयोग होता है ।

प्रत्यादेशात्=प्रत्यादेशनं प्रत्यादेशः, तस्मात् । प्रति=आङ् + पूर्वक दिश

धातु "भावे" इस सूत्रसे घञ् प्रत्यय हुआ है । "प्रत्यादेशो निराकृतिः" इत्यमरः । निराकरण अर्थात् ठुकरानेको "प्रत्यादेश" कहते हैं । प्रत्यादेश शब्दसे हेतुमें वा ल्यप्के लोपमें "ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च" इस वार्तिकसे पञ्चमी हुई है ।

महोपाध्याय मल्लिनाथजीने "उक्तिराभाषणं वाक्यमादेशो वचनं वचः ।" इस शब्दार्णवके अनुसार आदेशका अर्थ वचन और प्रत्यादेशका अर्थ "प्रतिवचनः" अर्थात् उत्तर ऐसा अर्थ किया है । अर्थात् मेरी प्रार्थनाको उत्तर देकर स्वीकार करने में तुम्हारी गम्भीरताको समर्थन नहीं कर पाता जो कि तुम प्रार्थित होते हुए शब्द किये विना भी चातकोंको जल देते हो, क्योंकि सज्जनोंका याचकोंके विषयमें उनसे चाहे हुए विषयका सम्पादन करना ही उत्तर है । इस प्रकार यह अर्थ भी ठीक ही है । परन्तु "प्रत्यादेश" पदका बहुत जगहोंमें निराकरणरूप अर्थ ही किया है, इसलिए हमने निराकरण अर्थको स्वीकार किया है ।

धीरतां=धीरस्य भावो धीरता, ताम् । धीर+तल्+टाप् ।

कल्पयामि=कृप्+णिच्+लट्+मिप् ।

याचितः=याच्+क्तः । निःशब्द=निर्गतः शब्दो यस्मात्सः (बहु०) । चातकेभ्यः=सम्प्रदाने चतुर्थी । प्रदिशसि=प्र+दिश+लट्+सिप् । प्रणयिषु=प्रणयः अस्ति एषां ते प्रणयिनः, तेषु । प्रणय+इनिः ।

ईप्सिताऽर्थक्रिया—आप्तुम् इष्ट ईप्सितः, आप्+सन्+क्तः । ईप्सितश्चाऽसौ अर्थ ईप्सिताऽर्थः (क० धा०) तस्य क्रिया (ष० त०) । प्रत्युक्तं=प्रति+वच्+क्तः ।

याचकोंके अभीष्ट प्रयोजनका सम्पादन ही सज्जनोंका उत्तर है इस बातके उदाहरणके तौरपर महोपाध्याय मल्लिनाथने निम्नस्थ मनोहर श्लोकका उद्धरण दिया है :—

"गर्जति शरदि न वर्षति, वर्षासु निःस्वनो मेघः ।
नीचो वदति न कुरुते, न वदति सुजनः करोत्येव ॥"

महाकवि श्रीहर्षने भी अपने महाकाव्य नैषधीयचरितमें ऐसा ही भाव हंसके मुखसे द्योतित किया है :—

"ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम् ।" २-४८ ।

इस श्लोकमें चतुर्थ चरणसे तृतीय चरणके अर्थका समर्थन करनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ ५१ ॥

एतत्कृत्वा प्रियमनुचितप्रार्थनावर्तिनो मे
सौहार्दाद्वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोशबुद्ध्या ।
इष्टान्देशान् विचर जलद ! प्रावृषा सम्भृतश्री-
र्मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—हे जलद ! सौहार्दात् वा, विधुर इति वा, मयि अनुक्रोशवुद्धया वा अनुचितप्रार्थनावर्तिनो मे एतत् प्रियं कृत्वा प्रावृषा संभृतश्रीः (सन्) इष्टान् देशान् विचर । क्षणम् अपि ते विद्युता विप्रयोग एवं मा भूत् ॥ ५२ ॥

व्याख्या–सम्प्रति निजाऽपराधसमाधानपूर्वकं स्वकार्याऽनुष्ठानं प्रार्थमानो यक्षोमेघं विसृजति—एवदिति । हे जलद=हे मेघ!, सौहार्दात्=सुहृद्भावात्, वा=अथवा, विधुर इति=प्रियावियुक्त इति हेतोः, वा=अथवा, मयि=यक्षे विषये, अनुक्रोशवुद्धया=करुणामत्या, अनुचितप्रार्थनावर्तिनः=अयुक्तयाचनाशीलस्य, इन्द्रसचिवं मेघं प्रति दौत्यनियोजकत्वादिति भावः । मे=मम, एतत्=सन्देशहरणरूपं, प्रियम्=अभीष्टं, कार्यमिति शेषः । कृत्वा=विधाय, प्रावृषा=वर्षाभिः, संभृतश्रीः=उपचितशोभः सन्, इष्टान्=स्वाऽभिलषितान्, देशान्=जनपदान्, विचर=विहर, अभीष्टदेशेषु विहरेति भावः ।

सम्प्रति आशिषं प्रतिपाद्य वक्तव्यमुपसंहरति—मा भूदिति ।

क्षणम् अपि=कंचित्कामपि, ते=तव, विद्युता=ताडिता,—पत्नीरूपयेति शेषः ! विप्रयोगः=विरहः, एवं=मद्वत्, मा भूत्=न भवेत् ॥ ५२ ॥

सरलाऽर्थः—हे मेघ ! सुहृद्भावाद्वा, अयं कान्तावियुक्त इति हेतोः, करुणाबुद्धया वा मदीयां प्रियासन्देशप्रापणरूपां प्रार्थनाम् अनुष्ठाय वर्षर्तुना समृद्धशोभः सन् अभीष्टदेशेषु विहर, एवं ते कान्तया विद्युता वियोगो मा भूत् ॥ ५२ ॥

अनुवादः—हे मेघ ! मित्रतासे अथवा "यह प्रियतमासे विछुड़ गया है" ऐसा समझकर वा करुणाबुद्धिसे अनुचित प्रार्थना करनेवाले मेरे इस प्रिय कार्य को करके वर्षा ऋतुके कारण समृद्ध शोभासे सम्पन्न होते हुए तुम अभीष्ट देशोंमें विहार करो। एक क्षण भी तुम्हारा बिजलीके साथ मेरे समान वियोग न हो ॥ ५२ ॥

टिप्पणी—जलद=जलं ददातीति जलदः तत्सम्बुद्धौ (उपपद०) जल+दा+क । सौहार्दात्=शोभनं हृदयं यस्य स सुहृत् (बहु०) "सुहृद्दुर्हृदौ मित्राऽमित्रयोः" इस सूत्रसे यहांपर हृदयके स्थानमें "हृद्" आदेश निपातित

हुआ है । "अथ मित्रं सखा सुहृत्" इत्यमरः । सुहृदो भावः सौहार्दं, सुहृद्+अण्, यहाँपर "हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च" इस सूत्रसे दोनों पदोंके आदि अच्की वृद्धि हुई है ।

विधुरः—विगता धूः विधुरम् यहाँपर "कुगतिप्रादयः" इससे समास हुआ है, "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" इस सूत्रसे धुर् शब्दका समासाऽन्त अप्रत्यय हो गया है । "विधुरं तु प्रविश्लेषे" इत्यमरः । विछुड़नेको "विधुर" कहते हैं । विधुरम् अस्याऽस्तीति विधुरः, "अर्शआदिभ्योऽच्" इस सूत्रसे अच् प्रत्यय हुआ है । विधुर+अच् ।

मयि=वैषयिकी सप्तमी । अनुक्रोशवुद्धया=अनुक्रोशन्ति अनेन इति अनुक्रोशः, "हलश्च" इति करणे घञ् । अनु+क्रुश+घञ् । "कृपा दयाऽनुकम्पा स्यादनुक्रोशोऽपि" इत्यमरः । अनुक्रोशस्य बुद्धिः अनुक्रोशबुद्धिः, तया (ष० त०) ।

अनुचितप्रार्थनावर्तिनः=न उचिता अनुचिता (नञ्०) । अनुचिता चाऽसौ प्रार्थना (क० धा०) । अनुचितप्रार्थनायां वर्त्तते तच्छीलः अनुचितप्रार्थनावर्ती तस्य, अनुचितप्रार्थना+वृत्+तस्+णिनि+ङस् । "मेरे सन्देशको मेरी प्रियाके पास पहुँचाओ" ऐसी प्रार्थना "न हि प्रकृष्टाः प्रेष्यन्ते प्रेष्यन्ते हीतरे जनाः ।" इस उक्तिके अनुसार इन्द्रके सचिव मेघके प्रति अनुचित है यह तात्पर्य है । मे=ममके स्थानमें "मे" आदेश हुआ है । प्रियं=प्रीणातीति प्रियं, तत्, प्री+क । अभीष्ट कर्मको । कृत्वा=कृ+क्त्वा ।

प्रावृषा="स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षाः" इत्यमरः ।

संभृतश्रीः—सम्+भृ+क्त+टाप्=संभृता । संभृता श्रीः यस्य सः (बहु०) । इष्टाम्=इष्+क्तः । देशान्=विहाराऽर्थक वि—उपसर्ग पूर्वमें रहनेवाले अकर्मक चर धातुके योगमें "अकर्मधातुभिर्योगे देशःकालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसंज्ञक इति वाच्यम्" इस वार्तिकसे कर्मसंज्ञा होनेसे द्वितीया विभक्ति हो गई है।

विचर=वि+चर+लोट्+सिप् । वि–उपसर्गपूर्वक चर धातुके अकर्मक होनेपर भी पूर्वोक्त वार्तिकसे यहाँपर "देश" उसका कर्म हुआ है । इसी प्रकार रघुवंशमें भी महाकविने–"अधिज्यधन्वा विचचार दावम्" ऐसा प्रयोग किया है।

क्षणं="कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इससे कालके अत्यन्त संयोगमें द्वितीया विभक्ति हुई है । "निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः ।" इत्यमरः । विद्युता=विद्योतत इति विद्युत्, तया, वि+द्युत्+क्विप् । विप्रयोगः=वि+प्र+युज्+घञ् ।

मा भूत्=यहाँपर माङ्के योगमें भू धातुसे "माङिलुङ्" इस सूत्रसे आशीर्वादके अर्थमें लुङ् और "न माङ्योगे" इस सूत्रसे अट् आगमका निषेध हुआ है ।

इस श्लोकमें लिङ्ग-साम्यसे मेघ और विद्युत्में नायक और नायिकाके व्यवहारका समारोप होनेसे समासोक्ति अलङ्कार है ॥ ५२ ॥

इस प्रकारसे महाकवि कालिदासने कुबेरके शापके कारण बिछुड़े हुए कामार्त्त यक्षसे अचेतन मेघके प्रति सन्देशवार्ताके संकलनरूप मेघदूतका यहींपर समाप्त कर दिया है । किसी मनचले व्यक्तिने इतनेमें सन्तोष न मानकर दो वा कहीं कहींपर चार-पाँच श्लोकोंको भी यहाँपर सन्निविष्ट कर दिया है; जिनमें मेघसे यक्षके सन्देशको उसकी पत्नीके प्रति कहनेका तथा कुवेरसे भी तत्क्षण शापका अन्त करनेका तथा बिछुड़े हुए दम्पतियोंकी सम्मेलनवार्ता भी प्रस्तुत कर दी गई है । अचेतन मेघके सन्देशकथन आदिकी असंभाव्यतासे और कालिदासकी मनोहर शैलीके अभावसे भी महोपाध्याय मल्लिनाथजीने उन प्रक्षिप्त श्लोकोंकी टीका नहीं की है ।

चरित्रवर्धिनी-टीकाकारने उनमें दो श्लोकोंकी व्याख्या की है अतः हम भी उनका उद्धरण और संक्षिप्तरूपसे व्याख्या करते हैं ।

[तं सन्देशं जलधरवरो दिव्यवाचाऽऽचचक्षे
प्राणांस्तस्या जनहितरतो रक्षितुं यक्षवध्वाः ।
प्राप्योदन्तं प्रमुदितमनाः साऽपि तस्थौ स्वभर्तुः
केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु ॥ १ ॥]

अन्वयः—जनहितरतो जलधरवरः तस्या यक्षवध्वाः प्राणान् रक्षितुं दिव्यवाचा तं सन्देशम् आचचक्षे । सा अपि स्वभर्तुः उदन्तं प्राप्य प्रमुदितमनाः तस्थौ; हि उत्तमेषु प्रार्थना केषाम् अभिमतफला न स्यात् ? ॥ १ ॥

यक्षवचनश्रवणाऽनन्तरं मेघकर्म प्रतिपादयति—तं सन्देशमिति ।

व्याख्या—जनहितरतः=लोकोपकारतत्परः, जलधरवरः=मेघश्रेष्ठः, तस्याः=पूर्वोक्तायाः, यक्षवध्वाः=यक्षपत्न्याः प्राणान्=असून्, रक्षितुं=पालयितुं, दिव्यवाचा=लोकोत्तरवाण्या, तं=पूर्वोक्तं, यक्षकथितमिति भावः, सन्देशं=वार्ताम्, आचचक्षे=जगाद, यक्षवध्वा इति शेषः । स्वपतिसन्देशश्रवणसमनन्तरं यक्षवधूः किं चकारेति प्रतिपादयति प्राप्योदन्तमिति ।

सा अपि=यक्षवधूः अपि, स्वभर्तुः=आत्मस्वामिनः, यक्षस्येति भावः ।-

उदन्तं=वृत्तान्तं, प्राप्य=आसाद्य, ज्ञात्वेति भावः । प्रमुदितमनाः=अतिप्रीतचित्ता सती, तस्थौ=स्थिता । पूर्वोक्तमर्थं समर्थयते—केषामिति ।

हि=यतः, उत्तमेषु=महत्सु विषये, प्रार्थना=याचना, केषां=जनानाम्, अभिमतफला=प्राप्तफला, न स्यात्=न भवेत्, सर्वेषामपि महापुरुषेषु कृता प्रार्थना सफला भवतीति भावः ।

सरलाऽर्थः—लोकोपकारशीलो मेघश्रेष्ठः यक्षपत्नीं रक्षितुं यक्षवध्वै यक्ष सन्देशं जगाद । साऽपि स्वभर्तुः कुशलवृत्तान्तं ज्ञात्वा प्रीतचित्ता संजाता, उत्तमेषु विहिता कस्य प्रार्थना फलवती न स्यात् ? ।

अनुवाद:—लोकहित में तत्पर मेघने उस यक्षपत्नीके प्राणोंकी रक्षा करनेके लिए दिव्यवाणीसे यक्षसन्देश बतलाया । वह (यक्षपत्नी) भी अपने पतिका वृत्तान्त पाकर प्रसन्न चित्तवाली हुई । उत्तम पुरुषोंमें की गई प्रार्थना किनकी सफल नहीं होगी ?

टिप्पणी—जनहितरतः=जनेभ्यो हितं, “हितयोगेच” इति चतुर्थी “चतुर्थी तदर्थाऽर्थबलिहितसुखरक्षितैः” इति चतुर्थीतत्पुरुषः । जनहिते रतः (स० त०) ।

जलधरवरः=धरन्तीति धराः धृ+अच् । जलानां धराः (ष० त०) । “जलानाम्” यहांपर “धरः” इस कृत्प्रत्ययान्तके योग में “कर्तृकर्मणोः कृति” इस सूत्रसे कर्मणि षष्ठी हुई है ।

जलं धरतीति ऐसा विग्रह करे “कर्मण्यण्” इस सूत्रसे अण् प्रत्यय करेंगे तो “कुम्भकार” के समान “जलधार”, ऐसा पद बनेगा जिससे छन्दोभङ्ग हो जायगा ।

जलधरेषु वरः (स० त०) ।

यक्षवध्वाः=यक्षस्य वधूः, तस्याः (ष० त०) । रक्षितुं=रक्ष+तुमुन् ।

दिव्यवाचा=दिवि भवा दिव्या, दिव्+यत्+टाप् । दिव्या चाऽसौ वाक् दिव्यवाक्, तया (क० धा०) आचचक्षे=आङ्+चक्षिङ्+लिट् ।

स्वभर्तुः=बिभर्तीति भर्ता, भृ+तृच् । स्वस्या भर्ता, तस्य (ष० त०) । प्राप्य=प्र+आप्+क्त्वा (ल्यप्) ।

प्रमुदितमनाः=प्रकृष्टं मुदितं प्रमुदितम् “कुगतिप्रादयः” इति समासः । प्रमुदितं मनो यस्याः सा (बहु०) । तस्थौ=स्था+लिट्+त । अभिमतफला=अभिमतं फलं यस्याः सा (बहु०) ।

स्यात्=अस्+विधिलिङ्+तिप् ।

इस श्लोकमें चतुर्थचरणमें रहे हुए सामान्य अर्थसे तृतीय-चरणस्थ विशेष अर्थका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

[श्रुत्वा वार्तां जलदकथितां तां धनेशोऽपि सद्यः
शापस्यान्तं सदयहृदयः संविधायाऽस्तकोपः ।
संयोज्यैतौ विगलितशुचौ दम्पती हृष्टचित्तौ
भोगानिष्टानविरतसुखं भोजयामास शश्वत् ॥ २ ॥

अन्वयः—धनेशः अपि जलदकथितां तां वार्तां श्रुत्वा सदयहृदयः अस्तकोपः (सन्) सद्यः शापस्य अन्तं संविधाय विगलितशुचौ हृष्टचित्तौ एतौ दम्पती संयोज्य इष्टान् भोगान् अविरतसुखं शश्वत् भोजयामास ।

व्याख्या—मेघसन्देशश्रवणाऽनन्तरभवं वृत्तान्तमाह—श्रुत्वेति । धनेशः अपि = कुवेरः अपि, जलदकथितां = मेघोक्तां, तां = पूर्वप्रतिपादितां, वार्तां = प्रवृत्तिं, श्रुत्वा = आकर्ण्य, सदयहृदयः = सकरुणचित्तः, अत एव अस्तकोपः = गतक्रोधः सन्, सद्यः = तत्क्षणे, शापस्य = कान्ताविप्रलम्भकारकस्य स्वाक्रोशस्य, अन्तम्=अवसानं, संविधाय=कृत्वा, ततः विगलितशुचौ=अपगतशोकौ, अतः हृष्टचित्तौ=प्रसन्नमानसौ, एतौ=पूर्वोक्तौ, दम्पती= जायापती, यक्षपत्नीं यक्षं च, संयोज्य=मेलयित्वा, इष्टान्=प्रियान्, भोगान्= उपभोगपदार्थान्, अविरतसुखं=सन्तताऽऽनन्दं यथा तथा, शश्वत्=वारं वारं, भोजयामास=अनुभावयामास ।

सरलाऽर्थः—कुवेरोऽपि मेघप्रतिपादितं यक्षसन्देशं श्रुत्वा करुणया शापस्य तत्क्षणमवसानं विधाय एतौ दम्पती संयोज्य निरन्तरमभीष्टसुखभाजौ चकार ।

अनुवादः—कुबेरने भी मेघसे कहे गये उस सन्देशको सुनकर करुणापूर्ण हृदयवाले होनेसे क्रोधको हटाकर उसी क्षण शापका अन्त कर शोकसे रहित अतएव प्रसन्न चित्तवाले उन दम्पतियोंको मिलाकर उन्हें अभीष्ट भोगोंका निरन्तर सुख होनेवाले प्रकारसे अनुभव कराया ।

टिप्पणी—धनेशः = धनानाम् ईशः (ष० त०) । जलदकथितां=जलं ददातीति जलदः, जल+दा+कः (उपपदसमासः) । जलदेन कथिता, ताम् (तृ० त०) श्रुत्वा=श्रु+क्त्वा ।

सदयहृदयः=दयया सहितं सदयम् (तुल्ययोगवहु०) । सदयं हृदयं यस्य सः (वहु०) ।

अस्तकोपः—अस्+क्तः=अस्तः । अस्तः कोपो यस्मात् सः (बहु०) । संविधाय=सं+वि+धा+क्त्वा (ल्यप्) ।

विगलितशुचौ=विगलिता शुक् ययोस्तौ, तौ (बहु०) ।

हृष्टचित्तौ—हृष्+क्तः=हृष्टम् । हृष्टं चित्तं ययोस्तौ, तौ (बहु०) ।

दम्पती=जाया च पतिश्च दम्पती तौ (द्वन्द्वः) । "राजदन्तादिषु परम्" इस सूत्रसे जाया शब्दका दम्भाव और जम्भाव तथा दोनों का निपातन होकर "दम्पती" और "जम्पती" ये दो शब्द बनते हैं ।

"दम्पती जम्पती जायापती भार्यापती च तौ ।" इत्यमरः ।

संयोज्य=सं+युज्+णिच्+क्त्वा (ल्यप्) । इष्टान्=इष्+क्तः । भोगान्=भुज्+घञ् ।

अविरतसुखम्=न विरतम् अविरतम् (नञ्०) ।

"सततानारताश्रान्तसन्ततावितरतानिशम् ।" इत्यमरः ।

अविरतं सुखं यस्मिन् कर्मणि, तद्यथा तथा (वहु०) । यह क्रियाविशेषण है ।

शश्वत्="पुनःसहाऽर्थयोः शश्वत् ।" इत्यमरः ।

भोजयामास=भुज्+णिच्+लिट्+णल ।

॥ इति शिवम् ॥

——:——

संभ्रमभ्रम-निबन्धन कृतौ जातमत्र मम दूषणं भवेत् ।
तद्विहाय गुणमात्रदर्शका मर्षयन्तु विबुधा दयालयाः ॥

श्लोकानुक्रमणिका

(पूर्वमेघः)

श्लोकाः	श्लोकाङ्काः
अद्रेः श्रृङ्गं हरति०	१४
अप्यन्यस्मिञ्जलधर०	३४
(अम्भोबिन्दु०)	(पृ० ४८)
आपृच्छस्व०	१२
आराध्यैनं शरवण०	४५
आसीनानां सुरभित०	५२
उत्पश्यामि त्वयि तटगते०	५९
उत्पश्यामि द्रुतमपि०	२२
कर्तुं यच्च प्रभवति०	११
कश्चित्कान्ताविरह०	१
गच्छन्तीनां रमणवसतिम्०	३७
गत्वा चोर्ध्वं दशमुख०	५८
गम्भीरायाः पयसि०	४०
छन्नोपान्तः परिणत०	१८
जातं वंशे भुवनविदिते०	६
जालोदगीर्णैरुपचितवपुः०	३२
ज्योतिर्लेखावलयि गलितम्०	४४
तं चेद्वायौ सरति सरल०	५३
तत्र व्यक्तं दृषदि चरण०	५५
तत्र स्कन्दं नियतवसतिम्०	४३
तत्रावश्यं वलय०	६१

श्लोकाः	श्लोकाङ्काः
तस्माद्गच्छेरनुकनखलम्०	५०
तस्मिन्काले नयनसलिलम्०	३९
तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबला०	२
तस्य स्थित्वा कथमपि०	३
तस्याः किंचित्करधृतमिव०	४१
तस्याः पातुं सुरगज इव०	५१
तस्यास्तिक्तैर्वनगज०	२०
तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव०	६३
तां कस्यांचिद्भवनवलभौ०	३८
तां चावश्यं दिवसगणना०	१०
तामुत्तीर्य व्रज परिचित०	४७
तेषां दिक्षु प्रथितविदिशा०	२४
त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसित०	४२
त्वय्यादातुं जलमवनते०	४६
त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति०	१६
त्वामारूढं पवनपदवी०	८
त्वामासारप्रशमित०	१७
दीर्घीकुर्वन्पटु०	३१
धूमज्योतिःसलिलमरुताम्०	५
नीचैराख्यं गिरिमधि०	२५
नीपं दृष्ट्वा हरित०	२१
(पत्रश्यामा०)	(पृ० ७३)
पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनम्०	३६

श्लोकाः श्लोकाङ्काः

पाण्डुच्छायोपवनवृतयः० २३
पादन्यासैः क्वणितरशनास्तत्र० ३५
प्रत्यासन्ने नभसि दयिता० ४
(प्रद्योतस्य०) (पृ० ७२)
प्राप्यावन्तीमुदयनकथा० ३०
प्रालेयाद्रेरुपतटति० ५७
ब्रह्मावर्तं जनपदमथ० ४८
भर्तुः कण्ठच्छविरिति० ३३
मन्दं मन्दं नुदति० ९
मार्गं तावच्छृणु० १३
ये संरम्भोत्पतनरभसाः ५४
रत्नच्छायाव्यतिकर इव० १५

श्लोकाः श्लोकाङ्काः

वक्रःपन्था यदपि भवतः २७
विश्रान्तः सन्व्रज वननदी० २६
वीचिक्षोभस्तनितविहग० २८
वेणीभूतप्रतनुसलिला० २९
शब्दायन्ते मधुरमनिलैः० ५६
सन्तप्तानां त्वमसि शरणम्० ७
स्थित्वा तस्मिन्वनचरवधू० १९
(हारांस्तारांस्तरल०) (पृ० ७०)
हित्वा तस्मिन् भुजगवलयम्० ६०
हित्वा हालामभिमतरसाम्० ४९
हेमाम्भोजप्रसवि सलिलम्० ६२

(उत्तरमेघः)

अक्षय्यान्तर्भवननिधयः० ८
अङ्गेनाङ्गं प्रतनु तनुना० ३९
आद्ये बद्धा विरहदिवसे० २९
आधिक्षामां विरहशयने० २६
(आनन्दोत्थम्०) (पृ० १४१)
आलोके ते निपतति पुरा० २२
आश्वास्यैवं प्रथम० ५०
इत्याख्याते पवनतनयम्० ३७
उत्सङ्गे वा मलिनवसने० २३
एतत्कृत्वा प्रियमनुचित० ५२
एतस्मान्मां कुशलिनमभि० ४९
एभिः साधो हृदय० १७

कच्चित्सौम्य० ५१
गत्युत्कम्पादलक० ९
गत्वा सद्यः कलभतनुताम्० १८
जाने सख्यास्तव मयि मनः ३१
(तं० संदेशं जलधर०) (पृ० २५४)
तत्रागारं धनपति० १२
तन्मध्ये च स्फटिकफलका० १६
तन्वी श्यामा शिखरिदशना० १९
तस्मिन्काले जलद यदि सा ३४
तस्यास्तीरे रचितशिखरः १४
तां जानीथाः परिमितकथाम् २०
तामायुष्मन्मम च० [illegible]

श्लोकाः	श्लोकाङ्काः
तामुत्थाप्य स्वजलकणिका०	३५
त्वामालिख्य प्रणयकुपिताम्०	४२
नन्वात्मानं बहु०	४६
निःश्वासेनाधरकिसलय०	२८
नीवीबन्धोच्छ्वसित०	५
नूनं तस्याः प्रबलरुदितो०	२१
नेत्रा नीताः सततगतिना०	६
पादानिन्दोरमृत०	२७
भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे०	३६
भित्त्वा सद्यः किसलयपुटान्०	४४
भूयश्चाहं त्वमपि शयने०	४८
मत्वा देवं धनपतिसखम्०	१०
मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः०	४
मामाकाशप्रणिहितभुजम्०	४३
यत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजा०	७
(यत्रोन्मत्त०)	(पृ० १३९)

श्लोकाः	श्लोकाङ्काः
यस्यां यक्षाः सितमणिमया०	३
रक्ताशोकश्चलकिसलयः०	१५
रुद्धापाङ्गप्रसरमलकैः०	३२
वापी चास्मिन्मरकतशिला०	१३
वामश्चास्याः कररुह०	३३
वासश्चित्रं मधु०	११
विद्युत्वन्तं ललितवनिताः०	१
शब्दाख्येयं यदपि किल ते०	४०
शापान्तो मे भुजग०	४७
शेषान्मासान्विरहदिवस०	२४
श्यामास्वङ्गं चकितहरिणी०	४१
(श्रुत्वा वार्तां जलद०)	(पृ० २८४)
संक्षिप्येत क्षण इव कथम्०	४९
सव्यापारामहनि न तथा	२५
सा संन्यस्ताभरणमबला	३०
हस्ते लीलाकमलमलके	२

Bhawan's Sri Sankaracharya
611
Bharatiya Vidya ★ Mahavidyalaya

hawan's Sri Sankaracharya
611
Mahavidyalay
Bharatiya Vid

119

कतिपय परीक्षोपयोगी प्रश्नोत्तरात्मक ग्रन्थ

ाहित्यदर्पणालोकः (प्रश्नोत्तरात्मकः) । श्री रामजीलाल शर्मा
ाव्यप्रकाश-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) । श्री रामजीलाल शर्मा
न्द्रालोक-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) । मानवल्ली तथा वेताल
शुपालवध-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) १–४ सर्ग । अशोकचन्द्र गौ०
ाख्यकारिकादर्शः (प्रश्नोत्तरात्मक) । श्री राजेन्द्रप्रसाद कोठारी
लङ्कारशास्त्रस्येतिहासः (प्रश्नोत्तरात्मकः) । श्रीपरमेश्वरदीन पाण्डेय
लचम्पू-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) १–५ उच्छ्वास परमेश्वरदीनपाण्डे
दान्सार-प्रदीपः (प्रश्नोत्तरात्मकः) । श्री राजेन्द्रप्रसाद कोठारी
ध्यसिद्धान्तकौमुदी-चन्द्रिका (प्रश्नोत्तरात्मकः)विजयमित्र शास्त्री
ृच्छकटिक-सोपानम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) । डॉ० नरेश झा
णीसंहार-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) । श्री परमेश्वरदीन पाण्डेय
षध-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) । १–५ सर्ग । श्रीरमाशंकर मिश्र
शरूपक-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) । त्रिलोकीनाथ द्विवेदी
ारसिद्धान्तकौमुदी । 'राका'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्यासहित ।
व्याख्याकर—लोकमणि दाहाल । १–४ भाग । प्रत्येक भाग
ारतीय-संस्कृतिः । लोकमणि दाहाल
स्कृतभाषाविज्ञानम् । डॉ० शिवप्रसाद द्विवेदी
न्द्रकलानाटिका-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) श्री परमेश्वरदीन पाण्डे
स्कृतसाहित्येतिहासः (प्रश्नोत्तरात्मकः) । श्री परमानन्द शास्त्री
सगङ्गाधर-हृदयम् । (प्रश्नोत्तरात्मकः) । श्री ज्ञानचन्द्र त्यागी
घुसिद्धान्तकौमुदी-चन्द्रिका (प्रश्नोत्तरात्मकः)विजयमित्र शास्त्री
ादम्बरी-कलाप्रकाशः (प्रश्नोत्तरात्मकः) डॉ० नरेश झा
घुमञ्जूषारहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) । स्वामी रमेश्वर पुरी
ाकुन्तलरहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) श्री त्रिलोकीनाथ द्विवेदी
घदूत-तत्त्वालोकः (प्रश्नोत्तरात्मकः) डॉ० अशोकचन्द्रगौड़ शास्त्री
हाभाष्यनवाह्निकालोचनम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) विजयमित्र शास्त्री
ुक्तावली-प्रकाशः (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली-प्रश्नोत्तरी) ।
श्री राजेन्द्रप्रसाद कोठारी
ौचित्यविचारचर्चा-मञ्जरी (प्रश्नोत्तरात्मकः) डॉ० नरेश झा
ोक्तिजीवितम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) । डॉ० नरेश झा
ारतीयसंस्कृति-सोपानम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) डॉ० शिवप्रसाद द्विवेदी